बनकर देश–देशान्तर भ्रमण करता हुआ किसी धनी वैश्य के घर पर अतिथि बना। उस वैश्य ने इसका अच्छा खानदान समझ कर इससे अपनी पुत्री का विवाह करा दिया। कुछ दिनों तक सुख से ससुराल में रहकर यह धनदत्त एक दासी सहित पत्नी के साथ अपने नगर को चला। रास्ते में पत्नी के सब जेवर लेकर दासी सहित उसको किसी भयङ्कर खन्धक में ढकेल कर वह चला गया। इधर दासी तो मर गयी किन्तु उसकी पत्नी वृक्ष के सहारे जीवित रह गयी। इसके बाद किसी प्रकार निकल कर अपने पिता के घर पहुँची। वहाँ उस पतिव्रता लड़की ने पति का दोष छिपाते हुए कहा कि रास्ते में लुटेरों ने जेवर लूट लिया, दासी को मार डाला तथा वे लोग मेरे पति को बाँधकर ले गये। मैं किसी प्रकार बचकर चली आयी हूँ। उधर उस धनदत्त ने फिर जूए से सब जेवर भी हारकर सोचा कि झूठ ही उसकी लड़की का कुशल समाचार कहकर श्वशुर के घर से कुछ धन ले आऊँ। यह सोचकर वह ससुराल चला। अपने महल के छत पर से दूर में उसे आते देखकर वह पतिव्रता लड़की शीघ्र जाकर रास्ते में ही उससे मिली तथा उसने अपने मिथ्या भाषण का भेद बता दिया। फिर इसने भी आकर श्वशुर से कहा कि मैं भी लुटेरों के हाथ से किसी प्रकार बचकर आ गया हूँ। यह कहकर वह पत्नी के साथ श्वशुर के घर में सुखपूर्वक रहने लगा। एक दिन यह हत्यारा सोयी हुई अपनी पत्नी का सिर काट कर उसका सब आभूषण लेकर भाग गया। हे राजकुमार! इस प्रकार दुष्ट स्वभाव वाला पुरुष होता है।

सुग्गे ने कहा—हर्षवती नगरी में धर्मदत्त नाम का एक महाधनी वैश्य था। उसने अपनी पुत्री वसुदत्ता का विवाह सर्वगुणसम्पन्न समुद्रदत्त नामक वैश्य युवक से करा दिया तथा पुत्री और दामाद को अपने ही घर में रख लिया। कुछ दिनों के लिये समुद्रदत्त अपने पिता के घर गया। इधर यह वसुदत्ता एक युवक से प्रेम करके उसके साथ प्रतिदिन रमण करने लगी। जिस समय समुद्रदत्त आया और उसने रात में वसुदत्ता के साथ एक पलङ्ग पर शयन किया उस समय वसुदत्ता ने निद्रा का बहाना करके उसके साथ सम्भोग नहीं किया। रास्ते का थका हुआ समुद्रदत्त भी सो गया। इसके बाद वसुदत्ता अपने जार के संकेत स्थान पर गयी। उस रात उसका कामुक युवक चोर के भ्रम में राजपुरुषों द्वारा पकड़ा गया तथा शूली के द्वारा मारकर उसी बगीचे में फेंक दिया गया था। वसुदत्ता वहाँ उसको मरा हुआ देखकर बहुत चिन्तित हुई। उसी समय एक प्रेत उस शव पर सवार हो गया और उसने उठकर दाँतों से वसुदत्ता की नाक काट ली।

यह जब उसे क्रोधित जानकर समझाने की चेष्टा करने लगी तब इसने देखा कि वह तो मृतक है। फिर यह अपने शयनगृह में आकर चिल्लाने लगी कि पति ने मेरी नाक काट ली है। इसके बाद वह समुद्रदत्त न्यायालय में पहुँचाया गया और वहाँ उसको इस अपराध से प्राणदण्ड का आदेश हो गया। उसी रात में एक चोर वसुदत्ता के घर में चोरी करने के लिये गया था। उसने कुतूहलवश सम्पूर्ण घटना देखी थी। एक निरपराध को प्राणदण्ड से बचाने के लिये उसने सब वृत्तान्त कह दिया तथा शव के मुख में इसकी कटी हुई नाक भी दिखला दी। फिर न्यायाधीश ने समुद्रदत्त को मुक्त करके वसुदत्ता को कान भी काट कर देश से निकाल दिया। देखें राजकुमार कि स्त्रियाँ कैसी दुष्ट होती हैं।

वेताल ने विक्रम से कहा कि महाराज! वह राजकुमार इसका निर्णय करने में असमर्थ हो गया। अब तुम बताओ कि स्त्रियाँ अधिक दुष्ट स्वभाव की होती हैं कि पुरुष अधिक दुष्ट स्वभाव के होते हैं? विक्रम ने उत्तर दिया कि हे वेताल! पुरुष कहीं कोई दुष्टस्वभाव का पाया जाता है, स्त्रियाँ तो अधिकतर दुष्टस्वभाव की होती ही हैं।

(४) शूद्रक नाम का एक राजा था। उसके यहाँ पाँच सौ अशर्फियाँ प्रतिदिन का वेतन लेता हुआ वीरवर नामक एक क्षत्रिय नौकरी करता था। एक समय कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की दोपहर रात में जबकि भयङ्कर वर्षा हो रही थी, राजा ने दूर में किसी के रोने का शब्द सुना। नौकर का अन्वेषण करने पर वीरवर सामने आया। राजा ने रोदन का पता लगाने का आदेश दिया। वीरवर स्वामी की आज्ञा के अनुसार एक तलवार के साथ चल पड़ा। फिर राजा ने सोचा कि इस भयङ्कर रात के घने अन्धकार में इस अकेले राजपूत को मैंने भेजा है, यह उचित नहीं हुआ। मैं भी इसके पीछे चलूं। यह सोचकर राजा भी तलवार लेकर छिपकर उसका अनुसरण करता हुआ गया। वीरवर ने वन में एक तालाब के पास उस रोनेवाली सुन्दरी स्त्री को देखा और पूछा कि तुम कौन हो तथा क्यों रोती हो? उस सुन्दरी ने कहा कि मैं इस शूद्रक राजा की राजलक्ष्मी हूँ। आज से तीसरे दिन राजा मर जायगा, इस दुःख से रो रही हूँ। वीरवर ने कहा कि राजा के जीवित रहने का कोई उपाय हो तो कहो। लक्ष्मी ने कहा कि केवल एक उपाय है, यदि तुम अपने पुत्र शक्तिधर को आज ही इस मन्दिर की देवी को बलिदान करके चढ़ा दो तो राजा फिर सौ वर्षों तक जीवित रहेगा। यह कहकर लक्ष्मी अन्तर्धान हो गयी। वीरवर ने अपने घर जाकर पुत्र, पुत्री तथा पत्नी को भी जगाया और सब समाचार कह सुनाया। सभी इस पवित्र

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

१४४



॥ श्रीः ॥

वेतालपञ्चविंशतिः

'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेता

व्याख्याकारः

पं० दामोदर झा साहित्याचार्यः

अध्यापक : प्रभुनारायण इण्टर कालेज, रामनगर, वाराणसी



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १

१९६८

कार्य के लिये तैयार हो गये। सभी के साथ वीरवर मन्दिर में गया तथा पुत्र का शिर काट कर देवी को चढ़ा दिया। भाई की दशा देखकर बहिन का भी हृदय फट गया तथा वह मर गयी। निःसन्तान होकर जीना व्यर्थ है, यह सोचकर उसकी पत्नी भी वहीं आग में जलकर मर गयी। अब वीरवर ने भी परिवार के वियोग से जीवन को भार समझ कर अपना शिर काट कर देवी को अर्पण किया। छिप कर सब वृत्तान्त देखने वाले उस राजा ने भी ऐसे कृतज्ञ नौकर के न रहने पर जीना व्यर्थ है यह सोच कर देवी के सामने अपना शिर काटने के लिये तलवार उठायी। तब प्रत्यक्ष होकर देवी ने उसका हाथ पकड़ लिया और कहा कि पुत्र! तुम तो आज से सौ वर्ष जीओगे, क्यों शिर काटते हो? राजा ने कहा कि माता जी! ऐसे कृतज्ञ नौकर के मर जाने पर मेरा जीवन व्यर्थ है। यदि आप मेरे ऊपर प्रसन्न हैं तो इस सपरिवार क्षत्रिय युवक को जिला दीजिये, नहीं तो मैं अपना शिर अवश्य काट लूँगा। देवी ने कहा कि मेरे प्रभाव से यह सपरिवार राजपूत जी जायगा, तुम घर जाओ। यह कहकर देवी अन्तर्धान हो गयी। देवी के प्रभाव से सपरिवार वीरवर भी जीकर अपने घर को गया। राजा भी उन लोगों से अलक्षित रहकर अपने महल में गया।

प्रातःकाल राजा ने वीरवर से रात का समाचार पूछा। वीरवर ने कहा कि—महाराज! वह रोनेवाली स्त्री मुझे देखकर अलक्षित हो गयी, और कोई समाचार नहीं है। राजा ने उसके चरित्र से आश्चर्यित होकर अपने सरदारों की सभा की, जिसमें सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनाकर उस वीरवर को अपने राज्य में से कर्णाटक देश दे दिया।

यह कथा कहकर वेताल ने राजा विक्रम से पूछा कि—महाराज! कहिये कि वीरवर के परिवार के चारों व्यक्ति तथा राजा शूद्रक इनमें सबसे अधिक साहसी तथा उदार कौन है? राजा ने कहा कि—हे वेताल! वीरवर ऊँचे वंश का था तथा स्वामी के लिये नौकर का सब कुछ कर्तव्य ही होता है इसलिये वीरवर के परिवार ने तो केवल अपना कर्तव्य पूर्ण किया था। साहसी और उदार तो राजा शूद्रक था, जिसने वीरवर के पुत्रबलिदान से सौ वर्षों की नवीन आयु प्राप्त करके भी एक कृतज्ञ नौकर के लिये आत्म-बलिदान करने के लिये तैयार होकर उस विषय में प्रयत्न किया।

(५) उज्जयिनी नगरी में पुण्यसेन राजा का हरिस्वामी ब्राह्मण मन्त्री था। उसकी सोमप्रभा नाम की पुत्री अनुपम सुन्दरी थी। उसने माता के द्वारा पिता और भाई को सूचित किया कि ज्ञानी, विज्ञानी या किसी वीर को ही मैं दी जाऊँ, अन्य को नहीं। इसी बीच में वह हरिस्वामी राजा के द्वारा

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, संवत् २०२४

मूल्य : १०-००

Post Box No. 69

Chowk, Varanasi-1 (India)

1968

Phone : 3076

प्रधान कार्यालय—

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

गोपाल मन्दिर लेन,

पो० आ० चौखम्बा, पोस्ट बाक्स ८, वाराणसी-१

किसी कार्य से दक्षिण देश में भेजा गया। वहाँ किसी विज्ञानी युवक ने आकाशचारी रथ बनाकर उसे तीनों भुवनों का भ्रमण कराया जिससे सन्तुष्ट होकर हरिस्वामी ने उस विज्ञानी को सातवें दिन अपनी पुत्री को देना स्वीकार कर लिया। इधर उज्जयिनी में उसकी माता के पास कोई ज्ञानी युवक आया। उसने भूत, भविष्य, वर्तमान सब कुछ ठीक ठीक बताया जिससे सोमप्रभा की माता ने प्रसन्न होकर उसको सातवें दिन अपनी पुत्री देना स्वीकार कर लिया। दूसरी जगह उसके भाई को किसी वीर ने शस्त्रकला दिखला कर प्रसन्न किया जिससे उसने भी उसे सातवें दिन अपनी बहिन देना स्वीकार कर लिया। सातवें दिन तीनों वर विवाह करने के लिये उसके घर पहुँचे। किससे विवाह हो, जब तक यह निर्णय नहीं हो सका था तब तक सोमप्रभा अकस्मात् अदृश्य हो गयी। हरिस्वामी ने ज्ञानी को उसका पता पूछा। ज्ञानी ने कहा कि धूम्रशिख नाम का एक राक्षस माया के द्वारा हरण करके उसे विन्ध्याचल के वन में अपने निवासस्थान पर ले गया है। फिर विज्ञानी के उसी समय बनाये हुए आकाशचारी रथ से सभी विन्ध्याचल के वन में उस राक्षस के निवासस्थान पर पहुँचे। वहाँ उस वीर ने अत्यन्त भयङ्कर युद्ध में उस राक्षस को मार डाला। फिर सोमप्रभा को लेकर सभी उज्जयिनी पहुँचे। वहाँ अपने-अपने कार्य का महत्त्व कहते हुए तीनों विवाह के लिये उद्यत थे। किससे विवाह होवे यह निर्णय नहीं हो सका।

वेताल ने विक्रम से पूछा कि इन तीनों में कौन विवाह का अधिकारी है। राजा ने कहा कि उस वीर से इसका विवाह होना चाहिये जिसने भयङ्कर युद्ध के द्वारा उसे प्राप्त किया है। ज्ञानी और विज्ञानी तो उसके सहायक मात्र हैं। अनेक कार्यों में ज्योतिषी और बढ़ई तो सहायता करते ही रहते हैं, किन्तु फल का भागी तो कार्यकर्ता ही होता है, ज्योतिषी और बढ़ई नहीं।

(६) यशःकेतु राजा की राजधानी शोभावती नगरी थी। उसमें एक सरोवर के तीर में दुर्गा का सुन्दर मन्दिर था। प्रतिवर्ष आषाढ़ शुक्लपक्ष में वहाँ बहुत बड़ा मेला लगता था। एक बार उस मेला में निकट के किसी गाँव का धवल नाम का एक युवक धोबी आया। वहाँ उसने किसी दूसरे गाँव से आई हुई मदनसुन्दरी नाम की लड़की को देखा जो कि एक धोबी की लड़की थी तथा कुमारी थी। इसको देखकर वह धवल मोहित हो गया तथा इसके पिता के नाम गाँव आदि का पता लगाकर अपने घर गया। वहाँ इसके वियोग में वह दुखी रहने लगा। छानबीन करने पर जब धवल के पिता को यह पता लगा तो उसने मदनसुन्दरी के पिता के घर

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA
144

VETĀLAPAÑCHAVIṀS'ATI

EDITED WITH
THE 'PRAKĀSH' HINDĪ COMMENTARY

BY

Pt. DĀMODAR JHĀ, SĀHITYĀCHĀRYA
Teacher, Prabhunārāyaṇa Inter College, Ramnagar, Varanasi

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1 (India)
1968

जाकर अपने पुत्र के लिये मदनसुन्दरी की याचना की। मदनसुन्दरी के पिता ने प्रसन्नता के साथ अपनी पुत्री का विवाह धवल के साथ कर दिया। अब वह धवल मदनसुन्दरी के साथ अपने घर में आनन्द से समय बिताने लगा। कुछ दिनों के बाद मदनसुन्दरी का भाई वहाँ आया तथा अपने घर के एक उत्सव में सम्मिलित होने के लिये बहन तथा बहनोई को साथ लेकर अपने गाँव को चला। रास्ते में उस दुर्गा मन्दिर के पास एक वृक्ष के नीचे अपनी पत्नी और शाले को रखकर धवल दर्शन करने के लिये मन्दिर में गया। वहाँ दुर्गा जी के भक्ति-भाव से प्रेरित होकर उसने दुर्गाजी के सामने तलवार से अपना बलिदान कर दिया। अन्वेषण करते हुए वहाँ आकर बहनोई की स्थिति देखकर शाले ने भी अपना शिर काट लिया। फिर मदनसुन्दरी भी वहाँ आई। पति और भाई की हालत देखकर व्याकुल हो गयी। पहले तो उसने दुर्गाजी की स्तुति की, फिर वह फाँसी लगाकर आत्महत्या करने की चेष्टा करने लगी। इसी समय आकाशवाणी हुई कि—हे पुत्रि ! मैं तुम्हारी भक्ति तथा साहस से प्रसन्न हूँ। तुम दोनों के सिर दोनों धड़ से जोड़ दो, दोनों जी जाँयगे। मदनसुन्दरी ने शीघ्रता से जाकर दोनों सिरों को दोनों धड़ों में लगा दिया। देवी की कृपा से दोनों जी गये। फिर तीनों बातचीत करते हुए रास्ते में जा रहे थे। पीछे पीछे जाती हुई मदनसुन्दरी ने देखा कि उसने भूल से पति का शिर तो भाई के शरीर से तथा भाई का शिर पति के शरीर से जोड़ दिया है। यह देखकर वह घबड़ा गई कि भाई और पति के दोनों मिश्रित शरीरों में से वह अब किसकी पत्नी होगी।

वेताल ने राजा विक्रम से कहा कि इसका निर्णय आप करिये कि वह मदनसुन्दरी अब किस कलेवर की पत्नी होगी ? राजा विक्रम ने कहा कि—हे वेताल ! जिस शरीर में उसके पति का शिर लगा हुआ है, वह उसी की पत्नी होगी। क्यों कि सम्पूर्ण शरीर में शिर प्रधान होता है तथा उसी में पहचानने की शक्ति होती है।

(६) ताम्रलिप्ति नगरी में चण्डसिंह नाम का राजा था। उसके साधारण नौकरों में सत्त्वशील नाम का एक क्षत्रिय नौकर था। एक बार शिकार खेलने के समय घोर वन में राजा के सभी नौकर पीछे छूट गये। अकेला वही सत्वशील राजा का अनुसरण करता हुआ गया। वहाँ भूख-प्यास से पीडित राजा को उसने दो आमले के फल खिलाये तथा कहीं से लाकर पानी भी पिलाया। राजधानी में लौटकर राजा ने उसको ऊँचा पद देकर अपने समीप में रख लिया। कुछ दिनों के बाद राजा ने उसको अपने

First Edition
1968
Price Rs. 10-00

Also can be had of
THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
Publishers & Antiquarian Book-Sellers
P. O. Chowkhamba, Post Box 8, Varanasi-1 (India)
Phone : 3145

विवाह की बातचीत के लिये कुछ ब्राह्मणों के साथ सिंहलद्वीप के राजा के पास भेजा। जहाज पर जाते हुए बीच समुद्र में उसने एक बहुत बड़े सोना के हाथी को पानी से निकलते हुए देखा। उस हाथी ने आकर जहाज का ध्वजा पकड़ लिया और जहाज के साथ ही डूबना प्रारम्भ किया। यह देखकर वह सत्त्वशील जहाज को बचाने के लिये तलवार लेकर हाथी के पीछे समुद्र में कूद पड़ा। समुद्र में गिरते ही वह पाताल पहुँच गया। वहाँ उसने स्वर्ग के समान एक नगरी देखी। उस नगरी के बगीचे के मन्दिर में सैकड़ों सहेलियों के साथ एक सुन्दरी को पूजा करते हुए देखा। उसे देखकर यह काममोहित हो गया। पूजा के पश्चात् वह अपने महल में गयी, यह भी पीछे-पीछे गया। वहाँ एक दासी ने अतिथि-सत्कार के बहाने से एक सरोवर में स्नान करने के लिये इसको कहा। उस सरोवर में डूबते ही यह ताम्रलिप्ति नगरी के सरोवर से बाहर निकला। वहाँ इसने राजा चण्ड-सिंह को सब समाचार कह सुनाया। अब राजा भी इसके साथ वहाँ जाने को तैयार हो गये। फिर उसी प्रकार जहाज से जाकर उन दोनों ने बीच समुद्र में वही सुवर्णमय हाथी को देखा। उसी प्रकार जब हाथी जहाज को पकड़ कर डूबने लगा तब सत्त्वशील तथा राजा दोनों उसके पीछे कूद पड़े। समुद्र में गिरते ही दोनों वहीं पाताल लोक में पहुँचे। जहाँ वह दानवकुमारी सखियों के साथ मन्दिर में पूजा करती थी। पूजा के पश्चात् वह कन्या राजा के स्वरूप से ही प्रभावित होकर प्रार्थनापूर्वक अतिथिसत्कार के लिये राजा को अपने घर ले गयी। अतिथिसत्कार के बाद उसने—हे महाराज! मैं कालनेमि दानव की पुत्री हूँ, मेरे पिता विष्णु के हाथ से मारे गये। इस समय इस नगरी के साथ मुझ कुमारी के पिता आप ही हों—यह कहकर आत्म-समर्पण कर दिया। राजा ने कहा कि यदि तुम मेरी पुत्री हो तो मैं तुमको इस वीर साहसी युवक सत्त्वशील को देता हूँ। कन्या ने यह स्वीकार कर लिया। उस कन्या से विवाह कराकर तथा उस नगरी का उसे राजा बनाकर चण्डसिंह राजा सत्त्वशील के आमले के फलभक्षण के ऋण से मुक्त हुआ। फिर उस कन्या से पूछकर उस सरोवर के मार्ग से अपनी राजधानी में आ गया।

वेताल ने विक्रम से पूछा कि इस चण्डसिंह राजा तथा सत्त्वशील में कौन अधिक साहसी था। राजा ने कहा कि—मेरी समझ में तो सत्त्वशील ही अधिक साहसी था। उसने तो अज्ञात परिस्थिति में ही अपने को समुद्र में डाल दिया था। राजा तो उसके द्वारा सब विषयों को जानकर समुद्र में डूबे थे।

भूमिका

संस्कृत साहित्य तो कथाओं का भाण्डार है। कथासरित्सागर, वृहत्कथामञ्जरी, भोजप्रबन्ध, पञ्चतन्त्र, कथामुक्तावली, कथामञ्जरी, जातकमाला आदि ग्रन्थ तो आख्यायिकाओं के सागर हैं। इनमें ऐसी ऐसी कथाओं का संग्रह किया गया है जिनकी कल्पना आज के कथाकारों के मस्तिष्क से बाहर है। आज के कथाकार तो परिणामरहित अपूर्ण कथाओं की रचना से ही अपना कर्तव्य समाप्त समझते हैं। वे यह नहीं समझते कि हमारी इन अपूर्ण रचनाओं से जो पाठकों का हृदय साकांक्ष रह कर क्लेशित होता है उसका उत्तरदायी कौन है। अस्तु, नवीन युग की धारा पाठकों को उत्कण्ठित करके छोड़ देने में ही अपनी सफलता समझती है। संस्कृत साहित्य की आख्यायिकाएँ कहीं भी इस दोष से दूषित नहीं हैं। वे जिस प्रसङ्ग को लेकर चलती हैं, अपने पाठकों को उसके सुखद परिणाम तक पहुँचा कर अनिर्वचनीय शान्ति पहुँचाती हैं।

उपर्युक्त सागर की ही चौबीस-पच्चीस तरङ्गें वेताल पञ्चविंशति में संगृहीत हैं। ये आख्यायिकाएँ सर्वत्र रोचकता के साथ समाप्त होने पर प्रश्न का स्वरूप धर लेती हैं, पुनः राजा विक्रमादित्य के मुख से उनके यथार्थ उत्तरों का विवेचन करा कर पाठकों को आनन्द-विभोर कर देती हैं।

इसमें भूमिकास्वरूप पहली कथा यह है—जिसका पश्चात् विक्रमादित्य नाम हुआ है उस त्रिविक्रम सेन राजा के दरबार में उस राजा को वेताल का उपहार बनाकर विद्याधरों के चक्रवर्ती राजा होने की सिद्धि चाहने वाला एक शान्तिशील नामक कपटी भिक्षु उस राजा को अपनी ओर आकृष्ट करने के उद्देश्य से अन्दर एक-एक रत्न भर कर प्रतिदिन एक-एक फल राजा को उपायन के रूप में देता था। बहुत दिनों के पश्चात् जब राजा को उन फलों के अन्दर रत्न के रहने का पता लगा तब वे उस भिक्षु की ओर आकृष्ट हुए। फलतः उसने राजा से अपनी साधना में सहायता करने की स्वीकृति ले ली। कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की मध्य रात में श्मशान में मिलने का वचन लेकर वह भिक्षु चला गया। उस रात में राजा के पहुँचने पर उसने वहाँ से दूर श्मशान में ही किसी शीशम के पेड़ में लटके हुए शव को ले आने के लिये कहा। राजा ने शीशम के पेड़ के पास

(८) एक विष्णुशर्मा नामक ब्राह्मण थे। उनके तीन पुत्र थे। ब्राह्मण ने अपने यज्ञ में किसी प्रयोजन के लिये एक कछुआ लाने के लिये तीनों पुत्रों को भेजा। उन तीनों को एक नदी के किनारे एक कछुआ मिला। तीनों ने आपस में ही एक दूसरे को कछुआ उठाकर ले चलने को कहा। बड़े भाई ने कहा कि मैं इस दुर्गन्ध-पूर्ण कछुए को कैसे छुऊँगा ? मैं भोजन के विषय में कितना उग्र-स्वभाव का हूँ, यह जानते नहीं ? दूसरे ने कहा—मैं भी स्त्री के विषय में उग्र-स्वभाव का हूँ। तीसरे ने कहा कि मैं भी तो शय्या के विषय में उग्र-स्वभाव का हूँ। इस प्रकार तीनों झगड़ते हुए एक राजा के पास पहुंचे। राजा ने तीनों की परीक्षा करना स्वीकार किया। पहले तीनों को सुगन्धित चावल के भात, दाल आदि सभी उच्चस्तर के व्यञ्जनों के साथ भोजन दिया गया। भोजन पर बैठते ही बड़े ने उठकर उस सुगन्धित भात में मृतक के जलने का गन्ध बताया। पता लगाने पर यह मालूम हुआ कि श्मशान के समीप के खेत का वह चावल था। दूसरे के शयनकक्ष में इत्र, पाउडर आदि से सजी हुई एक सुन्दरी वेश्या भेजी गयी। उसके शरीर में उसने बकरे का दुर्गन्ध बताया। पता लगाने से यह ज्ञात हुआ कि बचपन में माता के मर जाने से वह वेश्या बकरी के दूध से पालित हुई थी। तीसरा आठ-दश तोसकों को मिलाकर मोटे गद्दे के विस्तरे पर सुलाया गया था। कुछ ही देर में वह रो-रोकर कहते हुए उठा कि मेरे शरीर में कुछ गड़ रहा है। लोगों ने उसकी पीठ में एक बाल धसे हुए की तरह टेढ़ी-मेढ़ी लाल निशान देखी। तोसकों के उलटने पर सातवें तोसक के नीचे एक बाल पड़ा हुआ था, जो कि उसके शरीर में गड़ रहा था।

वेताल ने विक्रम से पूछा कि—महाराज ! कहिये कि इन तीनों में सबसे अधिक उग्र-स्वभाव वाला कौन था ? विक्रम ने कहा कि जिसकी पीठ में बाल धसने का निशान प्रत्यक्ष रूप से देखा गया था, वही सबसे अधिक उग्र-स्वभाव का था ! अन्य दोनों के गन्ध तो किसी दूसरे व्यक्ति से भी ज्ञात हो सकने की सम्भावना है।

(९) उज्जयिनी नगरी में वीरदेव नाम के राजा थे। अनङ्गरति नाम की उनकी पुत्री थी। जब वह राजकुमारी बड़ी हुई तब उसने अपने पिता से कहा कि किसी विज्ञानी से ही मेरा विवाह कराया जाय। यह समाचार पाकर चार युवक उसके पिता के पास कन्यायाचना के लिये आये। एक ने कहा कि मैं जाति का शूद्र हूं। अकेला ही मैं दिन भर में पाँच जोड़े अच्छे वस्त्र बनाता हूँ। एक जोड़ा देवता को तथा एक जोड़ा ब्राह्मण को देता हूँ। एक जोड़ा अपने लिये तथा एक जोड़ा भावी पत्नी के लिये रखता हूँ। अवशिष्ट

पहुँच कर लटके हुए शव को देखा। उस मृत नरशरीर में एक प्रेत निवास करता था। उस प्रेत ने माया के द्वारा बहुत सी बाधाएँ पहुँचायीं। फिर भी राजा ने साहस त्याग नहीं किया।

पेड़ से उतारने पर वह मृतक जीवित के समान रोने लगा। राजा के रोने का कारण पूछने पर फिर वह पेड़ पर लटक गया। राजा ने समझ लिया कि जब तक मैं मौन रहता हूँ, तब तक यह शव मेरे अधीन रहता है और जब मैं मौनभङ्ग करता हूँ तब यह फिर पेड़ पर चला जाता है। इसलिये उसने निश्चय किया कि अब मौन रह कर ही इस सम्बन्ध के सभी कार्य करूँगा। यह निश्चय करके उस राजा ने इस बार मौन रह कर ही उस शव को पेड़ से उतारा तथा कन्धे पर उठा कर उस भिक्षु की ओर चल दिया।

चलते हुए उस राजा से उस मृतक में रहने वाला प्रेत बोला—महाराज! तुम बहुत साहसी हो इसलिये मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हूँ, अतः रास्ते का परिश्रम दूर करने के लिये तुम्हें एक कहानी सुनाता हूँ। वह कहानी प्रश्न के रूप में रहेगी। यदि उसका उत्तर जानते हुए भी तुम नहीं कहोगे तो तुम्हारा शिर सैकड़ों टुकड़ों में चूर हो जायगा, और यदि उत्तर देने के लिये भी बोलोगे तो मैं फिर उसी शीशम के ऊपर चला जाऊँगा। यह कह कर क्रमशः उस प्रेत ने तेइस कथाएं कहीं, तथा शाप के (शिर फटने के) भय से राजा ने तेइसों प्रश्नों के यथार्थ उत्तर दिये। तेइसो बार राजा के मौन भङ्ग करते ही वह मृतक उसी शीशम के पेड़ पर जाकर लटक जाता था। राजा फिर मौन धारण करके उसे ले आते थे। चौबीसवां प्रश्न ऐसा जटिल था कि राजा उसका उत्तर देने में असमर्थ हो गये, फलतः मौन धारण किये ही उस शव को लिये हुए आगे बढ़े। राजा के इस निश्छल-भाव तथा साहस से वह प्रेत बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उस भिक्षु के कपट से बचने के लिये राजा को युक्ति बतलायी जिस युक्ति से राजा ने उस भिक्षु को मार कर उसकी अभिलषित विद्याधरों के चक्रवर्ती राजा होने की सिद्धि प्राप्त की। फिर उस प्रेत ने (वेताल ने) उन्हें वरदान दिया और शंकर जी ने भी प्रकट होकर वरदान दिया, जिसके फल से राजा त्रिविक्रम सेन राजा विक्रमादित्य बन गये तथा इस लोक में स्वर्गीय सुखों का उपभोग करके परलोक में विद्याधरों के चक्रवर्ती राजा हुए। अब उन चौबीस कथारूपी प्रश्नों का तथा उनके उत्तरों का संक्षिप्त कलेवर देख लीजिये।

एक जोड़ा बेचकर भोजनादि की व्यवस्था करता हूँ। इस प्रकार का मैं विज्ञानी हूँ, अतः अपनी पुत्री मुझे दीजिये। दूसरे ने कहा कि मैं जाति का वैश्य हूँ। मैं सभी जानवर तथा पक्षियों के शब्द का अर्थ जानता हूँ। इसलिये मुझ भाषाविज्ञानी को अपनी पुत्री दीजिये। तीसरे ने कहा कि मैं क्षत्रिय हूं। बल तथा शस्त्रविद्या में मेरी बराबरी करनेवाला इस संसार में कोई भी नहीं है। अतएव मुझ शस्त्रविज्ञानी को अपनी पुत्री दीजिये। चौथे ने कहा कि मैं ब्राह्मण हूं। मुझमें इस प्रकार का विज्ञान है कि किसी भी मरे हुए जीव को जीवित बनाकर दिखला सकता हूँ। मैं वीरचर्या में सिद्ध हूं। इसलिये मुझे अपनी पुत्री दीजिये। यह सुनकर तथा चारों के सुन्दर वेश और आकृति देखकर वीरदेव राजा पुत्री के विषय में इन चारों में से एक का निश्चय नहीं कर सके।

वेताल ने कहा कि हे विक्रम, तुम बताओ कि इन चारों में से किसको वह राजकुमारी दी जाय? विक्रम ने कहा कि हे वेताल! आप तो केवल समय बिताने के लिये मेरा मौन भङ्ग करते हैं, नहीं तो यह कौन सा कठिन प्रश्न है? कहिये; उस जुलाहे का काम करनेवाले शूद्र को एक क्षत्रिय राजकुमारी कैसे दी जाय? और वैश्य को भी कैसे दी जाय? जो कि उसमें पशुपक्षी की भाषा का विज्ञान था, वह किस काम में आवेगा? ब्राह्मण होने पर भी जो स्वकर्त्तव्य से च्युत होकर पतित बनकर ऐन्द्रजालिक होने से अपने को वीर मानता है, उससे क्या लाभ? इसलिये शस्त्रविद्या में निपुण वीर क्षत्रिय को ही वह क्षत्रियकुमारी दी जाय।

(१०) अनङ्गपुर नगर में एक बहुत बड़ा धनी अर्थदत्त नाम का सेठ रहता था। उसके पुत्र का नाम था धनदत्त तथा पुत्री का नाम था मदनसेना। यह अत्यन्त सुन्दरी थी। एक दिन उसके भाई के मित्र धर्मदत्त नामक वैश्य युवक ने मदनसेना को देखा और देखते ही वह मोहित हो गया। किसी प्रकार एकान्त में उसे पाकर इस युवक ने उससे संभोग की प्रार्थना की। उसने कहा कि मैं कुमारी हूं और पिता ने समुद्रदत्त सेठ को मुझसे विवाह कराने का वचन दे दिया है। इसलिये तुम शीघ्र यहाँ से चले जाओ। धर्मदत्त ने कहा कि यदि तुम मुझसे संभोग नहीं करोगी तो मैं मर जाऊँगा और तुम्हें यह हत्या लगेगी। इसने कहा कि मेरा विवाह होने दो, पिता को कन्यादान करने का फल मिल जाय, उसके बाद मैं तुमसे मिलूँगी। उसने कहा कि दूसरे से उपभुक्त स्त्री से मैं नहीं भोग करना चाहता हूं। इसने कहा कि—विवाह होने के बाद तथा पति से संभोग करने से पहले मैं तुम्हारे घर जाकर मिलूँगी, यह मैं तुमको सत्य वचन देती हूँ। धर्मदत्त चला गया।

(१) वाराणसी में एक राजा का पुत्र वज्रमुकुट नाम का था। उसने अपने मित्र एक मन्त्री के पुत्र के साथ वन में शिकार खेलते हुए एक सरोवर में स्नान के लिये आयी हुई युवती को देखा। दोनों दोनों के रूप से मोहित हुए। युवती ने एक उत्पल कान पर लिया, दांत दिखाया, एक पद्म शिर पर रख कर अपनी छाती पर हाथ रक्खा। फिर वह घर चली गयी। मन्त्रिकुमार ने व्याकुल राजकुमार को उन संकेतों का अर्थ बताया कि वह कर्णोत्पल राजा के राज्य में दाँत बनाने वाले की पुत्री है, पद्मावती उसका नाम है और उसका हृदय तुझ पर आसक्त है। फिर दोनों वहाँ पहुँचे। भेजी हुई वृद्धा के मुँह में कपूर युक्त अङ्गुलियों के दश चिह्न से दश चाँदनी रात के बाद, फिर तीन अङ्गुलियों के लाल चिह्न से तीन रात रजस्वला रहूँगी, वृद्धा के खिड़की से उतार देने का अर्थ आगमन मार्ग यही है, इत्यादि संकेतों के बाद राजकुमार उसके साथ गुप्त गृह में रहने लगे। मन्त्रिकुमार को अधिक बुद्धिमान समझ कर कहीं इसे ले न जाय ? इस शङ्का से उसने विष मिलाकर पकवान भेजा। बुद्धिमान मन्त्रिकुमार ताड़ गया। बाद में राजकुमार के द्वारा मन्त्रिकुमार ने उसके नाभी के पास त्रिशूल का दाग लगवा कर तथा उसका जेवर लेकर दोनों गुरुशिष्य बन कर साधु के रूप में श्मशान में ठहरे। उसी दिन उस नगर के राजा का छोटा लड़का मर गया था। जेवर चोर के रूप में पकड़े जाने पर उसने बताया कि एक राजकुमार का उपहार चढ़ाने वाली डाकिनी से मैंने जलते हुए त्रिशूल से मार कर छीन लिया है। पद्मावती की नाभि में त्रिशूल का दाग देख कर उसे डाकिनी समझ कर राजा ने उसे नगर से निकाल कर वन में छोड़ दिया। ये दोनों गुप्तरूप से वहाँ जाकर उसे घोड़े पर लेकर अपनी राजधानी चले गये। उधर पद्मावती के माता-पिता पुत्री के शोक से मर गये। वेताल ने प्रश्न किया कि उसके माता पिता के मरने की हत्या राजकुमार, मन्त्रिकुमार तथा पद्मावती इन तीनों में से किस को लगेगी ? राजा ने उत्तर दिया कि वह हत्या इन तीनों स्वार्थान्धों में से किसी को भी नहीं लगेगी, अपि तु गुप्तचर से सच्चाई का पता न लगाने वाले उस कर्णोत्पल राजा को यह हत्या लगेगी।

(२) यमुना के तट पर ब्रह्मस्थल नाम का कोई गाँव था। वहाँ अग्निस्वामी नामक विद्वान् ब्राह्मण थे। उनकी कन्या मन्दारवती परम सुन्दरी थी। इस कन्या से विवाह करने की इच्छा से सर्वगुणसम्पन्न तीन ब्राह्मणकुमार आकर उस विद्वान् की अतिथिशाला में टिक गये। कन्या के पिता कुछ दिनों तक सर्वगुणसम्पन्न इन तीनों में से किसी एक का

फिर शीघ्र ही मदनसेना का विवाह हुआ। रात में जब यह पति की शय्या पर गयी तो पति संभोग के लिये उद्यत हुआ। इसने हाथ जोड़ कर निषेध करते हुए पहले के दिये हुए सत्य का सही-सही वर्णन कह सुनाया और कहा कि मैं जिससे सत्यभ्रष्ट न होऊँ वैसा आदेश दीजिये। मुझे पहले उसके घर से हो आने दीजिये। पति ने सोचा कि यह दूसरे के ऊपर अनुरक्त है। इस प्रकार की स्त्री किसी के रोकने से रुकती नहीं। अनजान में यह विवाह हुआ। इसे तो पश्चात् भी मुझे त्याग करना ही पड़ेगा, तो अभी क्यों न छोड़ दूँ ? यह सोचकर उसने जाने का आदेश दे दिया। जब यह रास्ते में जा रही थी तब एक चोर ने इसको पकड़ लिया। इसने अपना जेवर लेकर छोड़ देने की प्रार्थना उससे की। चोर ने कहा कि मुझे जेवर नहीं चाहिये, मैं तुमसे संभोग करना चाहता हूं। अपनी सम्पूर्ण सच्ची घटना सुनाकर इसने कहा कि अपने बचन का पालन करने के लिये तुम अभी मुझे छोड़ दो तथा यहीं पर कुछ देर प्रतीक्षा करो, मैं अपने वचन के अनुसार धर्मदत्त से संभोग करके शीघ्र ही आती हूं, तब तुमसे संभोग करूँगी। चोर ने इसको सत्य प्रतिज्ञावाली समझ कर छोड़ दिया। इसके बाद मदनसेना धर्मदत्त के घर पहुँची। वहाँ इसकी प्रतिज्ञा पर प्रसन्न होकर इसका धर्म नष्ट न करके इसकी प्रशंसा करते हुए उसने इसे अपने घर के लिए बिदा कर दिया। फिर चोर के पास जाकर इसने कहा कि तुम अपनी इच्छा पूरी करो। चोर ने पहले धर्मदत्त का समाचार पूछा। इसने कहा कि उसने मेरी सच्ची प्रतिज्ञा पर सन्तुष्ट होकर मेरा धर्म नष्ट नहीं किया। तब चोर ने कहा कि ऐसी सत्यवती स्त्री का धर्म मैं भी नष्ट नहीं करूँगा, और न तो तुम्हारा आभूषण लूंगा। तुम सकुशल अपने घर जाओ। इसके बाद यह अपने पति के घर गयी और उसको इसने सभी सच्ची घटना कह डाली। उसका पति भी उसका धर्म सुरक्षित जानकर तथा इसको अपने वचन पर दृढ़ रहने वाली समझ कर प्रसन्न हुआ।

वेताल ने विक्रम से पूछा कि महाराज, कहिये कि मदनसेना के पति, चोर तथा धर्मदत्त इन तीनों में सबसे अधिक त्यागी कौन था ? राजा ने कहा कि हे वेताल ! उसका पति तथा धर्मदत्त ऊँचे वंश के थे, वैसी परिस्थिति में उस प्रकार के त्याग ऊँचे कुल के लोगों के लिये उचित ही है। मेरी समझ में तो सबसे अधिक त्यागी चोर ही था। जिसने निरन्तर पापकर्म करते रहने पर भी बहुमूल्य आभूषण तथा एक सुन्दरी के संभोग का त्याग करने के लिये अपने मन के ऊपर नियन्त्रण किया।

(११) उज्जैन में धर्मध्वज नाम के राजा थे। उनकी इन्दुलेखा,

निर्णय नहीं कर सके। इसी बीच में वह मन्दारवती ज्वर से पीड़ित होकर मर गयी। उसके अग्नि संस्कार में ये तीनों ब्राह्मणकुमार भी साथ गये। संस्कार के पश्चात् तीनों में से एक उसी के भस्म पर कुटी बनाकर शयन करता हुआ समय बिताने लगा। द्वितीय उसकी अस्थियों को लेकर गङ्गा जी में प्रवाह करने के लिये चला गया। तीसरा साधू बन कर देश-देश घूमने लगा। यह तीसरा किसी दूर देश से मरे हुए की भस्म पर मन्त्र के द्वारा जल छिड़क कर जिलाने की विद्या सीख आया और वहाँ आकर उस प्रथम की शय्याभस्म के ऊपर मन्त्र पढ़ कर जल छिड़क दिया जिससे वह मदनसुन्दरी पहले से भी अधिक सुन्दरी होकर जी गयी। तब तक दूसरा भी गङ्गा जी में उसकी अस्थियों को प्रवाहित करके वहाँ उपस्थित हुआ। अब उस मदनसुन्दरी से विवाह करने के लिये इन तीनों में झगड़ा होने लगा। तीसरा कहता था कि मैंने इसे मन्त्र से जिलाया है, इसलिये यह मेरी ही पत्नी होगी। दूसरे का कहना यह था कि मैंने इसकी अस्थियों का गङ्गा में प्रवाह किया है; जिससे मृत्यु उत्पन्न करने वाला इसका पाप नष्ट हो गया। इसी कारण से यह जी गयी। अतएव यह मेरी ही पत्नी होगी। प्रथम कहता था कि यदि मैं इसके शरीर का अवशेष भस्म सुरक्षित नहीं रखता तो तुम मन्त्र से भी नहीं जिला सकते थे। क्योंकि जिलाने का मूल साधन उसका भस्म मैंने सुरक्षित रक्खा, इसलिये यह मेरी ही पत्नी होगी। वेताल ने राजा विक्रम से प्रश्न किया कि आप कहिये कि इस लड़की का इन तीनों में से किस युवक के साथ विवाह होना न्याय-संगत है? राजा ने उत्तर दिया—जिसने उसे मन्त्र से जिलाया, वह पिता का कार्य करने से पिता होगा, पति नहीं। जिसने गङ्गाजी में अस्थिप्रक्षेप किया, वह भी पुत्र का कार्य करने से उसका पुत्र है, पति नहीं। किन्तु जिसने उसके भस्म के साथ शयन करके समय विताया है, केवल उसीने प्रेमी का कार्य किया है, इसलिये यह उसी की पत्नी होगी।

(३) पाटलिपुत्र के राजकुमार के पास एक दिव्यज्ञानी सुग्गा था। उसकी पत्नी के पास उसी प्रकार की दिव्यज्ञानी मैना थी। दोनों एक साथ ही रक्खे गये। एक दिन सुग्गे ने मैना को अपने साथ विवाह कर लेने के लिये कहा। मैना ने कहा कि पुरुष दुष्ट और कृतघ्न होते हैं इसलिये मैं विवाह नहीं करूँगी। सुग्गे ने कहा कि स्त्रियाँ ही दुष्ट होती हैं। दोनों ने राजकुमार को निर्णायक मानकर अपने-अपने पक्ष की कहानियाँ कहीं। मैना ने कहा कि—कामन्दकी नगरी में महाधनी अर्थदत्त नाम का वैश्य था। उसके मरने पर उसका पुत्र धनदत्त जुआ में सब धन हारने से दरिद्र

तारावली तथा मृगाङ्कवती ये तीन पत्नियाँ थीं। तीनों अत्यन्त सुकुमारी थीं। एक बार उद्यान में राजा के साथ क्रीड़ा के समय उसी के शिर पर से एक कमल का फूल इन्दुलेखा की गोदी में गिर गया जिसके आघात से वह बेहोश हो गयी। अनेक उपचार करने के बाद वह होश में आई। दूसरी रात में तारावली के साथ राजा महल में सोये थे। खिड़की से चन्द्रमा की किरणें तारावली के शरीर पर गिर रही थीं जिससे वह रोती हुई व्याकुल होकर उठी। लोगों ने देखा कि चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से उसके शरीर में छाले पड़ गये थे। राजा ने अच्छे वैद्यों से उसकी भी चिकित्सा करवायी। तीसरी मृगाङ्कवती अर्धरात्रि में निःशब्द वातावरण होने पर अपने महल से राजा के भवन के लिये चली। रास्ते में आने के समय में उसने कहीं दूर में धान कूटे जाने से मूसल का शब्द सुना। सुनते ही वह व्याकुल होकर गिर गयी। अनेक उपचार के बाद होश में आने पर उसने बताया कि मूसल के शब्द से मेरे हाथ में चोट लग गयी, अभी मेरे हाथों में बहुत कष्ट है। लोगों ने देखा कि उसके हाथों में छाले पड़ गये थे। राजा ने चिकित्सा करवा कर उसे भी ठीक करवाया।

वेताल ने राजा से पूछा कि महाराज! इन तीनों रानियों में सबसे अधिक सुकुमारी कौन थी। राजा ने कहा कि जिसके हाथों में बिना किसी स्पर्श से केवल शब्द सुनने से ही छाले पड़े हुए देखे गये थे, वही तीसरी रानी तीनों में अधिक सुकुमारी थी। अन्य दोनों में एक को तो फूल का आघात लगा था और दूसरी के शरीर में चन्द्रमा की किरणों के स्पर्श से छाले पड़े थे।

(१२) अङ्गदेश में यशःकेतु नाम का राजा था। उसका दीर्घदर्शी नाम का बहुत बुद्धिमान् मन्त्री था। वह राजा इस मन्त्री के ऊपर राज्य-भार रख कर स्वयं सुन्दरियों से भरे हुए अन्तःपुर में विलास करता था, और यह मन्त्री न्यायपूर्वक सम्पूर्ण राज्य का पालन करता था। एक बार दीर्घदर्शी ने अपनी पत्नी से कहा कि—यह राजा भोग-विलास में लिप्त रह कर स्वयं राज्य का कार्य नहीं देखता है और इसके कारण जनता में मेरा अपवाद फैल गया है कि यह मन्त्री राजा को भोग-विलास में लिप्त करके स्वय राज्य भोग करता है। पत्नी ने युक्ति बतायी कि—तीर्थयात्रा के बहाने कुछ दिनों के लिये आप बाहर चले जाइये। आपके न रहने से राजा स्वयं राज्य का कार्य देखने लगेगा। तब आपका अपवाद दूर हो जायगा। फिर आपके आने पर तो आपका पद सुरक्षित ही रहेगा। मन्त्री पत्नी की बात मान कर राजा के रोकते रहने पर भी तीर्थ-यात्रा के लिये

चला गया। अब राजा को स्वयं कार्यभार सम्हालना पड़ा। कई वर्षों के बाद जब वह मन्त्री लौट आया तब राजा ने उसका बड़ा सम्मान किया तथा फिर राज्यभार उसी के ऊपर सौंप दिया। राजा के पूछने पर मन्त्री ने अपनी यात्रा के प्रसङ्ग का एक आश्चर्यजनक विषय यह बताया कि—जहाज पर जाते हुए मैंने बीच समुद्र में देखा कि एक कल्पवृक्ष पानी के अन्दर से बाहर निकला, और उसके नीचे बैठी हुई एक अत्यन्त सुन्दरी कन्या वीणा बजा कर गीत गा रही थी। उसके रूप से ऐसा मालूम हुआ कि वह कोई गन्धर्वकुमारी थी। कुछ देर के बाद उस वृक्ष के साथ वह कन्या पानी में डूब गयी। जहाज के मल्लाहों से मालूम हुआ कि इसी प्रकार यह लड़की प्रतिदिन जल से बाहर आकर गीत गाती है और डूब जाती है। मन्त्री के इस वर्णन से उस कन्या का सौन्दर्य सुन कर ही वह राजा मोहित हो गया। मन्त्री के ऊपर राज्य भार रख कर राजा साधु के वेष में उसकी प्राप्ति के लिये निकल गया। किसी जहाज से बीच समुद्र में पहुँचने पर उसने भी कन्या को उसी रूप में देखा। जब वह कन्या डूबने लगी तो राजा भी जहाज से कूद कर उसी के साथ डूब गया। पानी के अन्दर एक गन्धर्व का सुन्दर नगर था, वहां उस कुमारी के निवास-मन्दिर में गया। वह गन्धर्वकुमारी भी इस सुन्दर युवक को देख कर मोहित हो गयी। और दोनों का गान्धर्व विवाह हो गया। फिर इस गन्धर्वकुमारी को लेकर राजा अपनी राजधानी में आया। इस सफलता की प्रसन्नता में राजा ने अपने यहां बहुत बड़ा उत्सव करवाया। उस उत्सव में सभी लोग आनन्द-विभोर थे। केवल एक वह दीर्घदर्शी मन्त्री उत्सव में सम्मिलित रहते हुए भी उदास था। रात में जब वह मन्त्री अपनी शय्या पर सोने गया तब एकाएक उसका हृदय फट गया और वह मर गया।

वेताल ने राजा विक्रम से पूछा कि महाराज! कहिये कि—उस मन्त्री के मरने का कौन सा कारण हुआ? क्या वह गन्धर्वकुमारी पश्चात् जाने पर भी राजा को मिल गयी, और उससे पहले वहां पहुँचने पर भी दीर्घदर्शी को वह कन्या नहीं मिली, इसलिये उसका हृदय फट गया? राजा ने कहा—हे वेताल! अच्छे आचरण वाले मन्त्री के ऊपर आप की यह शङ्का ठीक नहीं है। दीर्घदर्शी के मन में तो यह चिन्ता हुई कि यह राजा तो साधारण स्त्रियों के विलास में रत रह कर राज्य के चिन्तन से दूर रहना चाहता था, अब तो गन्धर्वकुमारी मिल गयी है, अब यह राज्य का प्रबन्ध देखेगा, इसकी बात ही क्या? सम्पूर्ण राज्य का सारा प्रबन्ध अब तो मुझे ही करना पड़ेगा। इसी चिन्ता से मन्त्री का हृदय फट गया।

होती है। इसकी जाँच के लिये गुरुने अपनी विद्या का स्मरण किया। किन्तु न तो गुरु की विद्या प्रकट हुई और न शिष्य की। दोनों दुखी हो कर अपने अपने स्थान को गये।

वेताल ने विक्रम से पूछा कि चन्द्र-स्वामी ने कौन सी गलती की थी ? जिससे उसकी असफलता के साथ उस के गुरु की भी विद्या नष्ट हो गई। राजा ने कहा कि अग्नि में प्रवेश करने के पूर्व पारिवारिक मोह में पड़ कर चन्द्रस्वामी ने गुरु के वचन में मिथ्या होने का सन्देह किया था। इसी कारण से इसे सफलता नहीं मिली तथा इसके गुरु की भी विद्या नष्ट हो गई।

(१६) वक्रोलक नाम के नगर में सूर्यप्रभ नाम का राजा था। सभी सम्पदाओं से पूर्ण रहने पर भी उसे पुत्र के मुख-दर्शन का सुख नहीं मिला था। उसी समय में ताम्रलिप्ति नगरी में धनपाल नाम का एक महाधनी वैश्य था। उसकी धनवती नाम की कन्या थी। जब यह युवती हुई, तब वह वैश्य मर गया। उसके सम्पूर्ण धन के ऊपर उस के दायादों ने अधिकार कर लिया। दायादों के भय से एक रात में उसकी पत्नी कुछ गुप्त धन की गठरी बाँध कर अपनी पुत्री धनवती के साथ उस नगरी से निकल गयी। अन्धकार में जाती हुई इसने शूली पर लटकाये हुए किसी चोर को कन्धे से धक्का दे दिया। चोर तब तक जीवित था। धक्का लगने से उसका कष्ट अधिक बढ़ गया। कराहते हुए चोर ने उससे बातचीत की। तथा एक दूसरे को दोनों ने अपना वृत्तान्त कहा। तब तक सबेरा हो गया। धनवती को देख कर चोर ने उसकी माता से कहा कि यह कन्यादान कर के मुझे दे दो , उस बरगद के नीचे गड़ी हुई लाखों की संख्या में अशर्फियाँ मैं इसे देता हूँ। सेठानी ने उससे पूछा कि मरने के समय में तुम्हें पत्नी से क्या प्रयोजन होगा ? उसने कहा कि मुझे कोई पुत्र नहीं है, मेरी आज्ञा से यह किसी के द्वारा पुत्र उत्पन्न करेगी, जो कि मेरा क्षेत्रज पुत्र होगा। सेठानी ने उस के हाथ में 'कन्या देती हूँ' यह कह कर जल दे दिया तथा वह चोर का भी सब धन लेकर वक्रोलक नगर में रहने लगी। वहाँ धनवती एक ब्राह्मण-युवक पर मोहित हो गयी। इसकी माता के द्वारा उसे सूचना मिलने पर एक रात के लिये उसने पाँच सौ अशर्फियाँ माँगी। इसकी माता ने उस युवक को पाँच सौ अशर्फियाँ दीं तथा एक रात के लिये उसको अपनी पुत्री के घर में रख लिया। सबेरा होते ही वह ब्राह्मण चला गया तथा उसी रात धनवती गर्भवती हो गयी। उचित समय पर पुत्र उत्पन्न हुआ। उसी समय सपने में प्रत्यक्ष हो कर शङ्करजी ने धनवती को तथा इसकी

(१३) वाराणसी नगरी में देवस्वामी नाम का महाधनी ब्राह्मण था। हरिस्वामी नाम का उसका एक पुत्र था। पिता के मरने के बाद वह हरि-स्वामी अपने धन का मालिक बन गया। इस हरिस्वामी की लावण्यवती नाम की अत्यन्त सुन्दरी पत्नी थी। एक बार वह हरिस्वामी ग्रीष्मऋतु की चाँदनी रात में अपने महल के छत पर पत्नी के साथ क्रीड़ा के पश्चात् पलङ्ग पर सो गया। उसी समय मदनवेग नाम का गन्धर्व विमान के द्वारा आकाश-मार्ग से कहीं जा रहा था। पति के साथ सोई हुई लावण्यवती को देख कर वह मोहित हो गया। उसकी निद्रितावस्था में ही उसने उसको उठाकर अपने विमान पर रख लिया और वह चला गया। इधर जब हरिस्वामी की नींद खुली तब वह इसे खोजने लगा। रात भर खोजा, दिन में खोजा, कई दिनों तक खोजा, जहाँ तक सम्भव था उसने सब जगह खोजा फिर भी वह नहीं मिली। अन्त में पत्नी के वियोग से व्याकुल होकर उसने अपनी सारी सम्पत्ति ब्राह्मणों और दुखियों को बाँट दी। स्वयं भिक्षुक साधु बन कर पत्नी की खोज के लिये देश-देशान्तर भ्रमण करने लगा। इस प्रकार घूमते हुए एक बार गर्मी के दिनों में दोपहर के समय वह भूख प्यास तथा धूप से व्याकुल हो गया। निकट में ही कहीं एक ब्राह्मण के घर में यज्ञ हो रहा था। वहाँ ब्राह्मण तथा अतिथियों को पायस भोजन दिया जा रहा था। यह ब्राह्मण भी वहाँ जाकर एक स्थान में खड़ा हो गया। उस घर की गृहस्वामिनी ने एक पत्तल में पर्याप्त पायस लाकर इसे दिया और कहा कि इसे कहीं ले जाकर तुम भोजन कर लेना। इस पायस को लेकर वह एक सरोवर के तट में वृक्ष के नीचे पहुँचा। वहाँ पायस को रख कर वह सरोवर में हाथ-पैर धोने के लिये चला गया। तब तक एक साँप को पकड़ कर उड़ता हुआ बाज आकर उसी पेड़ पर बैठ गया। मरते हुए साँप के मुख से विष की लार टपक कर उस पायस में गिर गयी। भूख से पीड़ित हरिस्वामी ने विना देखे ही भोजन कर लिया। भोजन करते ही उसके शरीर में विष का सन्ताप होने लगा। उससे व्याकुल होकर उसने जाकर पायस देने वाली ब्राह्मणी से कहा कि तुम्हारे पायस में विष था। शीघ्र मेरी चिकित्सा कराओ। नहीं तो तुम्हें ब्रह्महत्या लगेगी। उस ब्राह्मणी ने तथा उसके पति ने घबड़ा कर जब तक चिकित्सकों को तथा विषमान्त्रिकों के बुलाने का प्रयत्न किया तब तक हरिस्वामी मर गया।

वेताल ने राजा से पूछा कि—वह ब्रह्महत्या ब्राह्मणी, बाज तथा सर्प इन तीनों में से किसको लगेगी? राजा ने कहा कि हे वेताल! जो विना विचार किये इन तीनों में से किसी को भी ब्रह्महत्या कहेगा, उसीको यह

माता को कहा कि नाभि लगे हुए ही इस पुत्र को एक हजार अशर्फियों के साथ राजा के फाटक के बाहर रख आओ, इस से तुम्हारा कल्याण होगा। इन दोनों ने रात ही में गुप्त रूप से राजा के फाटक के पास एक हजार अशर्फी के साथ उस बालक को रख दिया। उस रात शंकरजी ने राजा को भी स्वप्न में कहा कि फाटक के पास जो बालक है इसका पालन करो। राजा के सोकर उठते ही कर्मचारियों ने सुवर्ण-राशि सहित उस अज्ञात बालक को राजा के सामने उपस्थित किया। राजा अत्यन्त प्रसन्न-चित्त से उसे शम्भु का दिया हुआ पुत्र मान कर तथा चन्द्रप्रभ उसका नाम रख कर उसका पालन करने लगे। क्रमशः वह बालक सर्वगुण-सम्पन्न युवक हुआ। राजा सूर्यप्रभ इसको युवराज बना कर तपस्या करने के लिये काशी चले गये। तपस्या करते हुए राजा ने शरीर-त्याग किया। यह सुन कर युवराज चन्द्रप्रभ ने उनका विस्तृत आयोजन के साथ श्राद्ध किया। अनेक तीर्थों में पिण्डदान करते हुए गया श्राद्ध करने के लिये चन्द्रप्रभ गया क्षेत्र पहुँचे। वहाँ गयाकूप में पितृ-पिण्ड गिराने के समय नीचे से उसे तीन हाथ दिखाई पड़े। राजा चन्द्रप्रभ ने भ्रम में पड़ कर अपने पण्डितों से पूछा कि किस हाथ में पिण्ड गिराऊँ? ब्राह्मणों ने कहा कि महाराज? यह तो चोर का हाथ है, क्योंकि इसमें लाहे की सेन्धमारी है, दूसरा किसी ब्राह्मण का हाथ है क्यों कि उस की अङ्गुली में पवित्री है, तीसरा सोने की अँगूठीवाला यह अवश्य महाराज का हाथ है। किन्तु हम यह नहीं कह सकते हैं कि आप किस हाथ में पिण्ड गिरावें। पण्डितों की यह बात सुन कर राजा चन्द्रप्रभ कुछ भी निर्णय नहीं कर सके।

वेताल ने विक्रम से पूछा कि उस राजा चन्द्रप्रभ को किस हाथ में पिण्ड डालना चाहता था? राजा विक्रम ने कहा कि वह राजा चन्द्रप्रभ चोर का ही क्षेत्रज पुत्र था अतः उसे चोर के ही हाथ में पिण्ड गिराना चाहता था। अन्य दोनों का वह पुत्र नहीं था। यद्यपि वह ब्राह्मण उसका जनक था किन्तु धन लेकर एक रात के लिये उसने अपने आप को बेच लिया था। पालन-पोषण-संस्कारदान आदि के कारण वह राजा सूर्यप्रभ का पुत्र होता, यदि वे उस बालक के साथ रक्खा हुआ धन न लिये होते। राजा सूर्यप्रभ ने प्राप्त किये हुए उसी के धन से उसका पालन किया था। उस की माता जिस के हाथ में सौंपी गयी थी, जिसकी आज्ञा से उस राजा चन्द्रप्रभ का जन्म हुआ, जिस का सम्पूर्ण धन उसकी माता ने ग्रहण किया था, उसी धन से उसने ब्राह्मण-कुमार से बीज खरीदा था, तथा जिसके धन में से कुछ अशर्फियाँ उसकी माता ने उसके पालन के उद्देश्य से उसके साथ रख दी

ब्रह्महत्या लगेगी। क्योंकि वे तीनों निर्दोष हैं। शत्रु के द्वारा मारे जाते हुए पराधीन साँप का क्या दोष होगा। अज्ञानी तथा भूखा पक्षी बाज अपनी भूख मिटाने में लगा हुआ था, वह दूसरे की हानि-लाभ क्या जाने? ब्राह्मणी ने भी तो पवित्र पायस उस को भोजन के लिये दिया था अन्यत्र जाने पर यदि उसमें विष मिल गया तो इसमें ब्राह्मणी का कौन सा दोष है?

(१४) अयोध्या नगरी में वीरकेतु राजा राज्य करता था। उसी समय में उस नगरी में रत्नदत्त नाम का एक महाधनी वैश्य था। उसकी रत्नवती नाम की परम सुन्दरी एक ही कन्या थी। जिसके सौन्दर्य का समाचार सुन कर धनी वैश्य लोग ही नहीं; बड़े-बड़े राजा लोग भी उससे विवाह करने के लिये लालायित हो गये। किन्तु वह कन्या किसी से भी विवाह करना नहीं चाहती थी। विवाह के नाम से ही आत्महत्या करने को तैयार हो जाती थी। यह बात सम्पूर्ण नगरी में फैल गयी तथा उसके पिता इस से अत्यन्त दुखी रहने लगे।

उसी समय में उस नगरी में प्रति रात्रि चोर का उपद्रव होने लगा। रक्षा का प्रबन्ध सुदृढ़ रहने पर भी चोर पकड़ा नहीं जाता था। अन्त में राजा स्वयं तलवार लेकर रात में घूमने लगा। एक रात राजा ने एक चोर को देखा। उसके साथ बातचीत में राजा ने अपने को भी चोर बताया। कोमल बातों से राजा को ठग कर वह चोर अपने निवास-स्थान एक गुफा में ले गया। जब चोर अन्दर गया तब तक उसी की एक दासी ने राजा को सूचित किया कि जल्दी निकल कर भाग जाओ नहीं तो अभी मारे जाओगे। राजा तुरन्त ही बाहर आ कर राजभवन में गये तथा उसी समय सैनिकों के द्वारा वह गुफा घेर ली गयी। चोर ने ऐसी स्थिति में बाहर आकर भयङ्कर युद्ध किया। यद्यपि राजा के सभी सैनिक हार गये, फिर भी राजा ने स्वयं युद्ध कर के उस को जीवित ही पकड़ लिया। दूसरे दिन डुग्गी के साथ उसको नगर में घुमाकर शूली पर चढ़ा देने का आदेश दिया गया। जब वह डुग्गी के साथ नगर में घुमाया जा रहा था, उस समय रत्नवती ने अपने छत पर से उस को देखा और देखते ही उस के ऊपर वह मोहित हो गयी। उसने अपने पिता से कहा कि जो यह चोर शूली पर चढ़ाने के लिये ले जाया जा रहा है इसी का मैंने वरण किया है। इसको राजा से मुक्त करवा कर इसी से मेरा विवाह करवा दीजिये। पिता ने तथा बन्धुओं ने उसको यह दुराग्रह छोड़ने के लिये बहुत कहा, किन्तु वह अपने हठ पर अड़ी रह गयी। पश्चात् उस के पिता ने अपने सर्वस्व के बदले में चोर को मुक्त करने के लिये राजा से निवेदन किया, किन्तु राजा ने किसी भी मूल्य पर इस चोर को जीवित छोड़ने के लिये नहीं स्वीकार किया। तब वह रत्नवती

थीं, उसी चोर का यह क्षेत्रज पुत्र था। अतः उसी चोर के हाथ में पिण्ड गिराना इसके लिये उचित था।

(२०) चित्रकूट नाम का एक नगर था। उसमें चन्द्रालोक नाम का राजा रहता था। सभी संपदाओं के रहते हुए भी अपने अनुरूप पत्नी के न होने से राजा चिन्तित रहता था। एक दिन किसी बन में घोड़े पर चढ़ कर शिकार खेलते हुए राजा ने एक सखी के साथ एक मुनिकन्या को देखा और उसके रूप पर राजा मोहित हो गया। वह कन्या भी इस सुन्दर युवक को देख कर काम-पीड़ित हो गयी। उसकी सखी से पूछने पर राजा को ज्ञात हुआ कि यह मेनका के गर्भ से उत्पन्न हुई कण्व ऋषि की पुत्री है और इन्दीवरप्रभा इसका नाम है। समीप में ही कण्व ऋषि का आश्रम था। राजा इस कन्या की याचना के लिये ऋषि के आश्रम में गये। ऋषि ने राजा को इस कन्या के योग्य वर समझ कर कन्यादान-विधि से इसके साथ राजा का विवाह करा दिया। इसके बाद अपने साथ ही उसी घोड़े पर नव-विवाहिता पत्नी को भी बैठा कर राजा अपने नगर की ओर चला। रास्ते में जाते-जाते सूर्य भगवान् अस्त हो गये। वन में विश्राम-स्थान खोजते हुए राजा एक सघन छायावाले पिप्पल के वृक्ष के पास पहुँचा। वहाँ रातभर चन्द्रमा के प्रकाश में राजा ने नवविवाहिता पत्नी के साथ रमण किया। प्रातःकाल शरीर-कृत्य करने के पश्चात् अपने नगर को चलने के लिये तैयार हुए। तब तक ज्वालामुख नाम का एक महा भयंकर ब्रह्मराक्षस वहाँ पहुँचा। क्रोध से चिल्लाते हुए उसने राजा से कहा कि यह पिप्पल वृक्ष मेरा निवास-स्थान है। तुम दोनों ने यहाँ मैथुन करके इसे अपवित्र कर दिया है। इस लिये अभी ही दोनों को खा जाऊँगा। राजा ने हाथ जोड़ कर अनजान के अपराध की क्षमा माँगी। उस ब्रह्मराक्षस ने कहा कि यदि तुम सात दिनों के भीतर इस प्रकार का एक ब्राह्मण-कुमार मेरे लिये भेंट चढ़ाओ-जो कि सात वर्ष का हो, और जो अपनी इच्छा से प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारे लिये अपने आप का त्याग करे तथा मरने के समय में उसके माता-पिता हाथ-पैर पकड़े रहें और तुम स्वयं उसका वलिदान करो तो मैं तुम्हें छोड़ सकता हूँ, नहीं तो मैं खानदान के साथ तुम्हारा विनाश कर दूँगा। राजा इसका वचन स्वीकार करके उदास होकर राजधानी गया। प्रजाओं के द्वारा नवीन रानी के मिलने के उपलक्ष में किये हुए उत्सव में भी राजा उदास बैठे रहा।

दूसरे दिन राजा ने मन्त्रियों को सब समाचार कह सुनाया। एक बुद्धि-मान्, मन्त्री ने राज्य भर में डुग्गी पिटवा दी कि जो सात वर्ष का ब्राह्मण कुमार स्वेच्छा से राजा के लिये अपने आप का त्याग करेगा उसके माता-

पालकी पर चढ़ कर सती होने के लिये मशान में चोर की शूली के स्थान में गयी। पिता आदि उसके सभी बान्धव रोते हुए उसके साथ वहाँ गये। शूली पर बाँधे हुए उस चोर ने लोगों के द्वारा सब समाचार जान कर और उस वैश्य-परिवार को सामने देख कर पहले तो आँसू बहाया, फिर कुछ देर में मुस्कुरा कर अपना प्राण-त्याग किया। उस चोर का शव ले कर जब वह रत्नवती चिता पर आरूढ़ हुई, तब उसके पातिव्रत से प्रसन्न होकर शिवजी ने आकाशवाणी के द्वारा उसको दो वरदान माँगने के लिये कहा। उसने एक से पिता के लिये पुत्र माँगा और दूसरे वरदान से पति के धर्मिष्ठ हो कर जीवित होने की प्रार्थना की। शंकरजी के वरदान से वह चोर जी गया तथा वह वैश्य-परिवार उत्सव करते हुए अपने घर गया।

वेताल ने राजा से पूछा कि महाराज! मरने से पूर्व उस चोर के रोने तथा हँसने का कारण कहिये। राजाने कहा कि—बिना कारण ही बान्धव बने हुए इस वैश्य-परिवार का मैं कुछ भी उपकार नहीं कर सका, इस कृतज्ञता के भार से वह रोने लगा था तथा क्यों यह सुन्दरी राजाओं को भी छोड़ कर शूली पर चढ़ाने के लिये लाये जाते हुए मुझ चोर के ऊपर आसक्त हुई? अरे स्त्रियों की बुद्धि अति विचित्र होती है, यह सोचकर विस्मित होते हुए वह हँसने लगा था।

(१५) नेपाल देश में शिवपुर नाम का नगर है। वहाँ यशःकेतु नाम का राजा था। उसका प्रज्ञासागर नाम का मन्त्री था जिसके बुद्धि-बल से वह राज्य सुचारु रूप से पालित होता था। उस राजा की शशिप्रभा नाम की अत्यन्त सुन्दरी पुत्री थी। जब वह युवती हुई तब एक दिन वसन्त ऋतु में वसन्तोत्सव देखने के लिये सखियों के साथ बाहर के उद्यान में गयी। वहाँ उत्सव में आये हुए मनःस्वामी नाम के एक ब्राह्मण-युवक ने इसे देखा और वह मोहित हो गया। शशिप्रभा भी उस सुन्दर युवक को देख कर मोहित हो गयी। जब दोनों को दोनों परस्पर देख ही रहे थे उसी समय जनता का मर्दन करता हुआ एक पागल हाथी वहाँ पहुँच गया। शशिप्रभा का परिवार डर से इधर-उधर भाग गया। अकेली शशिप्रभा को भयभीत देख कर मनःस्वामी ने शीघ्र अपनी भुजाओं में उसे उठा कर हाथी से दूर ले जाकर रख दिया। वह भी कृतज्ञता से मनःस्वामी को देखती हुई अपने नौकर आदि के साथ राजभवन में चली गयी।

इधर मनःस्वामी उसके वियोग से व्याकुल हो कर उसकी प्राप्ति का उपाय सोचता हुआ मूलदेव नामक किसी सिद्ध धूर्तराज के पास गया तथा

पिता को १०० गाँव तथा उसके बराबर सोना दिया जायगा। यह सुन कर एक अत्यन्त ज्ञानी सात वर्ष का ब्राह्मणकुमार अपने गरीब माता-पिता को सुखी बनाने के लिये अपने आप का त्याग करने को तैयार हो गया। फिर उसने अपने अन्य भाइयों के द्वारा उन्हें पुत्रवान् बताते हुए अपने माता-पिता को समझा-बुझा कर हाथ-पैर पकड़ने के लिये तैयार किया तथा राजा से धन ले कर उन्हें दे दिया। इसके बाद प्रसन्नता के साथ वह राजा उसके माता-पिता के साथ उस बालक को उस पिप्पल के वृक्ष के पास ले गये। वहां पुरोहित के द्वारा बलिदान की विधि से पूजा करके उसका बलिदान करने के लिये राजा स्वयं तैयार हो गया। उसी समय ताजा शोणित पान करने के लिये जीभ से ओठ चाटता हुआ वह ब्रह्मराक्षस भी प्रकट हो गया। उसके माता-पिता उसके हाथ-पैर पकड़े हुए थे। राजा उसका शिर काटने के लिये तलवार उठाए हुए थे, तब तक वह बालक जोरों से हँसने लगा। उसे हँसते देख कर तथा उसके हँसने का कारण न समझ कर उसके माता-पिता, राजा तथा ब्रम्हराक्षस सभी अपना अपना कार्य छोड़ कर उसके सामने हाथ जोड़ कर उसकी स्तुति करने लगे।

वेताल ने राजा विक्रम से पूछा कि महाराज ! मरने की परिस्थिति में उस बालक के हँसने का क्या कारण था ? स्पष्ट करिये। राजा विक्रम ने कहा कि वह बालक ज्ञानी था। संसार का नियम है कि बालक अपनी रक्षा के लिये माता-पिता को पुकारता है। उससे ऊपर की स्थिति में लोग राजा की शरण लेते हैं, उससे बड़े भय में लोग देवता को पुकारते हैं। इस बालक के तो सभी विपरीत हो गये। धन के लोभ में माता-पिता हाथ-पैर पकड़े हुए थे, अपनी रक्षा के लिये राजा स्वयं मारने को तैयार था, देवयोनि में रहते हुए भी ब्रह्मराक्षस उसको खाने के लिये तैयार था। सभी के शरीर के नश्वर होते हुए भी इन लोगों को अपने शरीर की स्थिरता के मोह से कर्तव्यच्युत होते हुए देख कर वह बालक हँसने लगा था।

(२१) विशाला नाम की नगरी में पद्मनाभ नाम के राजा थे। उसी समय उस नगरी में अर्थदत्त नाम का एक महाधनी वैश्य रहता था। उसकी एक ही पुत्री थी जिसका नाम अनङ्गमञ्जरी था तथा वह अत्यन्त सुन्दरी थी। उसके पिता ने ताम्रलिप्ति नगरी के रहनेवाले मणिवर्मा नामक एक सुन्दर युवक वैश्य से उसका विवाह करा दिया। एकही सन्तान रहने के कारण तथा पुत्री के स्नेह से अर्थदत्त दामाद सहित पुत्री को अपने ही घर में रखने लगा। वह अनङ्गमञ्जरी अपने पति की प्राणों से भी अधिक प्रिया थी किन्तु वह मणिवर्मा इसको कडुए औषध के समान अप्रिय मालूम होता था।

उसको अपनी व्यथा कह सुनाया। वह मूलदेव एक गोली अपने मुँह में डाल कर स्वयं वृद्ध ब्राह्मण बन गया तथा एक गोली उसके मुँह में डाल कर उसे सुन्दरी युवती बना लिया। इसके बाद वह उसके साथ उस राजा के पास गया। राजा को उसने कहा कि अपने पुत्र के विवाह के लिये मैं यह कुमारी लाया हूँ, किन्तु वह कहीं चला गया है। जब तक मैं उसे खोज कर लाता हूँ तब तक आप इसे सुरक्षित रक्खें। राजा भी शाप के भय से उसका वचन मान कर इस सुन्दरीरूपी मनःस्वामी को अपनी पुत्री शशिप्रभा के महल में भेज दिया। क्रमशः विश्वास होने पर इसने अपना परिचय दिया। दिन में तो यह अपने मुँह में गोली डाल कर स्त्रीरूप में रहता था तथा रात में गोली निकालने से अपने स्वरूप में पुरुष हो कर उस शशिप्रभा के साथ रमण करता था।

कुछ दिनों के बाद राजा के शाले मृगाङ्कदत्त ने मृगाङ्कदत्ता नाम की अपनी पुत्री का विवाह प्रज्ञासागर मन्त्री के पुत्र के साथ कर दिया। उस उत्सव में सखीरूपी मनःस्वामी के साथ शशिप्रभा भी मामा के घर गयी थी। वहाँ वह दुलहा स्त्रीरूपी मनःस्वामी को देख कर मोहित हो गया और अपने घर आने पर उसके वियोग से मरणासन्न हो गया। और यह समाचार सबों को मालूम हो गया। यद्यपि शाप के भय से राजा वह ब्राह्मण की थाती कन्या उसे देने को तैयार नहीं थे, किन्तु सबों ने उन्हें समझाया कि पुत्र के मरने पर प्रज्ञासागर मन्त्री भी मर जाँयगे। तथा मन्त्री के मरने पर राज्य का विनाश होगा। अभी इसे यह कन्या दे कर उपस्थित संकट दूर किया जाय पश्चात् ब्राह्मण के आने पर उसका प्रतिकार सोचा जायगा। सबों की बात मान कर राजा ने कन्यारूपी मनःस्वामी को बुलाया। आने पर उसने कहा कि यदि आप दूसरे की मुझ धरोहर को किसी दूसरे को देते हैं तो मैं इस शर्त पर विवाह करूँगी कि विवाह कर के मन्त्रिपुत्र जब तक छ मास तीर्थों में नहीं भ्रमण करेंगे तब तक मैं उनकी शय्या पर नहीं सोऊँगी। मन्त्रिकुमार इसका शर्त स्वीकार करके इसके साथ विवाह करने के बाद इसे अपनी पूर्व पत्नी मृगाङ्कदत्ता के साथ एकही महल में रख कर सुरक्षा का प्रबन्ध करके स्वयं तीर्थ-यात्रा के लिये चला गया। इधर यह मनःस्वामी कुछ ही दिनों में मृगाङ्कदत्ता का विश्वासपात्र बन कर दिन में कन्यारूप में रहते हुए रात में पुरुष बन कर रमण करने लगा। मन्त्रिपुत्र के आने का समय समीप आने पर किसी रात में मृगाङ्कदत्ता के साथ निकल कर अपने घर को चला गया।

इधर धूर्तराज मूलदेव को जब यह समाचार ज्ञात हुआ तब वह गोली के प्रभाव से स्वयं वृद्ध ब्राह्मण बन कर तथा अपने मित्र शशी को पुत्र बना कर

कुछ समय इसी प्रकार बीत गया। एक बार वह मणिवर्मा अपने माता-पिता के दर्शन के लिये ताम्रलिप्ती नगरी को गया। इधर उसकी अनुपस्थिति में अनङ्गमञ्जरी ने अपने महल की खिड़की से कमलाकर नामक युवक को देखा तथा देखते ही यह कामपीड़ित हो गयी। उधर इसका सौन्दर्य देखकर कमलाकर की भी यही दशा हुई। कमलाकर एक मित्र के द्वारा किसी प्रकार घर पहुँचाया गया। अनङ्गमञ्जरी भी अपनी सखी के मुख से उसका नाम आदि परिचय ज्ञात करके विह्वल हो कर किसी प्रकार अपने निवास गृह में लायी गयी। अब कमलाकर का स्मरण करके वह दिन रात सन्तप्त रहने लगी। कुछ दिनों के बाद कमलाकर को अप्राप्य समझकर एक रात अनङ्गमञ्जरी अपने बगीचे में गयी। वहाँ अपने पिता के द्वारा स्थापित दुर्गाजी की प्रार्थना करने लगी कि हे देवि यदि इस जन्म में कमलाकर मुझे नहीं मिला तो दूसरे जन्म में मेरा वही पति होवे। यह प्रार्थना कर के वह फाँसी लगा कर मरने का प्रयत्न करने लगी। तब तक उस को खोजती हुई उसकी सखी मालती वहाँ पहुँच गयी। उसने फाँसी की रस्सी तोड़ कर इसको अनेक प्रकार से समझा बुझाकर स्थिर किया। अनङ्गमञ्जरी ने कहा कि यदि किसी प्रकार कमलाकर से मुझे मिला दो तो मैं जी सकती हूँ, नहीं तो मैं विष खा कर अवश्य मर जाऊँगी। मालती आश्वासन देकर उसको अपने भवन में ले गयी। दूसरे दिन मालती ने कमलाकर के घर जा कर देखा कि अनङ्गमञ्जरी के वियोग से वह भी मरणासन्न है। उसको भी आश्वासन दे कर इसने उसे रात में अनङ्गमञ्जरी के बगीचे के फाटक पर आने को कहा। रात होने पर मालती ने अनङ्गमञ्जरी को बगीचे के आम के पेड़ के नीचे बैठा दिया तथा किसी युक्ति से कमलाकर को बगीचे में प्रवेश करा कर वहाँ भेज दिया। कमलाकर को देखते ही अनङ्गमञ्जरी हर्ष से विभोर हो कर दौड़ती हुई उस के गले से लिपट गयी तथा अत्यन्त हर्ष होने के कारण उसकी साँस रुक गयी और वह मर गयी। इसको इस प्रकार मरी हुई देख कर शोक से कमलाकर भी मर गया। प्रातःकाल उद्यान रक्षकों से समाचार प्राप्त करके दोनों के माता-पिता तथा नगरवासी वहाँ पहुँच गये। दोनों के माता पिता लज्जा और शोक से शिर झुका कर सिसक-सिसक कर रो रहे थे। तब तक ताम्रलिप्ती नगरी से अनङ्ग-मञ्जरी का पति मणिवर्मा भी आगया। लोगों से सारा समाचार सुन कर दौड़ता हुआ वह भी उसी बगीचे में पहुँचा। अपने प्राणों से भी प्रियतमा पत्नी को कमलाकर के साथ मरी हुई देख कर वह भी उसी समय मर गया। अब वहाँ चिल्ला चिल्ला कर रोने वालों के शब्द से बगीचा गूंज उठा।

राजा के पास अपनी धरोहर कन्या लेने के लिये पहुँचा। शाप के भय से राजा ने अपनी पुत्री शशिप्रभा के साथ कन्यादान की विधि से शशी का विवाह करवा दिया। विवाह कर के शशी उस शशिप्रभा के साथ अपने घर आया। वहाँ पहुँच कर मनःस्वामी कहने लगा कि यह मेरी पत्नी है क्योंकि इसके साथ तुमसे पहलेही मैंने गान्धर्व विवाह किया है। शशी कहता था कि इसके पिता ने कन्यादान कर के मेरे साथ इसका विवाह करवाया है। इस प्रकार दोनों में कलह होने लगा।

वेताल ने राजा विक्रम से पूछा कि महाराज! आप अपना निर्णय दीजिये कि यह शशिप्रभा किसकी पत्नी होवे? राजा ने कहा कि यह शशिप्रभा शशी की पत्नी होगी। क्यों कि उसके पिता ने कन्यादान कर के उसे शशी को दिया था। मनःस्वामी ने तो चोरी से उसका संभोग किया था। चोरों का अपहृत धन पर अधिकार नहीं होता है। जब तक धन के स्वामी को पता न लगे तब तक वह उसका उपभोग करता है।

(१६) हिमालय पर्वत पर काञ्चनपुर नाम का नगर था। वहां विद्याधरों के राजा जीमूतकेतु राज्य करते थे। तपस्या के फलस्वरूप जीमूतवाहन नाम का उसका एक पुत्र था। जीमूतकेतु के घर में कुलक्रमागत एक कल्पवृक्ष था जिससे सभी इच्छाएँ पूरी होती थीं। जीमूतवाहन अत्यन्त दयालु था। जब यह युवराज हुआ तब पिता की अनुमति लेकर इसने सभी प्राणियों को सुख देने के लिये कल्पवृक्ष को भेज दिया जिससे तीनो भुवन में सभी सुखी हो गये। इधर कल्पवृक्ष से हीन इस को समझ कर राज्य के लोभ से दायादों ने इसके ऊपर आक्रमण कर दिया। उन्हें राज्य का लोभी जान कर इसने स्वयं अपना राज्य उन्हें दे दिया तथा माता-पिता के साथ यह मलयाचल पहाड़ पर एक कुटी में रहने लगा।

उसी पहाड़ पर विश्वावसु नामका विद्याधरराज रहता था। उसके पुत्र मित्रावसु से जीमूतवाहन की मित्रता हो गयी। एक दिन गौरी-मन्दिर में पूजा के लिये सखियों के साथ आयी हुई इसने एक सुन्दरी को देखा। देखते ही दोनों ही दोनों के ऊपर मोहित हो गये। उसकी सखियों से पता लगा कि यह मित्रावसु की बहिन मलयवती है। दोनों किसी प्रकार अपने-अपने घर गये। मित्रावसु ने अपने पिता से कह कर मलयवती के साथ जीमूतवाहन का विवाह करवा दिया। अब उसके साथ वह अपनी कुटी में सुख से रहने लगा।

एक दिन जीमूतवाहन अपने शाले मित्रावसु के साथ समुद्र के तट पर घूमने गया। वहाँ उसने हड्डियों का समूह देख कर मित्रावसु से पूछा कि ये

उस अर्थदत्त के द्वारा वहीं स्थापित की हुई प्रतिमा में दुर्गाजी थीं। अपने भक्त के घर का यह कारुणिक दृश्य देख कर उन्हें दया हो गयी। दुर्गाजी ने तीनों को जिला दिया। इसके बाद हर्ष और लज्जा से भरे हुए कमलाकर के पिता अपने पुत्र को घर ले गये। इधर अर्थदत्त अपनी पुत्री और दामाद को लेकर अपने भवन में प्रविष्ट हुए।

वेताल ने राजा विक्रम से पूछा कि अनुराग के कारण मरने वाले इन तीनों में सबसे अधिक मूर्खता किस की थी। राजा ने कहा कि इनमें मणि-वर्मा सबसे अधिक मूर्ख था। जो पत्नी को अन्य पुरुष में आसक्त हो कर मरी हुई देख कर भी क्रोध करने के समय में उसके विषय में अनुरक्त हो कर मर गया।

(२२) कुसुमपुर नाम का एक नगर था। उस में धरणी वराह नाम का राजा था। इसके राज्य मे ब्रह्मस्थल नाम का एक गांव था। उसमें विष्णुस्वामी नाम का कोई ब्राह्मण रहता था। इसके चार पुत्र थे। माता-पिता के मरने के बाद वे चारो भाई दरिद्र होकर यज्ञस्थल नामक गांव में मातामह के घर में रह कर अध्ययन करने लगे। मातामह के स्वर्गवासी होने पर मातुलों के द्वारा भोजन वस्त्र आदि में अपमानित होने लगे। इस अपमान के वैराग्य से दुःखी हो कर चारों ने मिलकर विचार किया कि हम चारों अलग-अलग किसी दूर देश में जाकर कोई विशेष गुण सीखें जिससे संसार में प्रतिष्ठा होगी। गुण प्राप्त करने के बाद किसी एक निश्चत स्थान पर निश्चित समय में मिलने का निर्णय करके चारों अलग-अलग दूर देश में गुणोपार्जन के लिये चले गये।

निश्चित समय आने पर निश्चित स्थान में आकर चारों उपस्थित हुए। उनमें से एक ने कहा कि मैंने इस प्रकार का विज्ञान सीखा है, जिससे किसी भी प्राणी की हड्डी मिलने पर उसमें उसके योग्य मांस उत्पन्न कर सकता हूँ। दूसरे ने कहा कि मैं हड्डी-मांस से युक्त प्राणी के शरीर में चमड़ा तथा उचित रोएँ निर्माण कर सकता हूँ। तीसरे ने कहा कि मैं अपने विज्ञान के बल से किसी भी प्राणी के हड्डी मांस चर्म रोम से युक्त शरीर में चक्षु आदि इन्द्रियों का निर्माण कर सकता हूँ। चौथे ने कहा कि मैं किसी भी प्राणी के सभी अवयवों से संयुक्त शरीर में प्राणसंचार कर सकता हूँ। इस प्रकार बात-चीत कर के वे चारों किसी भी प्राणी की हड्डी का अन्वेषण करने के लिये वन में घूमने लगे। दैवयोग से उन लोगों को एक सिंह का कङ्काल मिला। एक ने अपनी विद्या से उसमें मांस उत्पन्न कर दिया। दूसरे ने उसमें चमड़ा तथा

हड्डियाँ यहाँ कैसी हैं ? मित्रावसु ने कहा कि प्राचीनकाल में नागों की माता कद्रू ने एक शर्त में कपट करके गरुड़ की माता विनता को दासी बना लिया। जब गरुड़ को इस कपट का पता लगा तब गरुड़ नागों का शत्रु बन गये तथा पाताल में आक्रमण करके नागों का संहार करने लगे। नागों के स्वामी वासुकि ने इस संहार को रोकने के लिये गरुड़ से कहा कि तुम पाताल में आकर सर्पों का विनाश मत करो मैं तुम्हारे भोजन के लिये एक-एक सर्प मलयाचल पर भेज दिया करूँगा। गरुड़ ने यह वचन स्वीकार कर लिया। तब से प्रतिदिन एक सर्प को वासुकि यहाँ भेजते हैं, तथा गरुड़ उसे खाते हैं। गरुड़ के द्वारा खाये गये उन्हीं सर्पों की ये हड्डियाँ हैं। यह बात सुनकर जीमूतवाहन के मन में बड़ी दया हुई।

उसी समय मित्रावसु उन्हें वहीं छोड़कर अपने घर चला गया। उधर जीमूतवाहन को किसी के रोने का शब्द सुनाई पड़ा। इसने आगे जाकर देखा कि शङ्खचूड़ नाम का एक सर्प गरुड़ के भोजन के लिये वासुकि के द्वारा भेजा गया है। पुत्र की मृत्यु के भय से उसकी माता रो रही है और शङ्खचूड़ उसे धैर्य देते हुए लौटाने की चेष्टा कर रहा है। जीमूतवाहन ने उससे कहा कि तुम घर लौट जाओ, तुम्हारे बदले में मैं अपना शरीर गरुड़ को दे दूँगा। किन्तु शङ्खचूड़ ने अपने को बचा कर एक महात्मा का वध कराना स्वीकार नहीं किया। जब शङ्खचूड़ मरने से पूर्व शिवमन्दिर में दर्शन के लिये गया तब जीमूतवाहन मौका पाकर कपड़े से शरीर ढक कर वध्य-शिला पर लेट गया। उसी समय आकर गरुड़ जीमूतवाहन को चोंच से उठा कर उड़ गये तथा उस मलयपर्वत के शिखर पर बैठ कर उसे खाने लगे। जब उसका करीब आधा शरीर खा गये तब भी उसके मुख की प्रसन्न-मुद्रा देख कर गरुड़ आश्चर्य से क्षुब्ध होकर बैठ गये। तब तक शोणित की बूंदों के सहारे दौड़ता हुआ वहाँ आकर शङ्खचूड़ ने गरुड़ से कहा कि मैं तुम्हारे भोजन के लिये नागराज के द्वारा भेजा गया हूँ, मुझे खाओ। वह तो विद्याधरों का राजा दयामूर्ति जीमूतवाहन है। मुझे बचाने के लिये इसने अपना शरीर तुम्हें दिया है।

इसी बीच में योगबल से यह समाचार जान कर जीमूतवाहन के पिता जीमूतकेतु अपनी पत्नी तथा पुत्रवधू के साथ पहुँच गये। इन लोगों के आने के पश्चात् शरीर विक्षत होने की व्यथा से जीमूतवाहन मर गया। सभी रोने लगे। उसकी पत्नी रो-रो कर दुर्गा जी को उलाहना देने लगी कि हे दुर्गा-जी ! तुमने मुझे वरदान दिया था कि तुम्हारा पति विद्याधरों का चक्रवर्ती राजा होगा, किन्तु आज तो तुम्हारा वचन मिथ्या हो गया। उसी समय

रोएँ बना दिये। तीसरे ने उसमें चक्षु आदि इन्द्रियाँ उत्पन्न कर दीं। इस प्रकार एक सिंह का शरीर तैयार हो गया। चौथे ने ज्यों ही उसमें प्राण-संचार किया कि उस सिंह ने उठ कर सर्व प्रथम अपने जिलाने वाले चारों को मार डाला। इसके बाद वह बन में चला गया।

वेताल ने विक्रम से पूछा कि ये चारों ब्रह्महत्याएँ किसको लगेंगी? राजा ने कहा कि पहले जिन तीनों ने उस सिंह के शरीर में मांस आदि उत्पन्न किया, उनका कोई दोष नहीं है। क्योंकि ये लोग पहले उसे न तो सिंह समझते थे और न उनकी क्रियाओं से कोई हानि हुई। इन ब्रह्महत्याओं का कारण है चौथा भाई जिसने निर्माण किये हुए सिंह के शरीर को देख कर भी भावी विनाश को बिना सोचे ही उसमें प्राणसंचार किया। इसलिये ये चारों ब्रह्महत्याएँ प्राणसंचार करने वाले चौथे भाई को लगेंगी।

(२३) कलिङ्ग देश में शोभावती नाम की नगरी थी। उसमें प्रद्युम्न नाम का राजा था। उसके राज्य में यज्ञस्थल नाम का एक गाँव था। उसमें यज्ञसोम नाम का एक धनी ब्राह्मण था। इस ब्राह्मण को वृद्धावस्था में एक ही पुत्र हुआ जिसका नाम देवसोम था। वह अपने पिता के लालन-पालन से अत्यन्त सुन्दर युवक हुआ। पढ़ लिखकर विद्वान होते ही एक दिन वह तीव्र ज्वर से पीडित होकर मर गया। उसके माता-पिता को रोते-पीटते हुए छोड़-कर रोते हुए उसके सम्बन्धी उस शव को उठाकर जलाने के लिये श्मशान में लाये। उस श्मशान में कुटी बनाकर रहता हुआ वृद्धावस्था के कारण जर्जर शरीर वाला पाशुपतव्रती साधु था। लोगों के रोने के शब्द से वह कुटी से निकल कर उस शव के पास गया। उस मृतक को सुन्दर शरीर वाला युवक देख कर उसने उस शरीर में प्रवेश करने का विचार किया। तब अपनी एकान्त कुटी में जा कर वह योगी मुक्तकण्ठ से रोने लगा। कुछ देर रोने के बाद वह हाथ-पैर आदि का विक्षेप करते हुए नाचने लगा। फिर उस योगी ने यौवन सुख का अनुभव करने की कामना से योगबल के द्वारा अपने जीर्ण शीर्ण शरीर को त्याग कर उस ब्राह्मणकुमार के शरीर में प्रवेश किया। उसी समय वह ब्राह्मण युवक बनाई हुई चिता में से जीवित होकर बाहर आ गया। यह देख कर उसके बन्धु वर्ग 'यह जी गया' इत्यादि वचन कहते हुए हर्ष से विभोर हो गये।

इसके बाद उस ब्राम्हणकुमार के शरीर में स्थित उस योगिराज ने उन बन्धुओं को कहा कि मैं परलोक चला गया था। श्री शंकरजी ने मुझे जीवन-दान देकर महापाशुपतव्रत ग्रहण करने का आदेश दिया है। इसी समय

प्रकट होकर दुर्गा जी ने अमृत छिड़क कर जीमूतवाहन को जिला दिया तथा उसे विद्याधरों का चक्रवर्ती राजा बना दिया। सभी प्रसन्न होकर अपने-अपने स्थान को गये।

वेताल ने राजा विक्रम से पूछा कि-इन शङ्खचूड़-जीमूतवाहन में कौन अधिक साहसी था? राजा ने कहा कि-जीमूतवाहन की दया तो आजन्म सिद्ध थी अतः उसके लिये यह कोई आश्चर्यजनक कार्य नहीं था। इसमें तो शङ्खचूड़ प्रशंसनीय है। जिसने मरण से मुक्त होने पर भी दूसरे को लेकर दूर गये हुए भी अपने शत्रु गरुड़ को दौड़ता हुआ जाकर अपने लिये शरीर-दान करने वाले एक महात्मा को बचाने के लिये अपना शरीर अर्पण कर दिया।

(१७) गङ्गा के तट पर कनकपुर नाम का नगर था। जिसमें यशोधर नाम का राजा था। उसी नगर में एक बहुत धनी वैश्य था। उसकी उन्मादिनी नाम की परम सुन्दरी पुत्री थी। जब वह विवाह के योग्य हुई तब उस वैश्य ने राजा से निवेदन किया कि यह कन्या आप ही के योग्य है इस से आप विवाह कर लें। राजा ने उस कन्या के लक्षणों को देखने के लिये अपने कुछ ब्राह्मणों को भेजा। ब्राह्मणों ने उसे देख कर आपस में विचार किया कि यद्यपि यह कन्या सर्व-सुलक्षणा है किन्तु यदि राजा इस से विवाह करेगा तो वह सतत इसी के संभोग में लिप्त रहेगा, राज्य की चिन्ता वह नहीं कर सकेगा, राज्य नष्ट हो जायगा। इस लिये हम लोग राजा से यही कहें कि यह कुलक्षणा है। अस्तु, ब्राह्मणों ने राजा से कह दिया कि वह कुलक्षणा है। फिर राजा की अस्वीकृति मिलने पर उस वैश्य ने उसी राजा के सेनापति बलधर नामक युवक से उस कन्या का विवाह करवा दिया।

कुछ दिनों के बाद एक दिन वसन्त का महोत्सव देखने के लिये दल-बल सहित राजा बलधर के समीप के ही रास्ते से जा रहे थे। उन्होंने बलधर के महल के छत पर उन्मादिनी को देखा। देखते ही उसके रूप के आकर्षण से राजा मोहित हो गये। राजभवन में आकर पता लगाने पर राजा को ज्ञात हुआ कि वह वही लड़की है जिसके विषय में पण्डितों के कुलक्षणा कहने पर मैंने अस्वीकार किया था। राजा ने उसी समय उसको कुलक्षणा कहने वाले पण्डितों को अपने राज्य से निकलवा दिया और स्वयं दिन-रात उसी का स्मरण करते हुए उसके वियोग की व्यथा से व्यथित होकर अन्न-जल का परित्याग किये निद्राहीन होकर समय बिताने लगा। क्रमशः राजा के विश्वासपात्रों के द्वारा यह समाचार सबों को ज्ञात हो गया। फिर बलधर ने आकर निवेदन किया कि—महाराज! दास की पत्नी होने से वह तो आप की

एकान्त में जाकर मैं वह व्रत ग्रहण करूँगा नहीं तो मेरा जीवन नहीं रहेगा। तुम लोग घर जाओ। मैं भी जाता हूँ। इस प्रकार हर्ष और शोक से भरे हुए वहाँ के बन्धुओं को समझा-बुझाकर उसने घर भेज दिया और स्वयं उस पुराने शरीर को किसी गड्ढे में फेंक कर युवक बनकर किसी दूसरे स्थान पर चला गया।

बेताल ने राजा विक्रम से पूछा कि महाराज कहिये, कि उस युवक के शरीर में प्रवेश करने से पूर्व उस योगी के रोने तथा नाचने का क्या कारण था ? राजा ने कहा कि 'सिद्धि प्राप्त कराने वाले तथा माता-पिता के द्वारा लालन-पाल किये हुए इस शरीर को आज मैं छोड़ता हूँ' इस भावना से शरीर सम्बन्धी कठिनाई से त्यागे जाने वाले मोह के कारण पहले तो उसने रोदन किया था और नवीन देह में प्रवेश करके अधिक साधना कर सकूँगा, इस रूप में यौवनलाभ के हर्ष से वह नाचने लगा था।

(२४) दक्षिण देश में धर्म नाम के राजा थे। मालवराज की पुत्री चन्द्रावती उनकी पत्नी थी और लावण्यवती नाम की एक पुत्री थी। जब राजा इस कन्या के विवाह की चर्चा करने लगे, उसी समय इनके दायादों ने मन्त्रिमण्डल को मिला कर इनका राज्य छीन लिया। अब ये राजा कुछ मूल्यवान धन की गठरी ले कर पत्नी और पुत्री के साथ श्वशुर के नगर की ओर मालव देश को चले तथा रात ही में अपने राज्य से बाहर निकल गये। रास्ते में बिन्ध्याचल के वन में चलते हुए ये लोग भीलों की पल्ली के पास पहुँचे। वहाँ दूर ही से इनके वस्त्राभूषणों को देख कर धन के लोभ में इन्हें लूटने के लिये कुछ भील दौड़ पड़े। उन्हें आते देख कर राजा पुत्री सहित पत्नी को किसी कुञ्ज में छिपा कर स्वयं उनसे युद्ध करने लगे तथा आये हुए सबों को राजा ने मार डाला। यह देखकर उस पल्ली के सभी भीलों ने एक ही साथ आ कर राजा को घेर लिया तथा युद्ध में उन्हें मार डाला। राजा के वस्त्र आभूषण लेकर भील लोग अपनी पल्ली की ओर चले गये। कुञ्ज में छिपी हुई रानी राजा को मरे हुए देख कर भय से विह्वल हो कर पुत्री के साथ दूसरी ओर चली। शोक, परिश्रम तथा भूख से व्याकुल हो कर वह एक सरोवर के पास पेड़ की छाया में बैठ गयी।

उस वन के समीप ही रहने वाला चण्डसिंह नाम का कोई बड़ा आदमी सिंह पराक्रम नाम के अपने पुत्र के साथ दो घोड़ों पर सवार हो कर उस दिन उसी वन में शिकार खेलने के लिये आया था। उसने रास्ते की धूल में शुभरेखाओं से युक्त दो स्त्रियों के पैरों की पंक्तियाँ देखीं। देख कर उसने

दासी है परायी स्त्री नहीं है और मैं स्वयं दे रहा हूँ, इसलिये इसे ग्रहण करिये। अथवा मैं इसको इस मन्दिरमें छोड़ देता हूँ, तब उसका ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है। इस प्रकार सेनापति के द्वारा हठ किये जाने पर कुछ क्रोधित होकर राजा ने कहा कि मैं राजा होकर कैसे इस प्रकार का पाप करूँ ? मेरे द्वारा धर्म की मर्यादा भङ्ग किये जाने पर कौन अपने धर्म पर रहेगा ? तुम मेरे भक्त हो क्यों मुझे पाप-कार्य में लगाना चाहते हो ? यदि तुम धर्मपत्नी का त्याग करोगे तो मैं तुम्हें दण्ड दूँगा। इस प्रकार बलधर को फटकार कर राजा उन्मादिनी की वियोग-व्यथा से बेहोश होकर मर गये। सेनापति भी स्वामी को मरे हुए देखकर स्वामिभक्ति के कारण अग्नि में प्रवेश करके मर गया।

वेताल ने राजा विक्रम से पूछा कि इस राजा तथा सेनापति में कौन अधिक श्रेष्ठ था ? विक्रम ने कहा कि मेरे दृष्टिकोण में तो राजा ही अधिक श्रेष्ठ था। क्यों कि सामान्यतः राजा लोग धन के घमण्ड से अन्धे होकर भोग-विलास के लिये धर्म की अवहेलना करते हैं। इस राजा ने तो वियोग-व्यथा से प्राण–त्याग किया किन्तु धर्म की मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं किया। बलधर ने तो केवल अच्छे वंश के राजभक्त सेवक के योग्य कार्य किया था। अपने प्राणों के द्वारा भी स्वामी की रक्षा करना सेवकों का कर्तव्य ही है।

(१८) उज्जयिनी नाम की नगरी में चन्द्रप्रभ नाम का राजा था। उसका देवस्वामी नाम का ब्राह्मण मन्त्री था। उस मन्त्री का पुत्र चन्द्र-स्वामी जुआड़ी था। एक दिन चन्द्रस्वामी जुआड़ियों की मण्डली में जुआ खेलता हुआ अपना सब धन हार गया। तब उसने मौखिक अन्य धन की बाजी लगा कर खेल किया, उस में भी वह हार गया। जब वह हारी हुई बाजी का धन नहीं दे सका तब जुआड़ियों ने उसे बाँध कर डण्डों से मारना प्रारम्भ किया। कुछ ही देर पिटाई के बाद और ताड़न के भय से साँस रोक कर उसने मृतक का स्वरूप धारण किया। जुआड़ियों ने उसे मरा हुआ जान कर निवस्त्र कर के जंगल में फेंक दिया। उनके चले जाने पर इसने उठकर कहीं छिप कर दिन बिताया। रात में भोजन की खोज करते हुये यह एक महात्माकी कुटी में पहुंचा। उसने इसका अतिथि-सत्कार करने के लिये अपनी इष्ट-सम्पादिनी विद्या का स्मरण किया। स्मरण करते ही वह विद्या प्रकट रूप से वहाँ उपस्थित हुई। महात्मा ने उसे इसका अतिथि-सत्कार करने का आदेश दिया। तुरन्त ही वहाँ सभी उपभोग-सामग्रियों के सहित सहस्रों युवतियों से भरा हुआ एक सुन्दर नगर प्रकट हुआ। वे युवतियाँ चन्द्रस्वामी को अपनी स्वामिनी के पास ले गयीं। वहाँ इसने स्नानानुलेपन दिव्य भोजन

अपने पुत्र सिंहपराक्रम से कहा कि पुत्र ! शुभ रेखाओं से युक्त दो स्त्रियों के पैरों की पंक्तियाँ दिखाई देती हैं। चलो इनका अन्वेषण करें। यदि ये मिल जाँयगी तो दोनों में जो पसन्द हो उस से तुम विवाह कर लेना। पुत्र ने कहा कि पिताजी ! इन में से जिसके ये छोटे-छोटे पैर हैं उससे मैं विवाह कर लूँगा और जिसके ये बड़े-बड़े पैर हैं उससे आप विवाह कर लें, क्योंकि मेरी माता जी स्वर्ग चली गई हैं। पिता ने कहा कि वत्स ! तुम्हारी माता तो मानो स्वर्गलोक की स्त्री थी। पता नहीं मुझे किस पुण्य से मिली थी। उस प्रकार की पत्नी के मर जाने पर अब मुझे किसी दूसरी स्त्री को पत्नी बनाने का विचार नहीं है। पुत्र ने कहा कि पिताजी ! दैवाधीन बातों को छोड़िये। पत्नी के बिना गृहस्थाश्रम शून्य रहता है। इसलिये मैं अपने प्राणों की शपथ देता हूँ कि आप इन बड़े पैरों वाली स्त्री से अवश्य विवाह करें और मैं इन छोटे पैरों वाली स्त्री से विवाह करूँगा। इस प्रकार पुत्रके द्वारा शपथबद्ध हो कर वह चण्डसिंह पुत्र के साथ उन स्त्रियों को खोजने के लिये चला।

खोजते हुए जब ये सरोवर के पास पहुँचे तब वे दोनों लुटेरों की शंका से भयभीत होकर खड़ी हो गयीं। चण्डसिंह नम्रता के साथ घोड़े से उतर कर उनके पास गये तथा उनका परिचय आदि समाचार पूछने लगे। रानी चन्द्रावती ने इन्हें सभ्य मनुष्य जान कर अपना सब समाचार कह सुनाया। सब सुनने के पश्चात् चण्डसिंह ने पहले के किये हुए निर्णय के अनुसार अपना प्रस्ताव सुनाया। रानी बेचारी अनाथ थी इसलिये उसने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। पुत्र के दिये हुए शपथ के अनुसार बड़े पैरों वाली राजकुमारी लावण्यवती से चण्डसिंह ने विवाह किया तथा छोटे पैरों वाली रानी चन्द्रावती से उसके पुत्र सिंहपराक्रम ने विवाह किया। इस प्रकार पहले की पुत्री माता अब नये सम्बन्ध से सास पतोहू बन गयीं। कुछ समय बीतने पर इन पुत्री माता रूपी पत्नियों से पिता पुत्र-रूपी पतियों के द्वारा बहुत सी कन्याएँ तथा बालक उत्पन्न हुये।

वेताल ने राजा विक्रम से पूछा कि महाराज ! कहो कि उन पुत्री तथा माता के गर्भ से इन पुत्र तथा पिता के द्वारा जो बालक उत्पन्न हुए उनमें परस्पर कौन सम्बन्ध होगा ? यदि जानते हुए भी नहीं कहोगे तो पहले का दिया हुआ शाप याद करो।

राजा त्रिविक्रमसेन बहुत सोचने पर भी कुछ भी उत्तर देने में असमर्थ हो कर चुप रह कर ही आगे चलते गये। राजा को उत्तर देने में असमर्थ जानकर उस प्रेत ने सोचा कि इस राजा ने निश्छल भाव से तेइस

के पश्चात् उस सुन्दरी के साथ रमण किया। रमण से परिश्रान्त होकर वह उसी के साथ सो गया। प्रातः काल निद्रा भङ्ग होने पर उसने अपने को उस साधु की कुटी में पाया। वहाँ मुस्कुराते हुए उस महात्मा को इसने हाथ जोड़ कर फिर उसी सुन्दरी के संभोग की प्रार्थना की। महात्मा ने इसे कहा कि जब तक तुम यहाँ रहोगे प्रतिरात्रि तुमको वही सुख मिलेगा। अब यह चन्द्रस्वामी प्रतिरात्रि उसी स्वर्गीय सुख का उपभोग करता हुआ महात्मा की कुटी में रहने लगा।

एक दिन उसने उस महात्मा से कहा कि महाशय! यदि आप मेरे ऊपर प्रसन्न हैं तो यह विद्या मुझे भी सिखा दीजिये। उस साधु ने कहा कि मेरी सिद्धि से तो तुम्हें सुख मिलता ही रहेगा क्यों इस सिद्धि की कठिनाई में पड़ोगे? इसकी सिद्धि बहुत कठिन है। पानी में डूब कर मन्त्र जप करना पड़ता है। यह विद्या साधक के ऊपर अनेक प्रकार की माया फैलाती है। साधक एक नया शरीर प्राप्त करके अपना स्वरूप, मन्त्रजप तथा गुरु को भी भूल जाता है। उस माया के प्रवाह में यदि साधक अपने को स्मरण करके वहाँ अग्नि में प्रवेश कर जाय तो यह विद्या सिद्ध होती है। यदि साधक थोड़ी भी गलती करे तो गुरु की भी विद्या नष्ट हो जाती है। चन्द्रस्वामी ने कहा कि मैं सब कुछ कर लूँगा, आप निश्चिन्त रहें।

तब नदी के किनारे जाकर उस साधु ने उसे मन्त्र का उपदेश दिया। गुरु को प्रणाम करके चन्द्रस्वामी पानी में डूबकर मन्त्र जपने लगा। उस विद्या की माया से इसने अपना स्वरूप आदि भूलकर एक बालक के रूप में एक नगर में प्रवेश किया। वहाँ इसके माता-पिता भाई-बन्धु घर-सम्पत्ति सब कुछ हुए। क्रमशः पत्नी, पुत्र-पुत्री आदि भी। इसके बाद गुरु की प्रबोधिनी विद्या से इसको अपना पूर्व जन्म तथा गुरु और मन्त्र-जप सभी का स्मरण हो गया। गुरु की आज्ञा मान करके यह अग्नि में प्रवेश करने को तैयार हो गया। इधर इसके माता-पिता, पत्नी-पुत्र आदि सम्पूर्ण माया-रचित परिवार रोने लगा। इस परिवार को रोते देख कर यह सोचने लगा कि मेरे अग्नि-प्रवेश करने पर दुःख से यह सम्पूर्ण मेरा परिवार मर जायगा। उधर गुरु का वचन सत्य होगा या मिथ्या? पता नहीं। तो घर लौट जाऊँ या अग्नि में प्रवेश करूँ? फिर इसने सोचा कि उतने प्रभावशाली गुरु का वचन अवश्य सत्य होगा। यह सोचकर इसने अग्नि में प्रवेश किया। इसे आग शीतल मालूम हुई। उसी समय यह नदी से बाहर निकल आया। जहाँ इसके गुरु बैठे हुए थे। इसने प्रसन्नतापूर्वक गुरु को प्रणाम किया तथा आदि से अन्त तक सब वृत्तान्त कह सुनाया। गुरु ने कहा कि मालूम होता है कि तुमने कुछ गलती की है। नहीं तो आग क्यों शीतल हुई? इस साधन में तो आग शीतल नहीं

प्रश्नों का यथार्थ उत्तर दिया है। अब इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ है। अस्तु इसके साहस से मैं प्रसन्न हूँ। अत एव उस दुष्ट तपस्वी की उपस्थित सिद्धि मैं इसी को प्राप्त कराऊँगा। यह सोच कर उसने उसके कपट का समाचार कह कर उस से बचने का रास्ता भी बताया जिसके अनुसार आचरण करने से राजा विक्रम को अनेक प्रकार की सिद्धियाँ मिलीं।

महाशिवरात्रि
वि. सं. २०२४

दामोदर झा



विषय-सूची

अवसरं प्राप्य तां जगाद,—"वत्से ! तौ राजसुतमन्त्रिसुतौ त्वत्प्राप्तये अत्र समागतौ, साम्प्रतं करणीयमादिश" इत्यभिहिता सा तां निर्भर्त्स्य पाणिभ्यां द्वाभ्यां कर्पूरलिप्ताभ्यां द्वयोः कपोलयोराहन् । ततः सा परिभवार्त्ता रुदती गृहमागस्य तावभाषत,—"पुत्रौ ! पश्यत मुखे मे तया एता अङ्गुलिमुद्रा दत्ताः" । एवं तयोक्ते नैराश्यंविषण्णं तं राजसुतं स महाबुद्धिर्मन्त्रिसुतः जनान्तिकमवादीत्,—"सखे ! मा विषादं गमः, मन्त्रं रक्षन्त्या तया निर्भर्त्स्य यत् कर्पूरशुभ्रा अस्या मुखे दश स्वाङ्गुलयो निहिताः एतैरेतत् सूचितं,—यथा अस्मिन् शुक्ले पक्षे चन्द्रवतीरिमा दश रात्रीः सङ्गमानर्हाः प्रतीक्षस्व" इति ।

इत्येवं राजपुत्रं समाश्वास्य स मन्त्रिसुतः गुप्तं हस्तस्थं काञ्चनं किञ्चिद् आपणे विक्रीय तया वृद्धया महाऽर्हं भोजनं साधयामास । ततस्तौ द्वौ सह तया वृद्धया बुभुजाते । इत्थं दशाहानि नीत्वा पुनर्जिज्ञासार्थं स मन्त्रिपुत्रस्तां वृद्धां पद्मावतीपार्श्वं प्रेषितवान् । साऽपि मिष्टान्नपानादिलुब्धा तदनुरोधात् तस्या वासगृहं गत्वा प्रतिनिवृत्य च तौ जगाद,—"वत्सौ ! इतो गत्वाऽहं तत्पार्श्वे कियन्तं

पास जाकर तथा अवसर पा कर उससे कहा—"हे बच्ची ! वे दोनों राजकुमार तथा मन्त्रिकुमार तुम्हारी प्राप्ति के लिये यहाँ आये हैं इस समय जो करना हो वह कहो" । यह कही गयी उसने उस वृद्धा को डाँट फटकार कर दोनों हाथों में कर्पूर लेप कर उसके दोनों गालों पर मारा । तब अपमान से दुःखी उस वृद्धा ने घर आकर उन दोनों को कहा—"पुत्रों ! देखो मेरे मुँह में उसके द्वारा ये अङ्गुलियों के चिह्न दिये गये हैं" । उसके द्वारा ऐसा कहे जाने पर निराशा से दुःखी हुए उस राजकुमार को महाबुद्धिमान् उस मन्त्रिपुत्र ने एकान्त में ले जाकर कहा—"मित्र विषाद मत करो, रहस्य को छिपाती हुई उसने जो फटकार कर उसके मुँह में कर्पूर से सफेद दश अङ्गुलियाँ रक्खी हैं, इससे यह सूचित होता है कि—इस शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा वाली ये दश रातें सङ्गम के योग्य नहीं हैं, तब तक प्रतीक्षा करो" ।

इस प्रकार राजकुमार को धैर्य देकर उस मन्त्रिकुमार ने हाथ में स्थित किसी सोने के गहने को गुप्तरूप से बाजार में बेच कर उस वृद्धा के द्वारा उत्तम स्तर का भोजन बनवाया । इसके बाद वे दोनों उस वृद्धा के साथ भोजन किये । इस प्रकार दश दिन बिताकर फिर जिज्ञासा के लिये उस मन्त्रिकुमार ने उस वृद्धा को पद्मावती के पास भेजा । मीठे खाने पीने से लुभाई हुई उस वृद्धा ने भी उसके अनुरोध से पद्मावती के निवासभवन में जाकर लौट आने पर उन दोनों को कहा—"बच्चो ! यहाँ से उसके पास



कालं तूष्णीं स्थिता; तया तु युष्मत्कथाऽपराधं स्वयमुद्गिरन्त्या पुनः सालक्तकाभिस्तिसृभिः कराङ्गुलिभिः उरसि हृता तदन्तिकात् अपमानिता पुनरायाता"। तदाकर्ण्य स मन्त्रिपुत्रः तं राजपुत्रं स्वैरमब्रवीत्,—"सखे! माऽन्यथा शङ्कां कार्षीः, अस्या हृदये तया यदलक्तकाक्तम् अङ्गुलिमुद्रात्रयं विन्यस्तं, कौशलेन तेन रजस्वलास्तिस्रो निशाः स्थिताः इति सूचितम्"।

एवं राजसुतमाश्वास्य स मंत्रिसुतः त्र्यहे गते पुनरपि तां वृद्धां पद्मावतीसकाशं प्राहिणोत्। सा तस्मिन् दिने गता तया समाहृत्य भोजिता, पानादिभिश्च दिनं सर्वं विनोदिता। यावत् सा सायं गृहमागन्तुमिच्छति, तावत् तत्र बहिः भयङ्करः कोलाहलः समुद्भूत्,—'हा! हा! अयं मत्तहस्ती स्वावासात् भ्रष्टः जनान् मथ्नन् प्रधावति' इति जना आक्रन्दन्तः पलायमानाः शुश्रुविरे। ततः सा पद्मावती तां वृद्धामभाषत,—"अम्ब! साम्प्रतं हस्तिरुद्धे पथि त्वया न गन्तव्यं, तत् त्वां पीठिकां समारोप्य आलम्बनरज्जुभिर्बद्ध्वा अनेन बृहता गवाक्षेण अत्र गृहोद्याने प्रक्षिपामि, ततो वृक्षमारुह्य विलङ्घ्य च प्राका-

---

जाकर मैं कुछ देर तक चुप होकर बैठी थी, उसने तुम्हारी बातचीत का अपराध स्वयं कहती हुई अलता से भींगी हुई हाथ की तीन अङ्गुलियों से छाती में मारा। इस प्रकार अपमानित होकर उसके पास से मैं फिर लौट आयी हूँ"। यह सुन कर उस मन्त्रिकुमार ने उस राजकुमार को एकान्त में कहा—"मित्र! दूसरे प्रकार की शङ्का मत करो; इसके हृदय में जो उसने अलता से भींगी हुई तीन अङ्गुलियों के चिह्न लगा दिये हैं, इस चतुरता से उसने सूचित किया है कि—ये तीन रातें रजस्वला होकर रहूँगी"।

इस प्रकार राजकुमार को धैर्य दे कर उस मन्त्रिकुमार ने तीन दिन बीतने पर फिर उस वृद्धा को पद्मावती के पास भेजा। उस दिन गयी हुई वह उसके द्वारा आदर करके भोजन करायी गयी, शर्बत आदि के द्वारा पूरे दिन भर आनन्दित की गयी। सायंकाल जिस समय वह घर आना चाहती थी उसी समय वहाँ बाहर में भयङ्कर कोलाहल हुआ—'अरे! अरे! यह मतवाला हाथी अपने निवासस्थान से छूट कर लोगों को कुचलता हुआ दौड़ रहा है' इस प्रकार चिल्लाते हुए भागने वाले लोगों के शब्द सुनायी पड़े। तब उस पद्मावती ने उस वृद्धा से कहा—"माता जी! इस समय हाथी से रोके हुए रास्ते में तुमको नहीं जाना चाहिये, इस लिये तुमको पीढ़े पर चढ़ा कर लटकाने वाली रस्सी से उस पीढ़े को बान्धकर इस बड़ी खिड़की से घरके पास के इस बगीचे में गिरा देती हूँ, तब तुम पेड़ पर चढ़ कर दीवार लाङ्घ कर

॥ श्रीः ॥

वेतालपञ्चविंशतिः

'प्रकाश' हिन्दीव्याख्योपेता



उपक्रमणिका

शिव-गिरिजा बिच मोदयुत, बन्दौं शिशु गणनाथ।
कर धरि जननी स्तन पिवत, सूँढ शशिहि पितु माथ॥

अस्ति गोदावरीतटे प्रतिष्ठानाख्यो जनपदः। तत्र विक्रमसेनस्य भूपतेः पुत्रः शक्रपराक्रमः त्रिविक्रमसेनो नाम विख्यातकीर्तिरभूत् नृपतिः। तस्य सभाऽऽसीनस्य नृपस्य सेवार्थं प्रत्यहं क्षान्तिशीलो नाम भिक्षुः एकैकं फलमुपानयत्। सोऽपि तदादाय आसन्नचरस्य कोशाधिकारिणो हस्ते प्रतिदिनं न्यक्षिपत्।

इत्थं द्वादशसु वर्षेषु गतेषु एकदा सभागतोऽसौ भिक्षुः राज्ञे यथायथं फलं दत्त्वा सभागृहात् निरगात्। राजा तु तस्मिन्नहनि दैवात् प्रविष्टाय रक्षिणां हस्तच्युताय क्रीडामर्कटपोताय तत् फलं प्रादात्। स मर्कटःयावत् तत् फलमश्नाति, तावत् तस्मात् फलात् विद-

---

गोदावरी नदी के तट पर प्रतिष्ठान नाम का देश है। वहाँ विक्रमसेन राजा का पुत्र प्रसिद्ध-यशवाला इन्द्र के समान पराक्रमी त्रिविक्रमसेन राजा हुआ। सभा में बैठे हुए उस राजा की सेवा के लिये प्रतिदिन क्षान्तिशील नाम का बौद्ध-संन्यासी एक-एक फल उपहार देता था। राजा भी उस फल को ले कर समीप में स्थित खजाञ्ची के हाथ में प्रतिदिन दे देता था।

इस प्रकार बारह वर्ष बीत जाने पर एकबार सभा में आकर वह संन्यासी राजा को उसी प्रकार फल दे कर सभा-भवन से चला गया। राजा ने तो उस दिन दैवयोग से आये हुए, रक्षकों के हाथ से नीचे गिरे हुए, खेल करने वाले बन्दर के बच्चे को वह फल दे दिया। वह बन्दर जब उस फल

रम् अन्येन वृक्षेण स्वगृहं व्रज" इति। एवमुक्त्वा सा चेटीभिस्तां वृद्धां रज्जुपीठिकया गवाक्षात् उद्याने प्रक्षेपयामास। सा च गृहं गत्वा तत् सर्वं ताभ्यां राजपुत्रमन्त्रिपुत्राभ्यां शशंस।

तदा स मन्त्रिपुत्रस्तं राजपुत्रमभाषत,—"सखे! सिद्धं ते अभिलषितं, युक्त्या तया मार्गो दर्शितः; तदद्यैव प्रदोषे त्वम् एतेनैव पथा तत् प्रियामन्दिरं गच्छ"। इत्युक्तस्तेनैव मन्त्रिपुत्रेण युतः स राजपुत्रः तेनैव पथा वृद्धया दर्शितेन तदुद्यानं ययौ, ददर्श च तत्र तां लम्बमानां सपीठिकां मार्गोन्मुखाभिश्चेटीभिरुपरिष्टादधिष्ठितां रज्जुम्। स च तां दृष्ट्वैव यावत् आरोहति स्म, तावत् ताभिः सखीभिः तया रज्ज्वा गवाक्षेणाकृष्टः प्रियान्तिकं प्राविशत्। तस्मिंश्च प्रविष्टे स मन्त्रिपुत्रस्तमेव वृद्धाऽऽवासं प्रायात्।

राजपुत्रस्तु तां पद्मावतीं पूर्णेन्दुवदनां प्रसरत्कान्तिचन्द्रिकां कृष्णपक्षात् गुप्तं स्थितां राकाविभावरीमिव अद्राक्षीत्। साऽपि तं दृष्ट्वा तत्कालोचितैः कण्ठग्रहादिभिस्तैस्तैः प्रौढाचारै रमयामास। ततस्तत्र गान्धर्वविधिना समूढया तया सह कान्तया गुप्तं विहरन्

दूसरे वृक्ष के द्वारा अपने घर को चली जाना"। ऐसा कह कर उसने दासियों के द्वारा उस वृद्धा को रस्सी वाले पीढ़े के सहारे खिड़की से बगीचे में उतार दिया। उसने घर जा कर वह सारा वृत्तान्त उन दोनों राजकुमार तथा मंत्रिकुमार को कह सुनाया।

तब उस मंत्रिकुमार ने राजकुमार से कहा—"मित्र! तुम्हारा मनोरथ सिद्ध हो गया, युक्ति से उसने रास्ता भी दिखला दिया है; तो आज ही सायंकाल तुम उसी रास्ते से अपनी प्रियतमा के उस भवन में चले जाओ"। यह कहा गया वह राजकुमार उसी मन्त्रिकुमार के साथ वृद्धा के द्वारा बताये हुए उसी मार्ग से उस बगीचे में गया। और वहाँ पीढ़े से संयुक्त, ऊपर में रास्ता देखने वाली सखियों के द्वारा पकड़ी हुई उस लटकती हुई रस्सी को उसने देखा उसे देख कर जब वह उस पर चढ़ गया, तब उन सखियों के द्वारा रस्सी के सहारे खिड़की से खींच लिया गया, फिर अपनी प्रिया के पास पहुँचा। उसके प्रवेश कर जाने पर वह मंत्रिकुमार वृद्धा के उसी निवासस्थान पर चला गया।

राजकुमार ने पूर्णचन्द्रमुखी फैलती हुई कान्तिचन्द्रिकावाली कृष्णपक्ष से छिप कर बैठी हुई पूर्णिमा की रात के समान उस पद्मावती को देखा। उसने भी उसको देख कर उस समय के लिये उचित गाढालिङ्गनादि प्रौढ आचरणों से उसे आनन्दित किया। इसके बाद वहाँ गान्धर्व विवाह के विधान से विवाहित उस प्रियतमा के साथ गुप्तरूप से विहार करते हुए कुछ दिनों

लितात् अनर्घम् उत्तमं रत्नं निरगात्। तद् दृष्ट्वा राजा तदादाय तं भाण्डागारिकं पप्रच्छ,—"भिक्षुणा उपनीतानि यानि फलानि मया तव हस्ते दत्तानि, तानि त्वया सदा क्व स्थापितानि ?"। तदाकर्ण्य कोशाध्यक्षः सभयस्तं व्यजिज्ञपत्,—"देव! मया तानि अखण्डानि च गवाक्षतः क्षिप्तानि, यदि आदिशति देवः, तदा तानि साम्प्रतं गवेषये" इत्यूचिवान् स राज्ञाऽनुमतो गत्वा क्षणादेव प्रत्यावृत्य पुनः व्यज्ञापयत्,—"देव! तानि कोशे शीर्णानि फलानि, तेषु च रश्मिज्वालाऽऽकुलान् रत्नराशीन् पश्यामि"। तदाकर्ण्य सन्तुष्टः तान् मणीन् कोशरक्षिणे दत्त्वा अन्येद्युरागतं तं भिक्षुं पर्यपृच्छत्,—"भिक्षो! कथमेवं धनव्ययेन नित्यं मां सेवसे ? यावत् कारणं न वक्ष्यसि, तावत् ते फलं न ग्रहीष्ये।"

इत्युक्तवन्तं तं नृपं स भिक्षुः विजनं नीत्वाऽब्रवीत्,—"वीर! किमपि साधनं साचिव्यसापेक्षमस्ति, तत्र वीरेन्द्रेण त्वया क्रियमाणं साहाय्यमर्थये।" इति श्रुत्वा राजा "तथा" इति तस्य साहाय्याय प्रत्यपद्यत।

को खाने लगा तब कटे हुए उस फल से अमूल्य उत्तम रत्न निकला। वह देख कर राजा ने उसे ले कर भाण्डारी से पूछा—"संन्यासी के द्वारा उपहार दिये हुए जिन फलों को मैंने तुम्हारे हाथ में दिया था उन फलों को तुमने हमेशा किस जगह रक्खा" ? यह सुन कर भयभीत होकर भाण्डारी ने उनसे निवेदन किया—"महाराज! मैंने उन फलों को बिना भङ्ग किये हुए ही खिड़की से गिरा दिया है यदि आप आदेश दें तो उन्हें इस समय खोजूँ।" यह कहते हुए उसने राजा के द्वारा आदेश प्राप्त कर के जा कर कुछ ही देर में लौट कर फिर निवेदन किया—"महाराज! वे फल खजाने में सड़ गये हैं, उनमें किरणों से भरे हुए रत्नसमूहों को देखता हूँ।" यह सुन कर सन्तुष्ट हो कर वे मणि कोषाध्यक्ष को दे कर राजा ने दूसरे दिन आये हुए उस बौद्ध-संन्यासी को पूछा—"संन्यासी! क्यों इस प्रकार धन खर्च करने के द्वारा नित्य मेरी सेवा कर रहे हो ? जब तक कारण नहीं कहोगे, तब तक तुम्हारा फल नहीं ग्रहण करूँगा।"

यह कहने वाले उस राजा को उस संन्यासी ने जनशून्य स्थान में ले जा कर कहा—"वीर! कोई साधना सहायता की अपेक्षा करती है, उस में तुझ महावीर के द्वारा की जानी हुई सहायता चाहता हूँ।" यह सुन कर राजा ने "वैसा करूँगा" यह कह कर उसकी सहायता करना स्वीकार कर लिया।

कतिचित् दिनानि स्थित्वा कदाचित् तां प्रियामवदत्,—"प्रिये ! मम सखा मन्त्रिपुत्रः मयैव सहायातः अत्र वृद्धागृहे एकाकी तिष्ठति तद् गत्वा तं सम्भाव्य पुनरैष्यामि" इति। तदाकर्ण्य सा धूर्त्ता पद्मावती तं प्रियमाह स्म,—"नाथ ! त्वामहं पृच्छामि, मत्कृतास्ताः संज्ञास्त्वया ज्ञाताः ? उत ते तेन मन्त्रिपुत्रेण ?"। तथा अभिदधतीं तां राजपुत्रोऽब्रवीत्,—"प्रिये ! न ज्ञातं मया तत् सर्वं, तेनैव मे मित्रेण दिव्यज्ञानवता सर्वं विदित्वा मे समाख्यातम्"। एतदाकर्ण्य सा भामिनी विचिन्त्य तं प्रत्यभाषत,—"नाथ ! तर्हि अयुक्तं कृतं त्वया चिरात् तद्वार्त्तां कथयता, यस्ते सखा, स मे भ्राता, तस्य प्रथममेव मया ताम्बूलादिसमाचारेण सम्मानना कर्त्तव्याऽऽसीत्"। इति उक्तवत्या तयाऽनुमतः राजपुत्रस्तेनैव पथा तस्यां निशि सख्युरन्तिकमागात्, अकथयच्च तत् सर्वं प्रियया कथितम्। मन्त्रिपुत्रस्तु तदयुक्तमिति न तत् सादरमभ्यमन्यत। इत्थं परस्परमालपतोस्तयोः सा विभावरी पर्य्यगात्।

अथ तयोः सान्ध्ये विधौ निर्वृत्ते पक्वान्नताम्बूलहस्ता पद्मावतीसखी तत्राऽऽगात्। सा समागत्य तं मन्त्रिपुत्रं कुशलं पृष्ट्वा दत्तो-

---

तक रह कर किसी दिन उसने उस प्रियतमा से कहा—"प्रिये ! मेरा मित्र मन्त्रिकुमार मेरे ही साथ आया है, यहाँ उस वृद्धा के घर में अकेला ही रहता है, तो वहाँ जा कर उससे मिल कर आ जाऊँगा"। यह सुन कर उस चतुर पद्मावती ने उससे कहा—"प्रियतम ! आपको मैं पूछती हूँ कि— मेरे किये हुए वे-वे इशारे आपने समझे अथवा मन्त्रिकुमार ने ?" इस प्रकार कहने वाली उससे राजकुमार ने कहा—"प्रिये! मैंने वह सब नहीं समझा, मेरे अद्भुतज्ञानवाले उसी मित्र ने सब कुछ समझ कर मुझे बताया था"। यह सुन कर उस सुन्दरी ने कुछ सोच कर उससे कहा—"पतिदेव ! तो आपने यह अनुचित किया कि कई दिनों के बाद आपने मुझे उसका समाचार बताया। जो आपका मित्र है वह मेरा भी भाई है, उसका तो पहले ही ताम्बूल आदि के व्यवहार से मुझे सम्मान करना था"। यह कहने वाली उसकी अनुमति पाकर राजकुमार उसी रास्ते से उस रात में मित्र के पास गया और प्रियतमा की कही हुई सब बातें कह सुनाया। मन्त्रिपुत्र ने तो 'यह अनुचित है' इस लिये आदर के साथ इसका अनुमोदन नहीं किया। इस प्रकार उन दोनों के बातचीत करते ही करते वह रात बीत गयी।

इसके बाद उन दोनों के प्रातःकृत्य कर लेने पर पक्वान्न ताम्बूल लिये

ततः स श्रमणस्तुष्टः पुनस्तं नृपमवादीत्,—"प्रभो! अस्याम् आगामिन्यां कृष्णचतुर्दश्यां निशाऽऽगमे इतो महाश्मशानं गत्वा वटतरोरधः स्थितस्य मे सकाशं त्वया गन्तव्यम्" इति। ततस्तेन राज्ञा "बाढमेवं करिष्यामि" इति अभिहिते स क्षान्तिशीलो भिक्षुः प्रहृष्टः स्वं निलयं ययौ।

अथाऽऽगतायां कृष्णचतुर्दश्यां स महासत्त्वो नरपतिः भिक्षोस्तां प्रार्थनां प्रतिपन्नां स्मरन् प्रदोषे नीलवसनेन समलङ्कृतशिराः खड्गपाणिरलक्षितः तत् महाश्मशानमगात्। गत्वा इतस्ततोऽन्विष्यन् वटतरोरधः स्थितं तं मन्त्रन्यासं कुर्वाणं भिक्षुं दृष्ट्वा समुपेत्य च जगाद,—"भिक्षो! एषोऽस्मि आगतः, किन्ते करवाणि? वद"। तदाकर्ण्य स भिक्षुर्नृपं दृष्ट्वा हृष्टः प्रोवाच,—"राजन्! यदि प्रसादस्ते कर्त्तव्यः, तदा इतो दक्षिणामुखं गत्वा एकाकी विदूरे यं शिंशपातरुं द्रक्ष्यसि, तस्मिन् प्रलम्बितो मृतः कोऽपि तिष्ठति, तमिहानीय मे साहाय्यं कुरु।"

तदाकर्ण्य स वीरो नृपतिः "तथा" इति उक्त्वा सत्यसङ्गरः दक्षि-

तब उस संन्यासी ने सन्तुष्ट हो कर उस राजा से कहा कि "महाराज! इस आगामिनी कृष्णपक्ष की चतुर्दशी की रात्रि के प्रारम्भ में यहाँ से महाश्मशान में जा कर बरगद के पेड़ के नीचे बैठे हुए मेरे पास आपको जाना चाहिये।" तब उस राजा के द्वारा "ठीक है, ऐसा करूँगा" यह कहे जाने पर वह क्षान्तिशील संन्यासी प्रसन्न हो कर अपने निवासस्थान पर गया।

इसके बाद कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी के आने पर वह महासाहसी राजा संन्यासी की उस स्वीकार की हुई प्रार्थना का स्मरण करते हुए सायंकाल में नीले वस्त्र से शिर ढक कर तलवार हाथ में लिये हुए दूसरों से अलक्षित हो कर उस महाश्मशान में गया। जा कर यहाँ वहाँ खोजते हुए बरगद के पेड़ के नीचे स्थित मन्त्र का न्यास करते हुए उस संन्यासी को देख कर और समीप में जा कर राजा ने कहा—"संन्यासी! यह मैं आ गया हूँ, तुम्हारा कौन सा कार्य करूँ? कहो।" यह सुन कर उस संन्यासी ने राजा को देख कर प्रसन्न हो कर कहा—"महाराज! यदि तुम्हें दया करनी है तो यहाँ से अकेले दक्षिणमुख जा कर अधिक दूर पर जिस शीशम के पेड़ को देखोगे उसमें लटका हुआ कोई मृतक है उसको यहाँ ला कर मेरी सहायता करो।"

यह सुन कर सच्चीप्रतिज्ञावाला वह राजा "ठीक है" यह कह कर

पचारा, युक्तितः राजपुत्रस्य भोजनं निषेद्धुं "सा तव प्रिया भोजनादौ त्वदागमं प्रतीक्षमाणा आस्ते" इति आवेद्य क्षणात् ततः प्रायात्।

ततः स मन्त्रिपुत्रस्तं राजपुत्रमभाषत,—"देव ! कौतुकमेकं पश्य, त्वां दर्शयामि" इत्युक्त्वा स तस्मादेकं पक्वान्नमादाय सारमेयाय तत्र स्थिताय प्रादात्। स भुक्त्वैव तत्क्षणात् व्यापद्यत। तदवलोक्य "किमिदं चित्रम् !!" इति तं मन्त्रिपुत्रं राजपुत्रः पर्य्यपृच्छत्। स चैनं प्रत्यभाषत—"देव ! संज्ञाप्रकटनेन मां धूर्तं विदित्वा हन्तुकामया त्वदनुरक्तया तया,—'अस्मिन् सति राजपुत्रो मदेकायत्त-चित्तो न भवेत्, एतद्वशश्च मां विहाय स्वां नगरीं व्रजेत्' इति विचारयन्त्या मम भक्षणार्थं विषान्नं प्रहितम्; तस्मात् त्वमेतस्यां मन्युं मुञ्च, अहं कामप्यत्र युक्तिं पर्य्यालोचयामि"। इत्युक्तवन्तं मन्त्रिसुतं स राजपुत्रः "सत्यं त्वं बुद्धिशरीरः" इति यावत् स्तौति, तावत् सहसा दुःखाकुलजनैरुदीरितः,—"हा धिक्! राज्ञो बालः सुतो विपन्नः" इति रवः श्रूयते स्म। तत् आकर्णनेन हृष्टः स मन्त्रिपुत्रस्तं नृपात्मजं जगाद,—"देव ! अद्य पद्मावतीगेहं निशि व्रज, तत्र गत्वा तां तथा

हुए पद्मावती की सखी वहाँ आयी। वह आकर मन्त्रिकुमार को कुशल पूछ कर तथा सामग्री देकर, युक्ति से राजकुमार से भोजन निषेध करने के लिये "वह तुम्हारी प्रियतमा भोजन के प्रारम्भ में तुम्हारे आगमन की प्रतीक्षा करती हुई बैठी है" यह निवेदन कर उसी समय चली गयी।

तब मन्त्रिकुमार ने उस राजकुमार से कहा—"स्वामी ! एक तमाशा देखिये, आपको दिखलाता हूँ" यह कह कर उसने उनमें से एक पकवान लेकर वहाँ के एक कुत्ते को दे दिया। वह कुत्ता खाते ही उसी समय मर गया। यह देखकर उस राजकुमार ने मन्त्रिकुमार से पूछा कि—"आश्चर्यजनक यह कैसी बात है"। उसने इनसे कहा कि—"स्वामी ! इशारा समझ जाने से मुझे अति चतुर जानकर तुझमें अनुरक्त हुई उसने—'इसके रहने से राजकुमार मुझ में एकाग्रचित्त नहीं होगा और इसके वश में होकर मुझे छोड़ कर अपने नगर को चला जायगा' यह सोचती हुई मुझे मारने की इच्छा से मेरे भोजन के लिये विष मिला हुआ अन्न भेजा है। इस कारण तुम इसके ऊपर क्रोध मत करो; मैं इस विषय में कोई युक्ति सोच रहा हूँ"। ऐसा कहने वाले उस मन्त्रिकुमार की वह राजकुमार जब तक "सत्य ही तुम बुद्धि का स्वरूप हो" इस प्रकार प्रशंसा कर रहा था तब तक एकाएक दुःख से व्याकुल लोगों के द्वारा कहा हुआ "अरे ! अरे ! राजा का छोटा पुत्र मर गया" यह शब्द सुनाई पड़ा। यह सुनने से प्रसन्न होकर उस मन्त्रिकुमार ने राजकुमार से कहा—"स्वामी ! आज रात में पद्मावती के घर जाइये और वहाँ जा कर

णादिशमालम्ब्य तत्र प्रययौ। कथञ्चिच्च तेन श्मशानमार्गेण गच्छन् विदूरे तं शिंशपातरुं प्राप्य तदुपरि लम्बमानं शवमेकमद्राक्षीत्। दृष्ट्वा तं तरुम् आरुह्य छिन्नरज्जुं तं भूमौ अपातयत्। पातितश्च सः अकस्मात् जीवित इव भृशं चक्रन्द। ततोऽसौ राजा अवरुह्य कृपया तज्जीविताकाङ्क्षी यावत् तस्य अङ्गानि परामृशत्, तावत् स शवः अट्टहासमकरोत्। ततः स राजा तं वेतालाधिष्ठितं मत्वा,—"कथं हससि ? एहि, गच्छावः" इति निर्भयं यावत् ब्रवीति, तावत् तं वेतालं न भूमौ समवैक्षत, ऐक्षत च तस्यैव तरोरुपरि यथापूर्वं लम्बमानम्। ततो भूयोऽपि तरुमारुह्य स राजा यत्नतः तं शवमवारोहयत्; वीराणां चित्तं वज्रादपि अखण्डितम् अकम्प्यम्। ततः तं वेतालाधिष्ठितं शवं स्कन्धम् आरोप्य मौनेन गन्तुम् उपचक्रमे। यान्तञ्च शवाधिष्ठितो वेतालस्तं राजानमब्रवीत्,—"राजन्! अध्वविनोदाय कथामाख्यामि, शृणु—

दक्षिण दिशा का अवलम्बन कर के वहाँ गया। किसी किसी प्रकार उस श्मशान मार्ग से जाते हुए बहुत दूर में उस शीशम के वृक्ष को प्राप्त कर के उसके ऊपर लटके हुए मृतक को उसने देखा। देख कर उस पेड़ पर चढ़ कर रस्सी काट कर उस शव को भूमि पर गिरा दिया। गिराया हुआ वह शव एकाएक जीवित की तरह जोर से रोने लगा। तब उस राजा ने उतर कर कृपा कर के उसके जीवित होने की आशा से जब तक उसके अङ्गों का स्पर्श किया तब तक वह शव बहुत जोर से हँसने लगा। तब वह राजा उस शव को प्रेत चढ़े हुए जान कर "क्यों हँसते हो ? चलो, चलें" यह निर्भय हो कर जब तक कहता है तब तक उस शव को उसने भूमि पर नहीं देखा और उसी वृक्ष के ऊपर पूर्ववत् लटकते हुए देखा। तब फिर भी वृक्ष पर चढ़ कर उस राजा ने बहुत यत्न से उस शव को उतारा। वीरों का मन वज्र से भी अखण्डित तथा अडिग होता है। तब उस वेताल (एक प्रकार का प्रेत) चढ़े हुए शव को कन्धे पर रख कर उस राजा ने मौन हो कर जाना प्रारम्भ किया। जाते हुए उस राजा को शव पर आरूढ़ वेताल ने कहा—"महाराज! रास्ते के मनोरञ्जन के लिये कहानी कहता हूँ, सुनो"—



पाययेः, यावत् पानमदेन सा निःसंज्ञा नष्टचेष्टा गतजीवितेव स्यात्। ततस्तस्याः सनिद्रायाः कटितटे शूलेन अग्नितप्तेन अङ्कं दत्त्वा आभरणानि च गृहीत्वा गवाक्षेण तेनैव प्रकारेण आगच्छेः, ततः परं यथा भद्रं भवेत् तथा करिष्यामि" इत्युक्त्वा कारयित्वा च त्रिशूलं तस्मै राजसूनवे प्रादात्। सोऽपि राजपुत्रस्तत् कुटिलकर्कशं कालायसदृढं कान्तावयस्ययोश्चित्तमिव हस्ते गृहीत्वा पूर्ववत् रात्रौ पद्मावतीगृहमेत्य शुचेः स्वमन्त्रिणो वाक्यं प्रभूणामविचार्य्यमितिमत्वा तत्र मद्यपाननिश्चेष्टां तां जघने शूलेनाङ्कितां हृतालङ्करणाञ्च कृत्वा सख्युरन्तिकमागात्, अशंसच्च आभरणानि दर्शयित्वा तत् सर्वम्।

ततः मन्त्रिपुत्रः स्वं समीहितं सिद्धं मत्वा, प्रातः श्मशानं गत्वा, स्वयं तापसरूपभृदभवत्, अकरोच्च राजपुत्रं शिष्यरूपिणम्, अब्रवीच्च—"त्वमेभ्याऽलङ्करणेभ्यः इमां मुक्तावलीं नीत्वा विक्रेतुम् आपणं व्रज, यदि त्वां पुररक्षिणो गृह्णीयुः, तदा इत्थं ब्रूयाः यत्,—'इयं मे गुरुणा विक्रयार्थं दत्ता' इति"। इति सन्दिष्टः स राजसुतः आपणं गत्वा तथैव मुक्तावलीं विक्रेतुमतिष्ठत्, अगृह्यत च तथाभूतः पुर-

---

उसको उस प्रकार शराब पिलाइये जिससे शराब की नशा से बेहोश होकर मरी हुई की तरह निश्चेष्ट हो जाय। तब बेहोशी की दशा में ही उसकी कमर के नीचे आग से गर्म त्रिशूल से दाग दे कर उसके सभी आभूषण लेकर खिड़की से उसी प्रकार आ जाइये। इसके पश्चात् जिससे कल्याण होगा वैसा मैं करूँगा" यह कह कर एक त्रिशूल बनवा कर उस राजकुमार को दे दिया। उस राजकुमार ने भी, पत्नी तथा मित्र की बुद्धि की तरह कुटिल तथा कठोर लोहे से बने होने से मजबूत उस त्रिशूल को हाथ में लेकर पहले की तरह पद्मावती के घर जाकर 'निष्कपट मन्त्री का वचन राजा के लिये अविचारणीय है' यह समझ कर वहाँ मद्यपान से निश्चेष्ट उस पद्मावती की नाभी के नीचे तपे हुए त्रिशूल से दाग लगा कर उसके भूषणों को लेकर मित्र के पास आ गया और भूषणों को दिखला कर वह सब समाचार कह दिया।

इसके बाद उस मन्त्रिपुत्र ने अपना मनोरथ सिद्ध हुआ समझ कर, प्रातःकाल श्मशान में जाकर स्वयं तपस्वी का रूप धारण किया और राजकुमार को शिष्य का रूप बना दिया, और कहा—"तुम इन अलङ्कारों में से इस मोती की माला को लेकर बेचने के लिये बाजार जाओ, यदि तुमको नगर के रक्षकगण पकड़ लें तो तुम इस प्रकार कहना कि—"यह मेरे गुरु ने बेचने के लिये मुझे दिया है"। इस प्रकार सिखाया हुआ वह राजकुमार बाजार जाकर उसी प्रकार मुक्तावली बेचने के लिये खड़ा हुआ और बेचते हुए नगररक्षकों के

अथ प्रथमकथा

"अस्ति वाराणसी नाम शङ्करवसतिः पुरी, या कैलासस्य स्थलीव पुण्यजनसेविता, हारयष्टिरिव यस्याः स्वर्गतरङ्गिणी विभाति। तस्यां प्रतापानलनिर्दग्धविपक्षकुलकाननः प्रतापमुकुटो नाम नृपतिः प्रतिवसति स्म। तस्य च वज्रमुकुटो नाम तनयः स्मरस्य जनस्य च रूपशौर्य्ययोर्दर्पदलन आसीत्। तस्य राजपुत्रस्य सखा महामतिः मन्त्रिपुत्रः कश्चिदस्ति। कदाचित् स नृपात्मजः तेन सख्या सह क्रीडन् मृगयाप्रसङ्गेन अतिदूरमध्वानं जगाम। स तत्र सिंहानां मस्तकानां सटाजालानि शौर्य्यश्रीचामराणीव शनैश्छिन्दन् महावनमेकमाससाद। तत्र सरोवरमेकं दृष्ट्वा श्रान्तः स तेन सुहृदा मन्त्रिपुत्रेण तज्जलं पीत्वा प्रक्षालितकरचरणः कस्यापि तीरतरोर्मूले समुपाविशत्।

अत्रान्तरे काऽपि स्नानार्थमागता, दिव्याकृतिः, सुपरिच्छदा, पूरयन्तीव लावण्यनिर्झरेण सरोवरं, दृष्टिपातैः सृजन्तीव तत्रोत्पल-

---

पहली कथा

वाराणसी नामवाली श्री शङ्कर जी की निवास नगरी है, जो कि यक्षों से सेवित कैलाश की भूमि की तरह सज्जनों से सेवित है, जिसके मुक्ताहार की तरह गङ्गा जी शोभा पाती हैं। उस वाराणसी नगरी में अपने प्रतापरूपी आग से शत्रुओं के वंशवन का जलानेवाला प्रतापमुकुट नाम का राजा रहता था। उसका वज्रमुकुट नाम वाला पुत्र सौन्दर्य तथा वीरता के विषय में कामदेव तथा अन्य मनुष्यों का घमण्ड चूर्ण करने वाला था। उस राजकुमार का मित्र किसी मन्त्री का पुत्र बड़ा बुद्धिमान् था। किसी समय वह राजकुमार उस मित्र के साथ शिकार खेलते हुए अत्यन्त दूर चला गया। वह वहाँ वीरतारूपी लक्ष्मी के चामरों के सदृश सिंहों के मस्तकों के बालों को काटते हुए क्रमशः एक बहुत बड़े जङ्गल में पहुँचा। वहाँ थका हुआ वह एक सरोवर को देखकर उस मन्त्रिकुमार मित्र के साथ उस सरोवर का पानी पीकर हाथ पैर धोकर तीर में किसी पेड़ के नीचे बैठ गया।

इस बीच में स्नान के लिये आई हुई, सुन्दर रूपवाली, अच्छे वस्त्रों वाली, मानो अपने सौन्दर्य के प्रवाह से सरोवर को भरती हुई, मानों दृष्टि-

रक्षिभिः। ते च दन्तघाटसुतायाः अलङ्करणमोषान्वेषणार्थिनः तं राजसुतं तत्क्षणं नगराध्यक्षान्तिकं निन्युः। स च नगराध्यक्षस्तं तापसाकारं दृष्ट्वा सान्त्वेन पप्रच्छ,—"भगवन्! कुत इयं मुक्तावली आसादिता? दन्तघाटकन्याया इदमाभरणं हृतम्"। तदाकर्ण्य राजपुत्रस्तानवादीत्,—"भद्राः! गुरुणा ममैषा विक्रेतुं दत्ता, तद्युष्माभिरेत्य स पृच्छ्यताम्" इति।

ततस्तं समुपेत्य नगराधिपः पप्रच्छ,—"भगवन्! इयं मुक्तावली कुतस्तव शिष्यगता?" एतदाकर्ण्य स धूर्त्तो मन्त्रिसुतः तं रहसि अवादीत्,—"भद्र! अहं तपस्वी सदा अस्मिन् इतस्ततो भ्राम्यामि; सोऽहं दैवात् अत्र श्मशाने स्थितो निशि समस्तं योगिनीचक्रं समागतमपश्यम्। तासु चैकया योगिन्या राजपुत्र एकः उद्घाटितहृदयाम्भोजो भैरवाय निवेदितः। पानमत्ता च सा जपतो मे मोक्षमालिकां हर्त्तुं महामाया विविधविकारपूर्णमुखी यावत् प्रावर्त्तत, तावत् अतिदर्पिता सा क्रुद्धेन मया जघनस्थले त्रिशूलेन मन्त्रप्रज्वलिताग्रिणा

द्वारा पकड़ लिया गया। दन्तघाटक की लड़की के अलङ्कार चुराने वाले का अन्वेषण करते हुए वे लोग उस राजकुमार को उसी समय नगराध्यक्ष के पास ले गये। उस नगराध्यक्ष ने उसको तपस्वी के आकार में देख कर सान्त्वनापूर्वक पूछा—"महाशय! यह मोती की माला कहाँ मिली! दन्तघाटक की पुत्री का यह गहना चुराया गया है"। यह सुन कर राजकुमार ने उनसे कहा—"भलेमानुषो! मेरे गुरु ने यह वेचने के लिये दिया है तो आप लोग चल कर उन्हीं से पूछें"।

इसके बाद उस मन्त्रिकुमार के पास पहुँच कर नगराध्यक्ष ने पूछा—"महात्मा जी! यह मुक्तावली कहाँ से आपके शिष्य के हाथ में आयी?"। यह सुन कर धूर्त मन्त्रिकुमार ने उसको एकान्त में ले जाकर कहा—"महाशय! मैं इस संसार में हमेशा यहाँ से वहाँ घूमता रहता हूँ। दैवसंयोग से मैं आजकल इसी श्मशान में टिका हूँ, पिछली रात में यहाँ मैंने योगिनियों के सम्पूर्ण मण्डल को आये हुए देखा। उनमें से एक योगिनी ने एक राजकुमार के हृदय के कमल को फाड़ कर उसे भैरव जी को वलि के रूप में चढ़ा दिया। अत्यन्त घमण्ड से भरी हुई, शराब पीने से मतवाली वनी हुई, बहुत बड़ी माया के द्वारा अनेक प्रकार की विकृतियों से पूर्ण मुख वाली वह जब मेरी जपमाला हरण करने का प्रयत्न करने लगी तब क्रोधित होकर मैंने मन्त्र से प्रज्वलित अग्रभाग वाले त्रिशूल से उसकी नाभि के नीचे दाग दिया और

वनानि, प्रत्यादिशन्तीव मुखेन जितेन्दुना अम्बुजानि, कन्यका तेन ददृशे। दृष्टैव सा तस्य राजपुत्रस्य मनो जहार तत्क्षणम्। सोऽपि राजसूनुस्तस्या विलोचने अहार्षीत्।

सा तु कन्या तद्दर्शनेन सञ्जातविकारा लज्जया किमपि वक्तुमशक्नुवती हृद्गतमाकूतं सङ्केतेन बोधयन्ती एकमुत्पलं कर्णे गृहीत्वा दन्तरचनां विधाय, पद्मं शिरसि कृत्वा हृदये करमदात्। राजपुत्रस्तु तस्यास्तां संज्ञां न विवेद, मन्त्रिपुत्र एव केवलं बुद्धिमान् सर्वं बुबुधे। क्षणेन च सा कन्या अनुगैर्नीयमाना प्रययौ; गत्वा च स्वं गृहं पर्य्यङ्कनिषण्णा तस्थौ। चित्तन्तु तस्यास्तस्मिन् नृपात्मजे एव स्थितम्। सोऽपि राजसुतः कृच्छ्रेण स्वनगरीं गत्वा तया विना नितरां व्यथितो दिने दिने कृशतामवाप।

दृष्ट्वा च तत् मन्त्रिपुत्रेण तेन रहसि तामदुष्प्रापां शंसता समाश्वासितस्त्यक्तधैर्य्यः प्रोवाच,—"सखे! यस्या नाम न, ग्रामो न, अन्वयश्च नावबुध्यते, सा कथं प्राप्यते? तन्मृषा मां किमाश्वास-

---

पातों से वहाँ कमल के समूह का सृजन करती हुई, मानो चन्द्रमा के जीतने वाले मुख से कमलों का निराकरण करती हुई कोई कन्या उसके द्वारा देखी गई। देखने ही से उसने उस राजकुमार का मन उसी क्षण हर लिया। उस राजकुमार ने भी उसकी आँखों को अपनी ओर खींच लिया।

उस कन्या ने उसके दर्शन से कामविकार से युक्त होकर, लज्जा के कारण कुछ भी कहने में असमर्थ होती हुई, अपने हृदय का अभिप्राय इशारे से समझाती हुई, एक कमल कान पर रख कर, अपने दाँतों को सजाकर, एक कमल शिर पर रख कर छाती पर हाथ रख लिया। राजकुमार ने तो उसके उन इशारों को नहीं समझा। मन्त्री का पुत्र बुद्धिमान् था, केवल उसने सब कुछ समझ लिया। कुछ ही समय में वह कन्या अनुयायियों से लिवाई जाती हुई चली गयी। और घर जाकर पलङ्ग पर लेट गयी। उसका मन तो उस राजकुमार में ही लगा रह गया। वह राजकुमार भी मुश्किल से अपने नगर में जाकर उसके बिना अत्यन्त व्यथित होकर दिन-दिन दुबला होने लगा।

यह देखकर उस मन्त्रिपुत्र ने एकान्त में उस लड़की का प्राप्त करना सुलभ बताते हुए उसको ढाढ़स दिया। उसने तो अधीर होकर कहा—"मित्र! जिसका नाम, ग्राम, खानदान कुछ भी नहीं मालूम है, वह कैसे मिल सकती है? तो व्यर्थ मुझे क्यों आश्वासन दे रहे हो?" इस प्रकार

अङ्किता, हृता च तस्या इयं मुक्तावली कण्ठात्। तदेषा तापसानर्हा विक्रयार्थं प्रेषिता"।

तदाकर्ण्य स नगराध्यक्षो गत्वा राजानं तत् सर्वं व्यजिज्ञपत्। भूपोऽपि आकर्ण्य तत्, दृष्ट्वा च तां मुक्तावलीं प्रेक्षणप्रहिताया वृद्धाया आप्तवनिताया मुखात् दृश्यशूलाङ्कां जघने तां पद्मावतीं श्रुत्वा, सत्यमेव ग्रस्तः सुतो मेऽनया डाकिन्या इति समुत्पन्ननिश्चयः, स्वयं तस्य मन्त्रिपुत्रस्य तापसवेशिनोऽन्तिकं गत्वा, तस्याः पद्मावत्या निग्रहं पृष्ट्वा च, तस्य वचसा पितृभ्यां शोच्यमानायाः तस्याः पुरान्निर्वासनं दण्डं व्यधात्। साऽपि निर्वासिता अटवीस्था नग्नाऽपि तत् सर्वं मन्त्रिपुत्रकृतं सम्भाव्य तनुं न जहौ। दिनान्ते तौ राजपुत्रमन्त्रिपुत्रौ तापसवेशं त्यक्त्वा अश्वाऽऽरूढौ शोचन्तीं तां प्रापतुः, निन्यतुश्च अश्वमारोप्य स्वराष्ट्रम्। तत्र चागत्य स राजपुत्रः तया साकं सुनिर्वृतस्तस्थौ। दन्तघाटस्तु अरण्ये क्रव्याद्भिर्भक्षितां सुतां मत्वा शोकेन पञ्चत्वमगात्, भार्या च तस्य तमनुजगाम"।

इति कथाम् आख्याय वेतालस्तं नृपमपृच्छत्,—"राजन्! एत-

उसके गले से यह मुक्तावली छीन ली। लेकिन यह तपस्वियों के योग्य नहीं है, इसलिये इसे बेचने के लिये मैंने बाजार भेजा था"।

यह सुन कर उस नगराध्यक्ष ने राजा के पास जा कर वह सब समाचार निवेदन कर दिया। राजा ने भी वह सब सुन कर और उस मुक्तावली को देख कर, देखने के लिये भेजी गयी एक विश्वासपात्र वृद्धा स्त्री के मुख से पेंड़ू में प्रकट रूप से शूल का दाग लगी हुई उसी पद्मावती को सुन कर 'सत्य ही इस डाकिनी ने मेरे पुत्र को खा लिया है' ऐसा निश्चय करके स्वयं उस तापसवेषधारी मन्त्रिपुत्र के पास जा कर उस पद्मावती का दण्ड पूछ कर, उसके कहने के अनुसार उसके माता-पिता के विलाप करते रहने पर भी नगर से निकाल भगाने का दण्ड उसको दिया। नगर से निकाली हुई जङ्गल में स्थित होकर नङ्गी रहने पर भी उस पद्मावती ने वह सभी मन्त्रिपुत्र के कृत्य होने की सम्भावना करके शरीर त्याग नहीं किया। सायंकाल वे दोनों राजकुमार तथा मन्त्रिकुमार तपस्वी का वेष छोड़ कर घोड़ों पर चढ़ कर शोक में पड़ी हुई उस पद्मावती के पास पहुँचे और उसे घोड़े पर चढ़ा कर अपने राज्य में ले गये। और वहाँ आकर राजकुमार उस पद्मावती के साथ अत्यन्त सुख से रहने लगा। दन्तघाटक तो वन में हिंसक जानवरों के द्वारा पुत्री को खायी हुई समझ कर शोक से मर गया। उसकी पत्नी ने भी अनुमरण किया"।

यह कथा कह कर वेताल ने उस राजा से पूछा—महाराज! दन्तघाट

यसि ?"। इति राजपुत्रेण उक्तो मन्त्रिपुत्रस्तमभ्यधात्,—"देव! किं न दृष्टं त्वया यत् यत् तया संज्ञया सूचितम्? यत्तया कर्णे उत्पलं न्यस्तं, तेन एतत् सूचितं,—कर्णोत्पलस्य राज्ञः राष्ट्रे अहं निवसामीति। कृता च या दन्तरचना, तया एतत् सूचितं,—यथाऽहं तत्र दन्तघाटकस्य कन्येति। शिरसि पद्मं धृत्वा एतत् सङ्केतितं, यथाऽहं नाम्ना पद्मावतीति। हृदयार्पितहस्तया च तया,—त्वयि मे प्राणाः स्थिता इति सङ्केतितम्। अस्ति च कलिङ्गदेशे कर्णोत्पलो नाम नृपः। तस्य चित्तप्रसादकः महासमृद्धिमान् दन्तघाटकः सङ्ग्रामवर्द्धनो नाम प्रतिवसति, तस्य कन्यारत्नमियं पद्मावती नाम प्राणाधिकप्रियम्, एतत् लोकमुखात् मया विदितम्। तस्मात् मया तस्याः देशादिसङ्गिनी संज्ञा ज्ञाता।" इति तेन मन्त्रिपुत्रेणोक्तो राजपुत्रः तस्मै सुधिये तुतोष, जहर्ष च लब्धोपायः।

अथ स तेन मन्त्रिपुत्रेण सम्मन्त्र्य प्रियाऽर्थी पुनर्मृगयाव्याजेन तत् सरोऽगमत्। अर्द्धमार्गे च वाताश्ववेगात् सैनिकान् पार्श्वच-

---

राजकुमार के द्वारा कहे जाने पर मन्त्रिपुत्र ने उस राजकुमार को कहा—"स्वामी! क्या आप ने नहीं देखा? जो जो उसने इशारा से सूचित किया था? जो कि उसने कान के ऊपर उत्पल रक्खा, इससे यह सूचित किया कि—कर्णोत्पल राजा के राज्य में निवास करती हूँ। जो कि उसने अपने दाँतों को सजाया, इससे यह सूचित किया कि—वहाँ मैं दाँत बनाने वाले की लड़की हूँ। शिर पर पद्म रखकर सङ्केत किया कि मेरा नाम पद्मावती है। हृदय पर हाथ रखती हुई उसने यह सङ्केत किया कि—तुझ में मेरे प्राण बस गये हैं। कलिङ्ग देश में कर्णोत्पल नाम का राजा है। उसके मन को प्रसन्न करने वाला, बहुत बड़ा धनी, संग्रामवर्धन नाम का दाँत बनानेवाला वहाँ निवास करता है। उसी की पुत्री यह पद्मावती, कन्याओं में रत्न, उसके प्राणों से भी प्रिय है, यह लोगों के मुँह से मुझे मालूम हुआ है। इसी से मैंने उसके देश आदि की सूचना देने वाला इशारा समझ लिया"। उस मन्त्रिपुत्र के द्वारा यह कहे जाने पर वह राजकुमार उस बुद्धिमान् मन्त्रिपुत्र के ऊपर बहुत सन्तुष्ट हुआ तथा उसके प्राप्त करने का साधन मिल जाने से आनन्दित हो गया।

इसके बाद वह राजकुमार उस मन्त्रिपुत्र के साथ मन्त्रणा करके प्रियतमा की प्राप्ति के लिए फिर शिकार खेलने के बहाने से उस सरोवर पर गया। आधे ही रास्ते में पवन के समान घोड़े के वेग से सैनिकों को तथा साथ में

योर्दम्पत्योर्वधात् राजपुत्रस्य मन्त्रिपुत्रस्य वा पद्मावत्याः पातकं भवेत् ? त्वं हि बुद्धिमतां वरो दृश्यसे, तदत्र मे संशयं छिन्धि । यदि जानन्नपि मे तत्त्वं न वदिष्यसि, तदा ते मूर्द्धा निश्चितं शतधा स्फुटिष्यति, यदि च सदुत्तरं दास्यसि, तदाऽहं पुनस्तव स्कन्धात् तमेव शिंशपातरुमाश्रयिष्ये" इति ।

इत्युक्तवन्तं वेतालं राजा त्रिविक्रमसेनस्तं प्रत्यवादीत्,—योगेश्वर ! किन्ते अज्ञातम् ? तथाऽपि वच्मि,—एतेषां त्वयोक्तानां त्रयाणामपि नैव पातकं, केवलं कर्णोत्पलस्य राज्ञ एव तत् पातकं भवति" । वेतालः प्राह स्म,— राज्ञः को दोषः ? ते त्रयः तत्कारकाः ; हंसैः शालिषु जग्धेषु काकाः किमपराध्यन्ति ?" ततो राजाऽब्रवीत्,—ते त्रयोऽपि न दुष्यन्ति, मन्त्रिपुत्रस्य प्रभुकार्यमेव हितं, तदत्र सोऽपातकी, पद्मावतीराजपुत्रौ हि कामशराग्निना निर्दग्धौ अविचारज्ञौ, तस्मात् स्वार्थसम्पादनाददोषौ । राजा तु नीतिशास्त्रेषु सुशिक्षितोऽपि चारैः प्रजासु तत्त्वमनन्विष्यन् धूर्त्तचरितानि च जानन् अविचारं

तथा उसकी पत्नी के वध करने का पाप राजकुमार, मन्त्रिकुमार तथा पद्मावती इन तीनों में से किसको लगेगा ? तुम बुद्धिमानों में श्रेष्ठ मालूम हो रहे हो, तो इस विषय में मेरा सन्देह दूर करो । यदि जानते हुए भी तुम सत्य नहीं कहोगे तो तुम्हारा शिर निश्चय सौ टुकड़ों में फूट जायगा, और यदि सही उत्तर दोगे तो मैं तुम्हारे कन्धे पर से फिर उसी शीशम के पेड़ का आश्रय लूंगा" ।

ऐसा कहने वाले उस वेताल को राजा त्रिविक्रमसेन ने प्रत्युत्तर दिया— "योगेश्वर ! तुम्हारा अविदित क्या है ? तथापि कहता हूँ—तुम्हारे कहे हुए इन तीनों में किसी को भी पाप नहीं लगेगा, केवल कर्णोत्पल राजा को वह पाप लगेगा" । वेताल ने कहा—"राजा का कौन सा दोष ? वे तीनों तो उसके करने वाले थे । हंसों के द्वारा धान खाये जाने पर क्या कौए अपराधी होते हैं ?" । तब राजा ने कहा—"उन तीनों में कोई भी दोषी नहीं है, मन्त्रिपुत्र का तो स्वामी का कार्य कर्त्तव्य था, इस लिये वह निर्दोष है । पद्मावती तथा राजकुमार दोनों कामबाण की आग में जले हुए थे, अतः विचार करने में असमर्थ थे, अपना-अपना स्वार्थ सिद्ध करने में लगे हुए थे इस लिये ये दोनों भी निर्दोष हैं । राजा तो नीतिशास्त्रों में सुशिक्षित थे, धूर्तों का आचरण भी जानते थे फिर भी प्रजाओं में गुप्तचरों के द्वारा सच्ची बातों का बिना पता लगाये हुए उन्होंने बिना विचारे हुए कार्य किया । इस लिये वही

रानतीत्य तेनैव मन्त्रिपुत्रेण युतः कलिङ्गाभिमुखं ययौ। प्राप्य तन्नगरं कर्णोत्पलनृपतेः, अन्विष्य च दन्तघाटकस्य भवनं, दृष्ट्वा च तददूरे, वासार्थं कस्याश्चित् वृद्धाया योषितो गृहं तौ राजपुत्रमन्त्रिपुत्रौ प्राविशताम्। तत्र च वाहौ यवससलिलैः पूरयित्वा गुप्तमवस्थाप्य मन्त्रिपुत्रः तां वृद्धामपृच्छत्,—"वृद्धे ! कच्चित् अस्मिन् नगरे कमपि दन्तघाटकनामानं वेत्सि ?" तदाकर्ण्य सा जरती सादरं तमभाषत,—"वत्स ! सुष्ठु वेद्मि, तस्याहं धात्री अस्मि, तेनैवाहं पद्मावत्याः स्वदुहितुः पार्श्वे स्थापिता; किन्तु अहं तत्राधुना अपहृताम्बरा न गच्छामि, जातु कुपुत्रः कितवो मे वस्त्रं दृष्ट्वैव सद्यः हरेत्" इति। एवमुक्तवतीं तां हृष्टः मन्त्रिपुत्रः स्वोत्तरीयादिदानेन सन्तोष्य पुनरब्रवीत्,—"मातः ! त्वम् आवाभ्यां यद् यत् कथ्यते, तत्तत् सुगुप्तं कुरुष्व; तां दन्तघाटसुतां पद्मावतीं गत्वा वद,—'यस्त्वया सरसीतटे राजपुत्रो दृष्टः, सोऽत्र आगतः, तेनार्थिताऽहं त्वदन्तिकं प्रणयादायाता' इति"।

तदाकर्ण्य सा वृद्धा दानवशीकृता तदैव पद्मावतीपार्श्वं गत्वा

रहने वाले नौकरों को भी पीछे छोड़ कर उसी मन्त्रिपुत्र के साथ कलिङ्ग देश की ओर गया। कर्णोत्पल राजा के उस नगर में पहुँच कर और दाँत बनाने वाले का घर खोज कर उसके समीप में ही किसी वृद्धा स्त्री का घर देख कर वे दोनों राजकुमार तथा मन्त्रिकुमार निवास के लिये उस घर में प्रवेश किये। और वहाँ दोनों घोड़ों को घास और पानी से परिपूर्ण करके छिपा कर रख दिये, तब मन्त्रिपुत्र ने उस वृद्धा से पूछा—"हे वृद्धे ! क्या तुम इस नगर में किसी दन्तघाटक को जानती हो ?" यह सुनकर उस वृद्धा ने आदर के साथ उससे कहा—"बच्चे ! अच्छी तरह जानती हूँ, उसकी मैं दाई हूँ, उसी के द्वारा अपनी पुत्री पद्मावती के पास मैं रक्खी गई हूँ। किन्तु वस्त्र चोरी चले जाने से आजकल मैं वहाँ नहीं जाती हूँ। मेरा पुत्र कुपुत्र तथा धूर्त है कभी भी अच्छा वस्त्र देखता है तो चुरा लेता है"। यह कहने वाली उस वृद्धा को अपना दुपट्टा आदि देकर सन्तुष्ट करके प्रसन्न हो कर मन्त्रिपुत्र ने फिर कहा—"माता जी ! हम दोनों जो-जो कहते हैं वह काम तुम गुप्तरूप से करो; उस दन्तघाटक की पुत्री पद्मावती के पास जाकर कहो कि—"सरोवर के तीर में तुमने जिस राजकुमार को देखा था वह यहाँ आया है; उसी के द्वारा प्रार्थना किये जाने पर मैं तुम्हारे पास प्रेम के कारण आयी हूँ।"

यह सुन कर दान से वशीभूत हुई उस वृद्धा ने उसी समय पद्मावती के

कृतवानिति स एवात्र पातकी"। इति निशम्य स वेतालः तस्य राज्ञः दार्ढ्यं परीक्षितुं मायाबलात् तत्क्षणं तमेव शिंशपातरुमशिश्रियत्। राजाऽपि निःशङ्कः पुनरमुम् आनेतुं तत्रागात्।

पातकी है"। यह सुन कर उस वेताल ने उस राजा की दृढ़ता की परीक्षा लेने के लिये माया के बल से उसी समय उसी शीशम के पेड़ के पास चला गया। राजा भी निःशङ्क होकर फिर उसको लाने के लिये वहाँ गया।

अथ द्वितीयकथा

अथ स राजा त्रिविक्रमसेनः पुनस्तं वेतालमानेतुं शिंशपातरुमूलमगमत्। यावत्तत्र प्राप्तः समन्तात् वीक्षते स्म, तावत् तं वेतालं भूमौ कूजन्तं ददर्श। ततश्च तस्मिन् नृपे तं मृतदेहस्थं वेतालं स्कन्धमारोप्य जवात् तूष्णीमानेतुं प्रवृत्ते स्कन्धस्थितः स वेतालस्तमब्रवीत्,—"राजन्। महति अनुचिते क्लेशे पतितोऽसि, तस्मात् तव विनोदाय पुनः कथामेकां कथयामि, श्रूयताम्।—

अस्ति कालिन्दीतटे ब्रह्मस्थलाभिधः कश्चिदग्रहारः। तत्र अग्निस्वामीति समभवत् कश्चित् वेदपारगो विप्रः। तस्य अतिरूपवती मन्दारवती नाम कन्यका अजनि, यांनवान घंलावण्यांनिर्म्माय विधिर्नियतं निजं स्वर्गनारीपूर्वनिर्माणकौशलं जुगुप्सते। तस्यां शैशवातिक्रान्तायां कान्यकुब्जात् समसर्वगुणोपेतास्त्रयो ब्राह्मणदारकाः समाययुः। तेषामेकैकः आत्मार्थं तत्पितरं तामयाचत। तत्पिता प्राणात्ययेऽपि ताम-

---

दूसरी कथा

इसके बाद वह राजा त्रिविक्रम सेन फिर उस वेताल को लाने के लिये शीशम के पेड़ की जड़ में गया। वहाँ पहुँच कर जब चारों तरफ देखते हैं तब उस वेताल को जमीन पर पड़े हुए तथा अस्पष्ट शब्द करते हुए उन्होंने देखा। तब मृतशरीर में स्थित उस वेताल को कन्धे पर चढ़ा कर उस राजा के चुपचाप वेग से लाना प्रारम्भ करने पर, कन्धे पर स्थित उस वेताल ने उसको कहा—"महाराज! बहुत बड़े अनुचित क्लेश में पड़ गये हो, इस कारण से तुम्हारे मनोरञ्जन के लिये फिर एक कथा कहता हूँ, सुनो—

यमुना के किनारे ब्रह्मस्थल नामक कोई गाँव है। वहाँ कोई अग्निस्वामी नाम का वेद में पारंगत ब्राह्मण था। उसकी अत्यन्त सुन्दरी मन्दारवती नाम की कन्या हुई। नवीन तथा अपूर्व सौन्दर्य से युक्त उस कन्या को बनाकर विधाता ने अवश्य पूर्व में अपनी स्वर्गीय अप्सराओं के निर्माण करने की कला से घृणा की होगी। उसका बचपन व्यतीत होने पर कान्यकुब्ज देश से समान रूप से सभी गुणों से युक्त तीन ब्राह्मणकुमार आये। उन में से प्रत्येक ने अपने लिये उसके पिता से उस लड़की की याचना की। उसके पिता ने प्राणनाश

प्रियतमा कन्याऽभवत् । सा तु तेन समानधनयौवनकुलशालिने नेत्रचकोरामृतरश्मये समुद्रदत्ताख्याय बणिक्पुत्राय ताम्रलिप्तनिवासिने प्रदत्ता। कदाचित् सा स्वदेशस्थे पत्यौ, पितृगृहे स्थिता दूरात् कमपि पुरुषयुवानं कान्तविग्रहं ददर्श। दृष्ट्वैव सा चपला स्मरमोहिता गुप्तं सखीमुखेनानीतं प्रच्छन्नकामुकं तं भेजे। इत्थं प्रतिरात्रं सा तदेकासक्त-मानसा तेन सह रममाणा सुखं बुभुजे।

अथैकदा स तस्याः पतिः स्वदेशात् आगतः श्वशुरयोः परां प्रीतिमवर्द्धयत्। दिने च उत्सवेनातिक्रान्ते सा वसुदत्ता मात्रा कृतभूषणा निशि वासगृहं प्रेषिता शय्यास्थायिनं पतिं भेजे; तेन च रतिं प्रार्थिता सा अन्यमानसा अलीकसुप्तिकामकरोत्। क्रमेण सोऽपि पतिः पानमत्तः अध्वश्रान्तश्च निद्रया जह्रे। ततः सर्वस्मिन् भुक्तपीतजने क्रमेण सुप्ते कश्चित् चौरः सन्धिं भित्त्वा तस्मिन् वासगृहे प्राविशत्। सा च वणि-क्नन्दिनी तत्काले तमपश्यन्ती समुत्थाय स्वजारकृतसङ्केता निभृतं

प्राण से भी बढ़कर प्रिय वसुदत्ता नाम की कन्या थी। वह कन्या उस सेठ के द्वारा अपने समान धन तथा उच्चकुल वाले, ताम्रलिप्त नामक गाँव में रहनेवाले, बनियाँ के पुत्र, लोगों के नेत्ररूपी चकोर के लिये चन्द्रमा स्वरूप, समुद्रदत्त नामक युवक को दे दी गयी। किसी समय पति के अपने देश में रहने पर पिता के घर में रहती हुई इस वसुदत्ता ने दूर से किसी सुन्दर शरीर वाले युवक को देखा। देखते ही काममोहित होकर वह चञ्चला वसुदत्ता गुप्तरूप से उस छिपे हुए कामी को सखी के वचन के द्वारा बुलवा कर रमण करने लगी। इस प्रकार उसी में आसक्त मन वाली वह उसके साथ रमण करती हुई सुख भोग करने लगी।

इसके बाद एक दिन उसका वह अपना पति अपने देश से आया तथा अपने सास-श्वसुरों को अत्यन्त आनन्दित कर दिया। वह दिन तो उत्सव के द्वारा बीत गया, रात में वह वसुदत्ता माता के द्वारा आभूषण पहना कर पति के निवासगृह में भेज दी गयी जो कि शय्या पर रहने वाले पति के पास पहुँची। उस पति के द्वारा सम्भोग की प्रार्थना की गयी किन्तु अन्य के ऊपर मन रखने वाली उसने झूठ ही सो जाने का आकार बना लिया। क्रमशः रास्ते का थका हुआ वह पति भी शराब की नशा में सो गया। तब क्रमशः सभी लोगों के खा पीकर सो जाने पर किसी चोर ने सेन्ध काट कर उस वास गृह में प्रवेश किया। वह बनिये की पुत्री उस चोर को न देखती हुई उठ कर अपने जार के दिये हुए सङ्केत के अनुसार निकल गई। वह

न्यस्मै दातुमनिच्छन् तन्मध्यादेकस्मै दातुं मतिमकरोत्। सा तु कन्या अन्ययोर्बाधात् भीता कियन्तं कालं न पाणिमग्राहयत्। ते च त्रयोऽपि तस्याः मुखेन्दुनिक्षिप्तदृष्टयः चकोरव्रतमालम्ब्य दिवानिशं तत्रैव तस्थुः।

अथाकस्मात् समुत्पन्नेन ज्वरदाहेन आर्त्ता सा मन्दारवती पञ्चतामवाप। ततस्ते विप्रकुमारास्तां परासुं दृष्ट्वा शोकार्त्ता कृतप्रसाधनां श्मशानं नीत्वा अग्निसादकुर्वन्। ततश्च तेषामेकः तत्र मठं निर्माय तद्भस्मशय्यायां भैक्ष्येण जीवन्नतिष्ठत्। द्वितीयोऽस्थीनि तस्या उपादाय भागीरथ्यां निक्षेप्तुं जगाम। तृतीयस्तु तापसो भूत्वा देशान्तराणि भ्रमितुमगात्। स तु भ्राम्यन् तापसः वज्रालोकाभिधं ग्रामं प्राप्य कस्यापि विप्रस्य गृहे अतिथिरभूत्; तेन च गृहपतिना पूजितो यावत् तत्र भोक्तुं प्रावर्त्तत, तावत्तस्य एकः शिशुः रोदितुं प्रवृत्तोऽभवत्। स च शिशुः सान्त्व्यमानोऽपि यदा न व्यरंसीत् तदाऽस्य गृहीणी तं बाहावादाय ज्वलत्यग्नौ क्रुधा प्राक्षिपत्; क्षिप्त एव स कोमलाङ्गस्तत्क्षणात् भस्मसादभूत्। तदवलोक्य स तापसः सञ्जातरोमाञ्चः प्राब्र-

---

होने पर भी उन तीनों से अन्य को कन्या देना न चाहते हुए उन्हीं तीनों में से एक को देने का विचार किया। उस कन्या ने अन्य दोनों को कष्ट पहुँचने के भय से भीत हो कर कुछ दिनों तक अपना पाणिग्रहण नहीं कराया। और वे तीनों उसके मुख रूपी चन्द्रमा पर आँख लगाये हुए, चकोर का व्रत धारण करके दिनरात वहीं रहने लगे।

इसके बाद एकाएक उत्पन्न ज्वर की जलन से पीड़ित होकर वह मन्दारवती मर गयी। इसके बाद वे तीनों ब्राह्मणकुमार उसे मरी हुई देख कर शोक से पीड़ित होकर उसे आभूषणों से तथा पुष्पों से सजा कर श्मशान ले जाकर अग्निसंस्कार कर दिये। उनमें से एक वहीं पर मढ़ई बनाकर भिक्षा के द्वारा जीवन निर्वाह करते हुए उसकी भस्म की शय्या पर रहने लगा। दूसरा उसकी अस्थियों को लेकर गङ्गाजी में प्रवाह करने के लिये चला गया। तीसरा तपस्वी होकर अनेक देशों में भ्रमण करने के लिये गया। वह घूमने वाला तपस्वी वज्रालोक नामक गाँव में पहुँच कर किसी ब्राह्मण के घर में अतिथि हुआ। उस गृहस्वामी के द्वारा सम्मानित होकर वहाँ भोजन करने के लिये चला, तब तक एक बच्चा रोना प्रारम्भ किया। वह बच्चा सान्त्वना देने पर भी जब नहीं चुप हुआ तब उस ब्राह्मण की पत्नी ने क्रोध में उसके दोनों हाथ पकड़ कर जलती हुई आग में उसे फेंक दिया। वह कोमल अङ्गों वाला बच्चा आग

निरगात्। तदालोक्य स चौरः विघ्नितामिलाषो व्यचिन्तयत्,—"येषामाभरणानामर्थे अहं प्रविष्टः, तैरेवाभरणैर्वृता एषा निशीथे निर्गता, तत् क गच्छतीति द्रष्टव्यम्" इति पर्य्यालोच्य निर्गत्य च स चौरः तां वणिक्सुतामनुययौ।

साऽपि पुष्पादिसम्भारहस्तया सख्या संयुता गत्वा वाह्यमुद्यानं नातिदूरगं प्रविवेश, ददर्श च तत्र सङ्केतस्थानमागतं नगररक्षिभिश्चौरबुद्ध्या पाशं कण्ठे दत्त्वा निहत्य वृक्षे लम्व्यमानं तं प्रच्छन्नकामुकम्। सा तु तदवलोक्य विह्वला,—"हा! हताऽस्मि" इति वादिनी कृपणं विलपन्ती भूमौ पतात, रुरोद च। अथ तं निजकामुकं वृक्षादवतार्य्य उपवेश्य च गतासुम् अङ्गरागैरलङ्कारैः पुष्पैश्चालञ्चकार। यावच्च सा तस्य मुखम् (द) उन्नमय्य कामार्त्ता परिचुम्बति, तावत् स निर्जीवः कामुकः वेतालानुप्रविष्टः सन् दन्तैस्तस्या नासिकां चिच्छेद; तेन सा विह्वला तस्मात् प्रदेशात् सव्यथा अपसृताऽपि, —"अहो! किंस्वित् जीवत्यसौ?" इति पुनरेत्य यावत् पश्यति स्म, तावत् तं वीतवेतालं निश्चेष्टं पतितं मृतं निश्चित्य सा भीता परिभूता च रुदती शनैः गृहं प्रत्याजगाम। सचालक्षितः प्रच्छन्नस्थितश्चौरः सर्वमेतत् व्यलोकयदचि-

---

देख कर अभिलाषा में विघ्न होने पर वह चोर सोचने लगा—"जिन आभरणों के लिये मैंने यहाँ प्रवेश किया था उन आभरणों के पहने हुए यह दो पहर रात में ही निकल गयी है, तो कहाँ जाती है, यह देखना चाहिये" यह विचार करके निकल कर वह चोर भी उस बनिये की पुत्री के पीछे-पीछे गया।

वह भी फूल आदि सामग्री रखने वाली सखी से संयुक्त होकर वाहर जाकर थोड़ी ही दूरी पर एक बगीचे में प्रविष्ट हुई और वहाँ उसने सङ्केत स्थान पर आये हुए, और नगर-रक्षकों के द्वारा चोर समझ कर गले में फाँसी लगा कर मार कर पेड़ में लटकाए हुए उस गुप्तकामुक को देखा। वह तो यह देखकर व्याकुल होकर "हा! मैं तो मारी गयी" यह कहती हुई, दीन होकर विलाप करती हुई भूमि पर गिर गई और रोने लगी। इसके बाद अपने उस कामुक को वृक्ष से उतार कर बैठा कर उस मृतक को अङ्ग-लेपन द्रव्य पाउडर आदि से अलङ्कारों से तथा फूलों से उसने अलङ्कृत कर दिया। जब कामपीड़ित होकर वह उसका मुख उठा कर चूमने लगी तब प्रेत के प्रवेश करने से उस मृतक कामुक ने दाँतों से उसकी नाक काट ली। इससे व्याकुल तथा पीडित हो कर उस स्थान से दूर हट जाने पर

वीत्,—"हा धिक् ! कष्टं ! प्रविष्टोऽहं ब्रह्मराक्षसवेश्मनि, तस्मात् मूर्त्तं किल्विषमिदमन्नं नाधुना भक्षयामि"। एवंवादिनं तमतिथिं स गृहस्थः प्रत्यवादीत्,—"ब्रह्मन् ! पश्य मे पठितसिद्धस्य मृतसञ्जीवनीं शक्तिम्" इत्युक्त्वा पुस्तकमुद्धाट्य, तां विद्यां बहिष्कृत्य, अनुवाच्य च तस्मिन् भस्मनि जलमक्षिपत्; क्षिप्तमात्रे च जले स पुत्रस्तथैव जीवन्नुदतिष्ठत्। ततः स तापसः सुनिर्वृतस्तत्र सहर्षं बुभुजे। गृहस्थोऽपि स नागदन्तके पुस्तकमवस्थाप्य, भुक्त्वैव तेन तापसेन सह रात्रौ शयनमभजत।

अथ सुप्ते गृहपतौ स तापसः स्वैरमुत्थाय शङ्कितः स्वप्रियाया मन्दारवत्या जीवनार्थं तां पुस्तिकामग्रहीत्। गृहीत्वैव तस्मात् निर्गत्य रात्रिन्दिवं व्रजन् शनैस्तत् श्मशानमासदत्; अद्राक्षीच्च सहसा तं द्वितीयम् उपस्थितं, या हि गङ्गाऽम्भसि तदस्थि क्षेप्तुमगात्। अथ प्राप्य च तत्रस्थं तस्या भस्मनि शायिनं तृतीयं निबद्धमठं स तापसः प्रोवाच,—"मठिका त्यज्यतां भ्रातः ! प्रियां तामहमुत्थापयामि" इति।

में गिरते ही उसी समय भस्म हो गया। यह देख कर रोमाञ्चित होकर उस तपस्वी ने कहा—"अरे ! अरे ! मैंने तो ब्रह्मराक्षस के घर में प्रवेश किया, अतः यह अन्न तो प्रत्यक्ष पाप है मैं नहीं खाऊँगा"। ऐसा कहने वाले उस अतिथि को उस गृहस्थ ने कहा—"हे ब्राह्मण ! पढ़ने में मुझ सिद्ध पुरुष की सञ्जीवनी शक्ति देखिये" यह कह कर पुस्तक खोल कर उस विद्या को बाहर निकाल कर और पढ़ कर उस भस्म के ऊपर जल छिड़क दिया। जल के छिड़कते ही वह पुत्र उसी प्रकार जीवित होकर उठ कर खड़ा हो गया। तब उस तपस्वी ने शान्त होकर वहाँ प्रसन्नतापूर्वक भोजन किया। वह गृहस्थ भी खूंटी पर पुस्तक को रख कर भोजन करके उस तपस्वी के साथ रात में बिछौने पर सो गया।

इसके बाद गृहस्वामी के सो जाने पर उस तपस्वी ने धीरे से उठ कर सशङ्कित होते हुए अपनी प्रिया मन्दारवती के जीवन के लिये वह पुस्तिका ले ली। लेते ही वहाँ से निकल कर रात-दिन चलते हुए क्रमशः उस श्मशान में पहुँचा और एकाएक उस द्वितीय ब्राह्मण कुमार को भी वहाँ उसने उपस्थित देखा जो गङ्गा जी के जल में उसकी अस्थि फेंकने के लिये गया था। तब वहाँ जा कर उसकी भस्म के ऊपर मढ़ई बना कर निवास करने वाले तृतीय ब्राह्मणकुमार को कहा—"हे भाई ! इस मढ़ई को छोड़ दो; मैं उस प्रियतमा को जिलाऊँगा" तब उन दोनों के द्वारा आग्रह के साथ पूछा गया

न्तयच्च,—"अहो ! किमिदं पापया अनया कृतम् ? हा ! स्त्रीणामाशयः कथमीदृक् भीषणः ? तदिदानीमपि एषा किं नु कुर्य्यात् ?" इति विचिन्त्य कौतुकात् स चौरः भूयोऽपि दूरात् तामनुससार ।

सा च पापिनी गृहं प्रविश्यैव उच्चकैः प्ररुदती एवमब्रवीत्,—"परित्रायध्वं माम्, एतेन दुष्टेन भर्त्तृरूपेण शत्रुणा मम निरपराधाया नासिका छिन्ना" इति । ततः रोदनमाकर्ण्य सहसा तत्परिजनाः सर्वे ससम्भ्रमम् उदतिष्ठन्, पतिश्च प्रबुबुधे । अथ तत्पिता समेत्य तां छिन्ननासिकां दृष्ट्वा क्रुद्धस्तं जामातरं बन्धयामास । स च इतिकर्त्तव्यविमूढ़स्तदानीं बध्यमानोऽपि मूकवदतिष्ठत्, न किमपि प्राब्रवीत् । अथ क्रमेण सर्वेषु विबुद्धेषु शृण्वत्सु, तस्मिंश्च चौरे सर्ववृत्तान्तज्ञे तस्मादपसृते, गतायां शनैः शर्वर्य्यां, स वणिक्सुतः तेन श्वशुरेण राजान्तिकं नीतः ; सा च छिन्ननासा वसुदत्ता तत्राऽऽगता । राजा च

भी—'अरे ! क्या यह जीवित है ?' यह सोचती हुई फिर आकर जब देखती है, तब उस प्रेत के हट जाने से चेष्टारहित पड़े हुए को मृतक निश्चय कर के वह अपमानित तथा भयभीत होकर धीरे-धीरे रोती हुई घर लौट आई । अलक्षित होकर छिप कर बैठे हुए उस चोर ने यह सब वृत्तान्त देखा और सोचा—"अरे ! इस पापिनी ने यह क्या किया ? हाय ! स्त्रियों का हृदय ऐसा भयङ्कर क्यों होता है ? तो पता नहीं कि इतने पर भी यह क्या करेगी ?" यह सोच कर कुतूहलवश वह चोर दूर-दूर से ही फिर उसका अनुसरण करने लगा ।

वह पापिनी तो घर में प्रवेश करते ही जोरों से रोती हुई इस प्रकार कहने लगी—"अरे ! मेरी रक्षा करो; इस दुष्ट पतिरूपी शत्रु ने मेरी नाक काट ली है" । तब एकाएक रोदन सुन कर उसके चारों तरफ के सभी आदमी घबड़ाहट के साथ उठ गये । और पति भी जाग गया । इसके बाद उसके पिता ने आकर कटी हुई नाक वाली उस लड़की को देखकर क्रोधित होकर उस दामाद को बँधवाया । उसने तो कुछ भी कर्तव्य-निर्णय में असमर्थ होकर बाँधे जाते हुए भी गूंगे की तरह कुछ भी नहीं कहा । इसके बाद क्रमशः सभी के जाग जाने पर और समाचार सुन लेने पर, सब समाचार जानने वाले उस चोर के वहाँ से हट जाने पर धीरे-धीरे रात बीत जाने पर वह वैश्यकुमार उस श्वसुर के द्वारा राजा के समीप लाया गया; और वह कटी हुई नाक वाली वसुदत्ता भी वहाँ आई । राजा ने सब

ततः ताभ्यां निर्बन्धतः परिपृष्टः पुस्तिकामुद्घाट्य मन्त्रमनुवाच्य मन्त्र-पूतानि जलानि तस्मिन् भस्मनि प्राक्षिपत्; क्षिप्तमात्रेषु जलेषु सा मन्दारवती जीवन्ती सहसा समुत्तस्थौ। तदा सा कन्या वह्निं प्रणम्य निष्क्रान्ता पूर्वाधिकद्युतिः काञ्चनेनेव निर्मितं वपुर्बभार। तादृशीं तां पुनर्जीवितां वीक्ष्य त्रयोऽपि ते स्मरातुराः तत्प्राप्त्यर्थमन्योऽन्यं कलहं चक्रुः। एकेनोक्तम्—'इयं मन्मन्त्रबलात् जीविता, तदेषा ममैव भार्या'। अपरोऽब्रवीत्,—'मदीयेन तीर्थभ्रमणपुण्येन इयं जीविता, तदेषा ममैव भार्य्या'। तृतीयेन अभिहितं,—'मया भस्मानि रक्षितानि, तत एवेयं जीविता, तस्मात् ममैवेयं प्रणयिनी' इति।

हे महीपते! तेषां विवादनिर्णये त्वमेव शक्तः; तत् ब्रूहि, कन्याऽसौ कस्य एतेषां भार्य्या भवितुमर्हति? यदि जानन् मृषा वदिष्यसि, तदा ते मूर्द्धा विदलिष्यति"। इति वेतालादाकर्ण्य स राजा एवम् अभ्यधात्' —यः क्लेशेन मन्त्रमानीय एनामजीवयत्, स खलु पितृकार्य्य-करणात् न पतिः। यश्च तस्या अस्थीनि गङ्गायां क्षेप्तुं गतः, स पुत्रकार्य्यकरणात् न पतिः। यस्तु तद्भस्मशय्यां समाश्लिष्य तपश्चचार

वह पुस्तिका खोल कर मन्त्र पढ़ कर मन्त्र से पवित्र जल उस भस्म के ऊपर छिड़क दिया। जल के छिड़कते ही वह मन्दारवती एकाएक जीवित होकर उठ गयी। तब वह कन्या अग्नि को प्रणाम कर के बाहर निकली। सोने से बनाये हुए की तरह उसका शरीर पहले से भी अधिक कान्तियुक्त हो गया। उस प्रकार की उसे फिर जीवित देख कर वे तीनों ब्राह्मणकुमार कामपीड़ित होकर उसकी प्राप्ति के लिये परस्पर कलह करने लगे। प्रथम ने कहा—"यह मेरे मन्त्र के बल से जीवित हुई है, इसलिये यह मेरी पत्नी होगी"। दूसरे ने कहा—"मेरे तीर्थ भ्रमण करने के पुण्य से यह जीवित हुई है, इस लिये यह मेरी पत्नी होगी"। तीसरे ने कहा—"मैंने इसकी भस्म सुरक्षित रक्खी, उसी से यह जीवित हुई है, इसलिये यह मेरी ही प्रियतमा होगी"।

हे महाराज! उनके विवाद का निर्णय करने में तूँही समर्थ हो। तो कहो उस कन्या को इनमें से किस की पत्नी होनी चाहिये? यदि जानते हुए भी मिथ्या कहोगे तो तुम्हारा शिर टुकड़े टुकड़े हो जायगा"। यह वचन वेताल से सुन कर उस राजा ने ऐसा कहा—"जिसने क्लेश से मन्त्र लाकर इसे जिलाया वह तो पिता का कार्य करने से पति नहीं हो सकता है। और जो उसकी अस्थियों को गङ्गा में फेंकने के लिये गया वह भी पुत्र का कार्य करने से पति नहीं हो सकता है। जो कि उसकी भस्म की शय्या का आलि-

सर्वं वृत्तान्तं श्रुत्वा अयं स्वदारद्रोहीति निर्णीय तस्य वणिक्सूनोर्वधं समादिशत्।

ततस्तस्मिन् निरपाधे न किमपि विजानति बणिक्सुते सडिण्डिमं वध्यभूमिं नीयमाने स चौरः समुपगम्य राजपुरुषानभाषत,—"अकारणमयं कथं वध्यभूमौ नीयते? यथावृत्तमहं सर्वं वेद्मि, मां राजान्तिकं नयत, सर्वमहं वदिष्यामि" इत्युक्तवन्तं तं ते सर्वे राजपुरुषा राजान्तिकमनयन्। स च चौरः आमूलात् सर्वं रात्रिवृत्तान्तं राज्ञे न्यवेदयत्, अब्रवीच्च,—"देव! न चेत् मद्वचसि तव प्रत्ययः, तत् सा नासा तस्य शवस्य मुखे अद्यैव निरीक्ष्यताम्"। तत् श्रुत्वा वीक्षितुं भृत्यान् प्रेष्य, तेषाञ्च मुखात् सत्यमवेत्य स राजा तं वणिक्पुत्रं वधदण्डात् विमुच्य, तां दुष्टां वसुदत्तां कर्णावपि छित्त्वा, देशात् निरवासयत्, तञ्च तत्पितरं वणिजं सर्वस्वमदण्डयत्; तुष्टश्च तं चौरं पुराध्यक्षमकरोच्च।

राजपुत्र! इत्थं निसर्गविषमाः शठा योषितः" इति वदन्नेव शुकः चित्ररथो नाम गन्धर्वराजो भूत्वा इन्द्रशापक्षयात् दिव्यरूपमास्थाय

वृत्तान्त सुनकर 'यह स्वपत्नीद्रोही है' ऐसा निर्णय करके उस वैश्यपुत्र के वध करने का आदेश दे दिया।

तब कुछ भी नहीं जानने वाले निरपराध उस वैश्यपुत्र के डुग्गी बजाते हुए वध्यभूमि में ले जाने पर उस चोर ने आकर राजपुरुषों से कहा—'बिना कारण ही इसे क्यों वध्यभूमि में ले जाते हो? जो समाचार हुआ है, मैं सब जानता हूँ, मुझे राजा के पास ले चलिये मैं सब कुछ बता दूँगा"। ऐसा कहने वाले उसको वे सभी राजपुरुष राजा के पास ले गये। उस चोर ने शुरू से लेकर सम्पूर्ण रात्रि का समाचार राजाको निवेदन कर दिया। और कहा—"महाराज! यदि मेरी बातों पर आपका विश्वास न हो तो वह कटी हुई नाक उस मृतक के मुँह में अभी-अभी देख ली जाय"। यह सुन कर देखने के लिये नौकरों को भेज कर और उनके मुख से "सच्ची बात है" ऐसा जानकर उस राजा ने उस वणिक्पुत्र को वधदण्ड से मुक्त करके उस दुष्टा वसुदत्ता को दोनों कान भी काट कर देश से निकाल बाहर किया। उसके पिता उस बनियाँ का दण्ड के रूप में सर्वस्वहरण कर लिया तथा सन्तुष्ट होकर उस चोर को नगराध्यक्ष बना दिया।

"हे राजकुमार! इस प्रकार, स्वभाव से ही कठोर तथा नीच होती हैं स्त्रियाँ"। इतना कहते ही वह सुग्गा चित्ररथ नामक गन्धर्वराज होकर इन्द्र

श्मशान एव, स एवास्याः प्रणयिकार्य्यकरणात् पतिर्भवितुमर्हति" इति।

इत्थं नृपात् त्रिविक्रमसेनादाकर्ण्य स वेतालस्तस्य स्कन्धादतर्कितं स्वपदं प्रायात्। राजा च भिक्षुकार्य्यार्थं पुनस्तं प्राप्तुं मनो बबन्ध; प्राणात्ययेऽपि महासत्त्वाः प्रतिपन्नमर्थम् असाधयित्वा न निवर्त्तन्ते।

ङ्गन कर के श्मशान में ही तपस्या करता रहा वही प्रेमी का कार्य करने से इसका पति हो सकता है"।

त्रिविक्रम सेन राजा से इस प्रकार का वचन सुन कर वह वेताल उसके कन्धे पर से अचानक अपने स्थान पर चला गया। राजा ने भी संन्यासी के कार्य के लिये फिर उसको प्राप्त करने का निश्चय किया। महासाहसी पुरुष प्राण के नष्ट होते रहने पर भी स्वीकार किये हुए कार्य को विना पूरा किये हुए रुकते नहीं।

दिवमगात्। सा च सारिका सपदि सुराङ्गना तिलोत्तमा भूत्वा तथैव क्षीणशापा दिवमुदपतत्। तयोस्तु तस्यां सभायां विवादो न निर्णीतः"।

इत्याख्याय स वेतालस्तं नृपमपृच्छत्,—"राजन्! वदतु भवान्, पापाः पुरुषाः? उतः योषितः? जानतस्ते अकथयतः शिरः खण्डशः पतिष्यति" इति। एतत् स्कन्धवर्त्तिनो वेतालस्य वचनमाकर्ण्य स भूपतिस्तं योगीश्वरं वेतालमवादीत्,—"वेताल! कोऽपि च तादृक् पुरुषः क्वचित् कदाचित् दुराचारः, स्त्रियस्तु प्रायशः पापा दृश्यन्ते, श्रूयन्ते च"। इत्युक्तवतो नृपस्य स्कन्धात् प्राग्वत् स वेतालः क्वापि प्रणष्टोऽभूत्। राजा च पुनस्तदानयने यत्नमकरोत्।

के शाप के समाप्त हो जाने से स्वर्गीय रूप धारण कर के स्वर्ग चला गया। और वह मैना भी उसी समय तिलोत्तमा नामक अप्सरा होकर उसी प्रकार शापमुक्त होने से आकाश में उड़ गयी। उन दोनों के विवाद का निर्णय उस सभा में नहीं हो सका।

इतना कहकर वेताल ने उस राजा से पूछा—"महाराज आप कहिये कि—पुरुष पापी होते हैं? अथवा स्त्रियाँ? जानते रहने पर भी यदि नहीं कहियेगा तो आपका शिर टुकड़े-टुकड़े होकर गिर जायगा"। कन्धे पर रहने वाले उस वेताल का यह वचन सुन कर उस राजा ने उस योगिराज वेताल को कहा—"वेताल! कोई उस प्रकार का पुरुष कहीं किसी समय दुराचारी होता है; स्त्रियाँ तो प्रायः पापिनी देखी ही जाती हैं और सुनी ही जाती हैं"। यह कहने वाले उस राजा के कन्धे पर से पहले की तरह वह वेताल कहीं अदृश्य हो गया। और राजा फिर उसके लाने का यत्न करने लगे।



अथ तृतीयकथा

अथ राजा पुनरपि तं वेतालमानेतुं तं शिंशपातरुमभ्यगच्छत्, प्राप्य च तत्रस्थं मृतदेहगतं तं स्कन्धे गृहीत्वैव तूष्णीं गन्तुं प्रावर्त्तत। अथ प्रयान्तं तं स वेतालः पुनरवोचत्,—"राजन्! निशि गमागमं कुर्वन् नितरां खिद्यसे, अतस्त्वां विनोदयन् पुनः कथां वर्णयामि, शृणु,—

अस्ति पाटलिपुत्रं नाम भूमण्डलख्यातं नगरम्। पुराऽऽसीत् तत्र नृपतिः विक्रमकेशरी नाम, यं गुणानामिव रत्नानामाश्रयं विधिर्व्यधात्। तस्य विदग्धचूडामणिर्नाम दिव्यविज्ञानवान् सर्वशास्त्रवित् शापावतीर्ण एकः शुक आसीत्। तस्य नृपस्य आत्मजः शशी नाम शुकोपदेशेन मगधदेशनृपतिकन्यां चन्द्रप्रभां नाम उपयेमे। तस्या अपि राजपुत्र्याः तथाभूता ज्ञानविज्ञानशालिनी सोमिका नाम शारिकाऽभूत्; अथ तौ शारिकाशुकौ एकपञ्जरस्थौ राजवेश्मनि आस्ताम्।

तृतीयकथा

इसके बाद राजा फिर भी उस वेताल को लाने के लिये उस शीशम के पेड़ के पास गया और मृत शरीर में स्थित उस वेताल को प्राप्त करके कन्धे पर रखते ही चुपचाप चलना प्रारम्भ कर दिया। इसके बाद जाते हुए उस राजा को उस वेताल ने फिर कहा—"महाराज! रात में यातायात करते हुए अत्यन्त क्लेशित हो रहे हो, इसलिये तुम्हारा मनोरञ्जन करते हुए फिर कहानी कहता हूँ, सुनो—

भूमण्डल में प्रसिद्ध पाटलिपुत्र (पटना) नाम का नगर है। प्राचीन काल में वहाँ विक्रमकेशरी नामक राजा था, जिसको विधाता ने गुणों के समान ही रत्नों का आश्रय बनाया था। उसका विदग्धचूड़ामणि नाम वाला अलौकिक विज्ञान जानने वाला सभी शास्त्रों का ज्ञाता शाप से अवतार लिये हुए एक सुग्गा था। उस राजा के शशि नामक पुत्र ने सुग्गे के उपदेश से मगध देश के राजा की पुत्री चन्द्रप्रभा से विवाह किया। उस राजकुमारी की भी उसी प्रकार की ज्ञान से भरी हुई सोमिका नाम की मैना थी। विवाह के पश्चात् वे दोनों सुग्गा और मैना एक ही पिंजड़े में स्थित होकर राजभवन में रहने लगे।

अथ चतुर्थकथा

ततः स त्रिविक्रमसेनो नृपतिः पुनस्तस्य शिंशपातरोर्मूलं गत्वा निशि तं मुक्ताट्टहासं शवाधिष्ठितं वेतालं प्राप्य निष्कम्पः तथैव स्कन्धमारोप्य तस्य भिक्षोः सकाशमुदचलत्। तञ्च चलन्तम् अंसस्थः स वेतालः पुनरब्रवीत्,—"राजन् ! दुराचारस्य अस्य भिक्षोः कृते कोऽयं ते प्रयासः ? निष्फले अमुष्मिन् प्रयत्ने तव विवेको न दृश्यते; यद् भवतु, त्वद्भक्त्या तवाध्वश्रमविनोदिनीमपरामेकां कथां कथयामि, श्रूयताम् ,—

अस्ति शोभावती नाम यथार्थनाम्नी काऽपि नगरी, तस्यामभूत् शूद्रको नाम प्रभूतपराक्रमो महाप्रतापो नृपतिः। यस्य जयिनः प्रतापानलोऽनवरतं बन्दीकृतारिवनिताधूतचामरमारुतैः ज्वलति स्म। येन च अलुप्तधर्मचरणा स्फीता वसुन्धरा रामादीनपि भूपतीन् विसस्मार।

चौथी कथा

इसके बाद वह त्रिविक्रम सेन राजा फिर उस शीशम के पेड़ की जड़ में जाकर रात में मृतक पर आरूढ़ जोरों से हँसते हुए उस वेताल को प्राप्त करके निडर होकर उसी प्रकार कन्धे पर उठा कर उस बौद्ध संन्यासी के पास चल पड़ा। उस चलते हुए राजा के कन्धे पर स्थित वह वेताल फिर कहने लगा—"महाराज ! इस दुराचारी संन्यासी के लिये यह कौन सा तुम्हारा प्रयास है ? इस निरर्थक प्रयत्न में तुम्हारा ज्ञान नहीं दिखाई पड़ता है। जो कुछ होवे, तुम्हारी भक्ति से तुम्हारे रास्ते के परिश्रम को दूर करने वाली एक दूसरी कथा कहता हूँ, सुनो—

शोभावती नाम की सार्थक नामवाली कोई नगरी है। उसमें अत्यन्त पराक्रमी महाप्रतापी शूद्रक नाम का राजा था। जिस विजयी राजा का प्रताप रूपी आग बन्दी की गई शत्रु की पत्नी के द्वारा धारण किये हुए चामर की हवासे सतत प्रज्वलित होती थी। जिस राजा के द्वारा सञ्चालित धर्माचरण वाली समृद्धिशालिनी पृथ्वी राम आदि राजाओं को भी भूल गयी।

एकदा साभिलाषः स शुकस्तां शारिकामब्रवीत्,—"सुभगे ! एकशय्याऽऽसनाऽहारविहारेषु मां भज" इति। शारिकाऽब्रवीत्—"नाहं पुरुषसंसर्गं कर्त्तुमिच्छामि, यतः पुरुषा दुष्टाः कृतघ्नाश्च" इति। ततः शुकेन,—"न पुमांसो दुष्टाः, स्त्रिय एव दुष्टाः नृशंश हृदयाश्च" इति कथिते तयोर्विवादः समजनि। ततस्तौ पक्षिणौ क्रीतदासत्वक्रीतदासी-त्वपणं कृत्वा परस्परं विवादनिष्पत्तये राजपुत्रमुपेयतुः। स राजपुत्रः पितुः अस्थानगतः विवादपदं श्रुत्वा,—"कथं पुरुषाः कृतघ्नाः, ब्रूहि तत् त्वम्" इति शारिकामपृच्छत्। ततः सा,—"शृणोतु राजपुत्रः" इति समाख्याय स्वपक्षसमर्थनाय पुंदोषाख्यायिनीं कथां कथयितुमु-पचक्रमे।—

"अस्ति कामन्दकी नाम विख्याता नगरी; तस्याम् अर्थदत्तो नाम महाधनो वणिक् प्रतिवसति स्म। कालेन तस्य धनदत्तो नाम तनयः समुदपद्यत। अथ पितरि स्वर्गते स युवा द्यूतादिसङ्गेन भृशमुच्छृङ्खलोऽ-भवत्; धूर्त्ताश्च मिलिताः तं सर्वथा प्राभ्रंशयन्। दुर्जनसङ्गतिरेव व्यसनवृक्षस्य मूलम्। अचिरेण च व्यसनाऽऽसक्ततया क्षीणसर्वस्वः,

---

एक दिन वासना से युक्त होकर सुग्गे ने उस मैना को कहा—"हे सुन्दरि ! एक शय्यापर शयन करना, एक आसन पर बैठना, एक साथ भोजन करना, साथ-साथ विहार करना आदि कार्यों में मेरा साथ दो"। मैना ने कहा—"मैं पुरुष का सम्पर्क नहीं करना चाहती हूँ; क्यों कि पुरुष दुष्ट तथा कृतघ्न होते हैं।" तब सुग्गे के द्वारा "पुरुष दुष्ट नहीं होते हैं, स्त्रियां ही दुष्ट तथा क्रूर हृदयवाली होती हैं" यह कहे जाने पर उन दोनों में विवाद होने लगा। तब वे दोनों पक्षी आपस में खरीदा हुआ दास होने की तथा खरीदी हुई दासी होने की बाजी लगा कर विवाद का निर्णय करने के लिये राजकुमार के पास पहुँचे। पिता की सभा में बैठे उस राजकुमार ने विवाद का विषय सुनकर—"कैसे पुरुष कृतघ्न होते हैं ? यह तुम कहो" यह मैना से कहा। इसके बाद उस मैना ने—"राजकुमार सुनें" यह कह कर पुरुषों का दोष बताने वाली अतएव अपने पक्ष का समर्थन करने वाली कहानी कहना प्रारम्भ किया।—

"कामन्दकी नाम की प्रसिद्ध नगरी है। उस में अर्थदत्त नाम का महाधनवान् बनियां रहता था। कुछ दिनों के बाद उसका धनदत्त नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। अनन्तर पिता के स्वर्ग चले जाने पर वह युवक जूआ आदि की आसक्ति से अत्यन्त उद्दण्ड हो गया। धूर्त लोगों ने मिल कर उसे सब प्रकार से गिरा दिया। दुर्जनों की सङ्गति ही विपत्तिरूपी वृक्ष की जड़ है।

कदाचित् तं महीपालं प्रियशूरं सेवितुं मालवात् कश्चित् वीरवरो नाम क्षत्रियः समागात्; तस्य धर्मवती नाम भार्य्या, शक्तिधरो नाम सुतः, वीरवती नाम्नी कन्या आसीत्। सेवापरिच्छदस्तस्य त्रयमेव, कट्यां कृपाणिका, करे तरवारिः, अपरे च करे चर्म; एतावन्मात्रपरिच्छदपरीवारः स प्रत्यहं तं राजानं दीनारशतपञ्चकं वेतनं प्रार्थयामास। राजा च तम् आकारसूचितोदारपौरुषं मत्वा, तस्मै यथेप्सितां वृत्तिं ददाति स्म, स्थापयति स्म च कौतुकात् प्रच्छन्नं चारान् तत्पृष्ठतः 'किमेभिः प्रभूतैर्वेतनैरेष करोति?' इत्यन्वेष्टुम्।

स च वीरवरः प्रातः राजदर्शनं कृत्वा, मध्याह्ने धृतायुधः तस्य सिंहद्वारे स्थित्वा च स्ववृत्तिलब्धानां दीनाराणां शतं गार्हस्थ्यनिर्वाहाय भार्य्यायाः हस्ते प्रादात्; अपरेण च शतेन वस्त्रम् अङ्गरागं ताम्बूलादीनि च क्रीणाति स्म; अपरञ्च शतं स्नात्वा विष्णोः शिवस्य च पूजार्थं विनियुयोज; अन्यच्च शतद्वयं विप्रेभ्यः दरिद्रेभ्यश्च प्रादात्। एवं विभज्य प्रत्यहं तानि पञ्चशतानि स व्ययीचकार। ततश्च अग्निकार्यादिकं विधाय भुक्त्वा च निशि एकाकी तदेव सिंहद्वारं धृतकृपाण-

---

किसी समय वीरों के प्रेमी उस महाराज की सेवा करने के लिये मालव देश से कोई वीरवर नाम का क्षत्रिय आया। उसको धर्मवती नाम की पत्नी, शक्तिधर नाम का पुत्र और वीरवती नाम की कन्या थी। सेवा करने के साधन उसके तीन ही थे; कमर में कटार, हाथ में तलवार और दूसरे हाथ में ढाल। इतने मात्र साधन से संयुक्त होने पर भी उसने उस राजा से पाँच सौ अशर्फियां प्रत्येक दिन का वेतन मांगा। राजा ने भी आकृति से ही उसको अत्यन्त पराक्रमी समझ कर उसकी इच्छा के अनुसार ही वेतन दिया। और कुतूहलवश चुपचाप गुप्तचरों को 'इतने अधिक वेतन से यह क्या करता है?' यह पता लगाने के लिये उसके पीछे लगा दिया।

और वह वीरवर प्रातः काल राजा का दर्शन कर के दोपहर में अस्त्र धारण किये हुए उसके सिंहद्वार पर रह कर अपने वेतन में प्राप्त हुयी अशर्फियों में से एक सौ गृहस्थाश्रम निर्वाह के लिये पत्नी के हाथ में देता था द्वितीय सौ अशर्फी से वस्त्र, अङ्गराग, ताम्बूल आदि खरीदता था। तृतीय सौ अशर्फी स्नान कर के विष्णु तथा शिव की पूजा के लिये खर्च करता था। अवशिष्ट दो सौ अशर्फी ब्राह्मणों को और दरिद्रों को देता था। इस प्रकार विभाग करके वह पाँचो सौ अशर्फियों को प्रतिदिन खर्च कर देता था। इस के बाद होम आदि कर के और भोजन करके प्रतिदिन रात में अकेले ढाल-

दारिद्रय ेण च लज्जितः स्वदेशं त्यक्त्वा भ्रमितुं देशान्तराणि समाश्रयत्, गच्छंश्च चन्दनपुरं नाम नगरमाससाद, विवेश च भोजनार्थी कस्यापि वणिजः सदनम। स च वणिक् कुमारं दृष्ट्वा, पृष्ट्वा च कुलं, ज्ञात्वा च कुलीनं, सत्कृत्य च, दैवयोगात् प्राप्तममन्यत, अददाच्च तस्मै सधनां रत्नवतीं नाम सुताम्। ततः स धनदत्तः कृतविवाहस्तस्मिन्नेव श्वशुर-वेश्मनि तस्थौ।

गच्छत्सु च दिनेषु सुखेन विस्मृतदुर्गतिः पुनर्व्यसनोत्सुकः स्वदेशं गन्तुकामोऽभवत्। ततः स शठः कथमपि श्वशुरं तं तन्मात्रापत्यम् अनुनीय, तामलङ्कृतां भार्यां रत्नवतीमेकया वृद्धया स्त्रिया सहितां गृहीत्वा स्वदेशाय प्रतस्थे। क्रमेण अटवीं प्राप्य दूरात् तस्करभयमुक्त्वा तस्या भार्य्यायाः सर्वाणि अलङ्करणानि स्वीचकार। पश्यतु युवराजः, द्यूताऽऽवेशादिव्यसनिनां कृतघ्नानां हृदयं निस्त्रिंशकर्कशम्। स च पापात्मा अर्थार्थं तां गुणवतीमपि भर्य्यां हन्तुं तया वृद्धया युतां क्वापि श्वभ्रे न्यक्षिपत्। क्षिप्त्वैव तस्मिन् प्रस्थिते दुरात्मनि सा वृद्धा तस्मिन्नेव

बुरी आदतों में आसक्त होने से कुछ ही दिनों में सर्वस्व नष्ट हो जाने पर दरिद्रता से लज्जित होकर अपना देश छोड़ कर भ्रमण करने के लिये दूसरे देशों का उसने आश्रय लिया। जाते-जाते उसने किसी चन्दनपुर नामक नगर को प्राप्त किया तथा भोजन के लिये किसी बनिये के घर में प्रवेश किया। उस बनिया ने अविवाहित देख कर उसका कुल पूछ कर तथा कुलीन जान कर सत्कार कर के भाग्य संयोग से ही इसे पहुँचा हुआ समझा और उसको धन से संयुक्त की हुई रत्नवती नाम की पुत्री दे दी। तब वह धनदत्त विवाह करके श्वशुर के ही उसी मकान में रहने लगा।

कुछ समय बीतने पर सुख से वह अपनी दुर्गतियों को भूल गया तथा दुराचरण के लिये उत्सुक होकर अपने देश को जाने का इच्छुक हुआ। तब उस धूर्त ने एक मात्र उस सन्तान वाले अपने उस श्वशुर को अनुनय विनय के द्वारा मनाकर अलङ्कारों से सुसज्जित उस पत्नी रत्नवती को एक वृद्धा स्त्री के सहित लेकर अपने देश के लिये प्रस्थान किया। क्रमशः घोर जङ्गल में पहुँच कर दूर से ही चोरों का भय कह कर उस पत्नी के सभी आभूषणों को ले लिया। देखें युवराज! जूआ, वेश्या आदि दुराचरण वाले कृतघ्नों का हृदय तलवार की तरह कठोर होता है। उस पापी ने धन के लिये उस गुणवती पत्नी को भी मारने के लिये उस वृद्धा के साथ किसी खाई में ढकेल दिया। ढकेल कर उस दुष्ट के चले जाने पर वह वृद्धा तो उसी

चर्मा प्रत्यहं तस्थौ। एतत् सर्वं चारमुखात् श्रुत्वा राजा शूद्रकः भृशं तुतोष, निवारयामास च तान् चारान् पुनस्तस्य मार्गणे; मेने च विशेषपूजार्हं तं पुरुषातिशयम्।

अथ गच्छत्सु दिनेषु एकदा धारावर्षिणि दिवानिशं जलद-पटले गगनमावृण्वति, जनरहिते च समन्तात् राजमार्गे, एकाकी स वीरवरस्तस्मिन् सिंहद्वारे एवातिष्ठत्। स च राजा दिनपतावस्तं गते तादृशे भीषणे तमसि विजृम्भिते सधारावर्षे, तस्य वीरवरस्य भावं जिज्ञासुः निशि प्रासादाग्रमारुह्य जगाद,—"कोऽत्र सिंहद्वारि स्थितः ?" इति। तदाकर्ण्य,—"अहमेव स्थितः" इति वीरवरः प्रत्यवादीत्। "अहो ! महासत्त्वोऽयं वीरवरः मद्भक्तः, तदेष मया अवश्यमेव महत् पदं प्रापणीयः" इति सञ्चिन्त्य राजा प्रासादादवतीर्य्य अन्तःपुरं प्रविश्य शयनमगात्।

अन्येद्युश्च तथैव मेघेषु धाराऽऽसारान् वर्षत्सु निशायां, भुवने कालतमसि विजृम्भिते, राजा पुनश्च तद्भावं जिज्ञासुः प्रासादमधिरुह्य सिंहद्वारमभि—"कोऽत्र स्थितः ?" इति व्याजहार। वीरवरेण च,—

तलवार ले कर उसी सिंहद्वार पर रहता था। गुप्तचरों के मुख से यह सब सुन कर राजा शूद्रक अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ और फिर उस का पीछा करने के विषय में उन गुप्तचरों को रोक दिया। तथा उस विशिष्ट पुरुष को विशेष पूजा के योग्य समझने लगा।

इस के बाद कुछ समय बीत जाने पर एकबार रातदिन झरी लगा कर बरसने वाले बादलों के आकाश घेर लेने पर और सब जगह राजमार्ग के जनशून्य हो जाने पर अकेला ही वह वीरवर उस सिंहद्वार पर खड़ा था। उस राजा ने सूर्य के अस्त हो जाने पर, उस प्रकार के भयङ्कर जलधारा वर्षासहित अन्धकार के फैल जाने पर वीरवर की स्वामिभक्ति जानने का इच्छुक हो कर रात में कोठे के ऊपर चढ़ कर कहा—"इस सिंहद्वार पर कौन खड़ा है ?" यह सुन कर—"मैं ही खड़ा हूँ" यह वीरवर ने उत्तर दिया। "अरे ! यह वीरवर महासाहसी तथा मेरा भक्त है, तो यह मेरे द्वारा ऊँचा पद प्राप्त कराने योग्य है" यह सोच कर राजा महल के ऊपर से उतर कर रनिवास में प्रवेश करके बिस्तरे पर चला गया।

और दूसरे दिन उसी प्रकार झरी लगा कर मेघों के बरसते रहने पर रात में काले अन्धकार के भुवन भर फैल जाने पर राजा ने फिर उसकी स्वामि-भक्ति की परीक्षा लेने के लिये महल के ऊपर चढ़ कर सिंहद्वार की ओर—

व्यपद्यत; सा तु रत्नवती कथञ्चित् तत्र तृणगुल्मादिकमालम्ब्य करुणं क्रोशन्ती सशेषत्वादायुषः समुत्थिता, विक्षताङ्गी पदे पदे मार्गं पृष्ट्वा, यथाऽऽगतेनैव पथा कृच्छ्रात् पितुः सदनमागमत्।

"कथमकस्मात् त्वमीदृशी प्रत्यावृत्ता ?" इति ससम्भ्रमं माता पित्रा च पृष्टा सा साध्वी एवमभाषत,—"मुषिताः स्म पथि तस्करैः, नीतश्च बलात् स मे पतिः, वृद्धा सा श्वभ्रे निपत्य मृता, अहं पुनर्दैवात् प्राणिमि। केनचित् कृपालुना पथिकेनाहमुद्धृता श्वभ्रात्"। एवमुक्तवती माता पित्रा च शोचता समाश्वासिता सा भर्त्तृप्राणा रत्नवती तस्थौ।

अथ कालेनासौ धनदत्तः द्यूतेन क्षपितसर्वधनः पुनरचिन्तयत्,—"गच्छामि, पुनः श्वशुरगृहात् धनमानयामि, तत्र गत्वा तं श्वशुरं 'गृहे स्थिता कुशलिनी तव दुहिता' इति वक्ष्यामि"। इति स मनसि सङ्कल्प्य श्वशुरसदनं पुनरवाप। आगतञ्च तं दूरात् सा पतिप्राणा भार्य्या अद्राक्षीत्, दृष्ट्वैव धावित्वा च सा तस्य पापस्य पादयोर्निपत्य तत् सर्वं पितृभ्यां मृषा निवेदितं व्यजिज्ञपत्; दुष्टेऽपि पत्यौ साध्वीनां मानसं

में मर गयी। वह रत्नवती तो किसी प्रकार उसमें घास लता आदि पकड़ कर करुण स्वर से रोती हुई आयु के शेष रहने से बाहर निकल गयी। आघात से छिन्न-भिन्न शरीरवाली पग-पग पर रास्ता पूछ कर जैसे आई थी उसी रास्ते से बहुत मुश्किल से पिता के घर आ गयी।

"कैसे एकाएक तुम इस प्रकार लौट आई हो ?" यह, घबड़ाहट के साथ माता पिता के द्वारा पूछी गई उस पतिव्रता ने इस प्रकार कहा—"रास्ते में हम लोग चोरों द्वारा लूट लिये गये। मेरे पति को बलपूर्वक पकड़ कर वे लोग ले गये। वह वृद्धा खड्ढे में गिर कर मर गयी। मैं तो दैव संयोग से जी रही हूँ, किसी दयालु पथिक के द्वारा मैं खड्ढे से निकाली गयी हूँ"। ऐसा कहने वाली वह पतिव्रता रत्नवती शोक करने वाले माता पिता के द्वारा आश्वासित होकर रहने लगी।

कुछ समय के बाद धनदत्त ने जूआ में सब धन हार कर फिर सोचा—"जाता हूँ, फिर श्वशुर के घर से धन ले आता हूँ, वहाँ जाकर उस श्वशुर को 'घर में निवास करती हुई तुम्हारी पुत्री कुशल है' यह कहूँगा"। ऐसा उसने मन ही मन निश्चय कर के श्वशुर के घर पर पुनः उपस्थित हुआ। उस पतिव्रता पत्नी ने उसको दूर से ही आते हुये देख लिया, देखते ही दौड़ कर उसने उस पापी के पैरों पर गिर कर माता पिता को जो उसने झूठ बना कर कहा था वह सब बता दिया। पति के दुष्ट होने पर भी पति-

"अहं स्थितो देव !" इति प्रोक्ते स राजा भृशं विसिष्मिये, शुश्राव च तावदतिदूरे सहसा रुदतीं कामपि स्त्रियं वामस्वरेण; व्यचिन्तयच्च,—"केयं विषादविकलेव सप्रलापकरुणं विरौति ? राष्ट्रे च मम पराभवः नास्ति, न दरिद्रः, नापि कश्चित् दुःखितः, तदेषा का ?" इति । आदिदेश च करुणार्द्रचेताः तं वीरवरमधःस्थितं,—"भो वीरवर ! शृणु, एषा दूरे काऽपि रोदिति, किमर्थमसौ रोदिति, का चेयम् ? त्वया गत्वा एतत् निरूप्यताम्" इति ।

तदाकर्ण्य स वीरवरः "तथा" इत्युक्त्वा निबद्धासिधेनुः करतल-धृतकरवालश्च गन्तुं प्रावर्त्तत, नागणयत् तत् स्थूलधाराशिलावर्षि ज्वलद्विद्युद्विलोचनं नवमेघान्धकारम् । तञ्च तादृश्यां निशायां प्रस्थित-मेकाकिनं दृष्ट्वा करुणाकौतुकाऽऽविष्टो राजा प्रासादादवतीर्य्य गृहीतासिरेकाकी अनुपलक्षितः तमनुजगाम ।

सच वीरवरः रुदितमनुसरन् नगर्य्या वहिः सरोवरमेकं प्राप, ददर्श च तत्र,—"हा शूर ! हा कृपालो ! हा वदान्य ! त्वया शून्या

"कौन यहाँ है ?" यह कहा और वीरवर के द्वारा—"मैं हूँ महाराज ।" यह कहे जाने पर वह राजा अत्यन्त आश्चर्यित हुआ । उसी समय एकाएक अति दूर में करुण स्वर में रोती हुई किसी स्त्री को रुलाई सुनाई पड़ी । और राजा सोचने लगा—"विषाद से व्याकुल की तरह यह कौन है ? जो कि करुण स्वर में विलाप करती हुई रोती है । मेरे राष्ट्र में कोई किसी को पीड़ा नहीं देता है, न तो कोई दरिद्र या दुःखी ही है । तो यह कौन है ?" फिर दया से आर्द्रचित्त होकर नीचे खड़े हुए वीरवर को आदेश दिया—"हे वीरवर ! सुनो, यह दूर में कोई रोती है । किसलिये यह रोती है और यह कौन है ? तुम जाकर यह पता लगाओ ।

यह सुन कर वह वीरवर "जैसी आज्ञा" यह कह कमर में कटार बाँध कर, हाथ में तलवार लेकर चल दिया । उस सघन जलधारा तथा ओले बरसने वाले, प्रज्वलित विद्युल्लता की आँख वाले नवीन मेघों के अन्धकार की उसने गणना नहीं की । उस प्रकार की रात में उसको अकेले गये हुए देख कर दया और कुतूहल से भरे हुए उस राजाने महल से उतर कर तलवार लेकर अकेले ही अलक्षित हो कर उस का अनुसरण किया ।

वह वीरवर रोदन का अनुसरण करते हुए नगर से बाहर एक सरोवर के पास पहुँचा और वहाँ उसने देखा—"हा वीर ! हा कृपालु ! हा दानी !

नान्यथावृत्ति भवति। ततः स दुरात्मा निर्भयः श्वाशुरं गृहं प्रविश्य तं पादयोः प्रणनाम। स च तं जामातरं दृष्ट्वा अभ्यनन्दत्, अकरोच्च दिष्ट्याऽयं मे जामाता जीवन् चौरैर्मुक्तइति बन्धुभिः सह महोत्सवम्। ततः स धनदत्तः सुखेन श्वाशुरीं समृद्धिं भुञ्जानः तया रत्नवत्या पत्न्या सह रेमे।

एकदा स पापीयान् रात्रौ यच्चकार, तत् अवाच्यमपि कथाभङ्ग-भयात् कथ्यते, शृणु राजपुत्र! असौ पापमतिः विश्वस्तसुप्तां तां रत्नवतीं निशि हत्वा तदाभरणसञ्चयम् अपहृत्य अलक्षितः स्वदेशं प्रायात्। ईदृशाः पुरुषाः पापाः कृतघ्नाः"। इति शारिकया कथिते राजपुत्रः हसन्,—"त्वमिदानीं वद" इति शुकमभाषत। ततः स शुकः प्राब्रवीत्,—"देव! स्त्रियः विषमसाहसाः दुश्चरिताः पापाश्च; तथा चात्र कथामेकां वर्णयामि, शृणोतु कुमारः,—

अस्ति हर्षवती नाम नगरी। तत्राभूत् धर्मदत्तो नाम बहुकोटीश्वरो वणिजामग्रणीः; तस्य वसुदत्ता नाम्नी रूपेण असामान्या प्राणेभ्योऽपि

व्रताओं का मन अनुचित आचरण वाला नहीं होता है। तब उस दुष्ट ने निर्भय होकर श्वशुर के घर में प्रवेश करके उसके पैरों पर प्रणाम किया। उसने तो उस दामाद को देख कर स्वागत किया और 'भाग्य से मेरे यह दामाद चोरों के द्वारा जीवित ही छोड़ दिये गये'—इसलिये बन्धुओं के साथ मिल कर बहुत बड़ा उत्सव किया। तब वह धनदत्त सुखपूर्वक श्वशुर की समृद्धि का उपभोग करते हुए उस रत्नवती पत्नी के साथ रमण करने लगा।

एकबार उस पापी ने रात में जो किया वह अवक्तव्य होने पर भी कथा भङ्ग होने के भय से कहती हूँ सुनो—हे राजकुमार! उस पापबुद्धि ने रात में विश्वासपूर्वक सोई उस रत्नवती की हत्या कर के उसके आभूषणों को लेकर छिप कर अपने देश को चला गया। इस प्रकार पुरुष पापी तथा कृतघ्न होते हैं"। यह मैना के द्वारा कहे जाने पर हँसते हुये राजकुमार ने "अब तुम कहो" यह सुग्गे को कहा। तब उस सुग्गे ने कहा—"स्वामी! स्त्रियाँ तो कठोर साहस वाली, दुश्चरित्र तथा पापिनी होती हैं; उसी प्रकार की एक कहानी कहता हूँ, राजकुमार सुनें—

हर्षवती नाम की एक नगरी है। वहाँ धर्मदत्त नाम का अनेक करोड़ की सम्पत्ति वाला प्रधान बनियाँ रहता था। उसकी विशेष सौन्दर्यवाली

कथमहं वत्स्यामि ?" इत्येवं रुदतीं वारिमध्यवर्त्तिनीं कामपि स्त्रियम्। स च वीरवरः,—"का त्वम् ? कथं वा रोदिषि ?" इति विस्मितः सचकितमपृच्छत्। सा अभ्यधात्,—"भो वीरवर ! मां पृथिवीं जानीहि, अस्याश्च मम इदानीं धार्मिकः शूद्रको नाम राजा भर्त्ता; इतश्च तृतीये दिने तस्य राज्ञो मृत्युर्भविष्यति, तादृशमन्यं पतिं कथमवाप्नुयामिति शोकेन विधुराऽहं शोचामि" इति।

एतदाकर्ण्य स वीरवरस्त्रस्त इव तामब्रवीत्,—"देवि ! अस्ति कश्चिदस्य प्रतीकारः ? येनास्य जगत्प्रभो रक्षा स्यात् ?" इति। तस्य वचनमाकर्ण्य सा वसुमती प्रत्यभाषत,—"वत्स ! एक एवास्त्युपायः, कर्त्तुञ्च शक्तो भवान्" इति। वीरवरोऽवदत्,—देवि ! तद्वद द्रुतं, यावत् शीघ्रं तत् साधयामि ! अन्यथा कोऽर्थः प्राणैरस्माकम् ?"। तदाकर्ण्य धरित्री प्राब्रवीत्,—"वत्स ! त्वदन्यः कः प्रवरः स्वामिभक्तः ? तदस्य उपायं शृणु,—अस्य राजकुलस्यान्तिके राज्ञाऽनेन प्रतिष्ठापिता देवी चण्डिकाऽस्ति; तस्यै चेत् सत्वरं पुत्रमुपहारीकरोषि, तदा एष राजा न म्रियेत, अन्यत् शतं समा जीवेत्। अद्यैव चेत् भवता एतत् क्रियते, तदैव शिवं, नान्यथा" इति। पृथिव्या

तुमसे शून्य हो कर कैसे मैं रहूँगी ?" इस प्रकार रोती हुई पानी में स्थित किसी स्त्री को। उस वीरवर ने घबड़ा कर तथा आश्चर्यित हो कर—"तुम कौन हो ? तथा क्यों रोती हो ?" यह पूछा। उसने कहा—"हे वीरवर ! मुझे पृथ्वी समझो, मुझ पृथ्वी का इस समय धार्मिक राजा शूद्रक पति है। आज से तीसरे दिन उस राजा की मृत्यु होगी, 'उस प्रकार का अन्य पति कैसे प्राप्त करूँगी' इस शोक से व्याकुल हो कर मैं रो रही हूँ"।

यह सुनकर उस वीरवर ने भयभीत हो कर उससे कहा—"हे देवि ! इसका कोई प्रतिकार है ? जिससे इस राजा की रक्षा हो ? उसका वचन सुन कर उस पृथ्वी ने प्रत्युत्तर दिया—"वत्स एक ही उपाय है और तुम कर सकते हो"। वीरवर ने कहा—"देवि ! वह शीघ्र कहो, जिससे शीघ्र उसे करूँ, नहीं तो हमारे प्राणों का क्या प्रयोजन है ?" यह सुनकर पृथ्वी ने कहा—"पुत्र ! तुमसे अन्य कौन श्रेष्ठ स्वामिभक्त है ? तो इसका उपाय सुनो—इस राजभवन के समीप में इसी राजा के द्वारा स्थापित की हुई चण्डिका देवी हैं, उन्हीं को अगर शीघ्र ही अपना पुत्र बलिदान कर भेंट दे देते हो तो यह राजा नहीं मरेगा, इससे आगे सौ वर्ष जीवेगा। आज ही अगर तुम यह करते हो तभी कल्याण होगा, नहीं तो नहीं" पृथ्वी के द्वारा इस प्रकार

तथाऽभिहितः स वीरो वीरवरस्तदा,—"यासि देवि ! करोमि अधुनैव एतत्" इति प्रत्यवादीत्। वसुन्धरा च,—"भद्रं तेऽस्तु" इत्यभिधाय तिरोदधे। गुप्तमनुसृतः स राजा तत् सर्वं शुश्राव।

ततश्च गूढे तस्मिन् राजनि तद्भावं जिज्ञासमाने गच्छति स वीरवरस्त्वरितं गृहमगात्, आगत्य च तत्र पत्नीं धर्मवतीं विबोध्य तत् सर्वं वसुन्धराप्रोक्तमर्थं प्राब्रवीत्। साऽपि तदाकर्ण्य तं स्वामिनम् आह स्म,—"प्रभो ! शिवं भाव्यं चेत्, तदा शिशुमेनं प्रबोध्य भवानेव ब्रवीतु"। ततः स वीरवरस्तं सुतं बालं सुप्तं प्राबोध्य वृत्तान्तमाख्याय समवोचत्,—"पुत्र ! त्वयि चण्डिकादेव्या उपहारीकृते राजाऽसौ जीवति, नो चेत् तृतीयेऽह्नि विपत्स्यते"। तदाकर्ण्य बालोऽपि यथार्थं नाम दर्शयन् अकातरचित्तः सत्वरं पितरमवदत्,—"तात! यदि राजा मम प्राणैर्जीवेत्, तदाऽहं कृतार्थः, भुक्तस्य च तदन्नस्य परा निष्कृतिः प्रदत्ता स्यात्, तत किं विलम्बयते? शीघ्रं मां नीत्वा भगवत्या उपहारीकुरुष्व, मज्जीवनेन राज्ञोऽमङ्गलशान्तिर्भवतु"। इति तेनोक्तो वीरवरः सहर्षं,—"साधु! सत्यं त्वं मत्पुत्रः" इति तमभ्यनन्दयत्। तस्य भार्य्या

कहा हुआ उस वीर वीरवर ने उस समय—"हे देवि ! जाता हूँ, इसी समय यह करता हूँ" यह जवाब दिया। पृथ्वी भी—"तुम्हारा कल्याण होवे" यह कह कर अन्तर्धान हो गयी। छिप कर अनुसरण करते हुए उस राजा ने वह सब कुछ सुना।

इसके बाद उसका विचार जानने की इच्छा से गुप्त रूप से उस राजा के पीछे-पीछे जाने पर वह वीरवर अपने घर गया, और आकर वहाँ अपनी पत्नी धर्मवती को जगाकर वह सब पृथ्वी का कहा हुआ प्रयोजन कह दिया। उसने भी सुनकर स्वामी से कहा—"स्वामी ! यदि इससे कल्याण होगा तो आप ही इस बच्चे को जगा कर कहें"। तब वह वीरवर सोये हुए उस बालक पुत्र को जगा कर सब समाचार कह कर कहने लगा—"हे पुत्र ! तुम्हें चण्डिका देवी का उपहार बना देने पर यह राजा जीवित रहेगा, नहीं तीसरे दिन मर जायगा"। यह सुन कर बालक होने पर भी उसने अपने 'शक्तिधर' नाम को सार्थक बनाते हुए स्थिर हृदय से शीघ्र पिता से कहा—"पिता जी ! यदि राजा मेरे प्राणों से जी जाय तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगा और खाये हुए उसके अन्न का बदला भी सही नहीं चुकता हो जायगा। तो क्यों देरी कर रहे हैं? शीघ्र मुझे ले चल कर भगवती का उपहार बना दीजिये। मेरे जीवन के द्वारा राजा की अमङ्गल-शान्ति हो जाय"। ऐसा उसके कहने पर प्रसन्नता के साथ—"ठीक है, सही में तुम मेरे पुत्र हो" इस

अथ पञ्चमकथा

ततश्च स राजा त्रिविक्रमसेनः पुनः शिंशपातरोः अन्तिकमभ्येत्य, तथैव लम्बमानं नरशरीरगं तं वेतालमवतार्य्य तस्य बहुना वैकृतेनापि निर्भीकः सत्वरमागन्तुं प्रववृते। आगच्छन्तं तूष्णीं पथि पूर्ववत् स वेतालः प्रावदत्,—"राजन्! अभिनिविष्टोऽसि, दृष्टिप्रियोऽसि च; तत्तव चित्तविनोदाय कथामपरां कथयामि शृणु,—

अस्त्युज्जयिनी नाम भुवनविश्रुता नगरी; तस्यां पुण्यसेनो राजा अभूत्, तस्य प्रियोऽनुजीवी अमात्यो हरिस्वामीति सद्गुणालङ्कृतो विप्रः प्रतिवसति स्म। तस्य गृहपतेरनुरूपायां भार्य्यायां सुसदृशः देवस्वामी नाम पुत्रोऽजायत; एका च असामान्यरूपलावण्यविश्रुता सोमप्रभा नाम अन्वर्थनाम्नी कन्या उदपद्यत। सा एकदा शैशवाति-

---

पांचवींकथा

इसके बाद वह राजा त्रिविक्रमसेन फिर शीशम के पेड़ के समीप जाकर उसी प्रकार लटकते हुए नर-शरीर में स्थित उस वेताल को उतार कर उसके बहुत से भयोत्पादक विकारों से भी निर्भीक होकर शीघ्र ही आना प्रारम्भ किया। रास्ते में चुप-चाप आते हुए उस राजा को पूर्ववत् उस वेताल ने कहा—"महाराज! तुम आग्रही हो और देखने में प्रिय भी हो इसलिये तुम्हारे मनोरञ्जन के लिये एक दूसरी कथा कहता हूँ, सुनो—

सम्पूर्ण संसार में प्रसिद्ध उज्जयिनी नाम की नगरी है। उस में पुण्यसेन नाम का राजा था। उस का प्रिय सेवक मन्त्री अच्छे गुणों से युक्त हरि-स्वामी नाम का ब्राह्मण निवास करता था। उस गृहस्थ की अपने अनुरूप पत्नी के गर्भ से अपने ही समान देवस्वामी नाम का पुत्र पैदा हुआ और विशेष सौन्दर्य तथा लावण्य से प्रसिद्ध तथा सार्थक नाम वाली सोमप्रभा नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई। बचपन को बिताकर सौन्दर्य के अतिशय की

कथमहं वत्स्यामि ?" इत्येवं रुदतीं वारिमध्यवर्त्तिनीं कामपि स्त्रियम्। स च वीरवरः,—"का त्वम् ? कथं वा रोदिषि ?" इति विस्मितः सचकितमपृच्छत्। सा अभ्यधात्,—"भो वीरवर ! मां पृथिवीं जानीहि, अस्याश्च मम इदानीं धार्मिकः शूद्रको नाम राजा भर्त्ता; इतश्च तृतीये दिने तस्य राज्ञो मृत्युर्भविष्यति, तादृशमन्यं पतिं कथमवाप्नुयामिति शोकेन विधुराऽहं शोचामि" इति।

एतदाकर्ण्य स वीरवरस्त्रस्त इव तामब्रवीत्,—"देवि ! अस्ति कश्चिदस्य प्रतीकारः ? येनास्य जगत्प्रभो रक्षा स्यात् ?" इति। तस्य वचनमाकर्ण्य सा वसुमती प्रत्यभाषत,—"वत्स ! एक एवास्त्युपायः, कर्त्तुञ्च शक्तो भवान्" इति। वीरवरोऽवदत्,—देवि ! तद्वद द्रुतं, यावत् शीघ्रं तत् साधयामि ! अन्यथा कोऽर्थः प्राणैरस्माकम् ?"। तदाकर्ण्य धरित्री प्राब्रवीत्,—"वत्स ! त्वदन्यः कः प्रवरः स्वामिभक्तः ? तदस्य उपायं शृणु,—अस्य राजकुलस्यान्तिके राज्ञाऽनेन प्रतिष्ठापिता देवी चण्डिकाऽस्ति; तस्यै चेत् सत्वरं पुत्रमुपहारीकरोषि, तदा एष राजा न म्रियेत, अन्यत् शतं समा जीवेत्। अद्यैव चेत् भवता एतत् क्रियते, तदैव शिवं, नान्यथा" इति। पृथिव्या

तुमसे शून्य हो कर कैसे मैं रहूँगी ?" इस प्रकार रोती हुई पानी में स्थित किसी स्त्री को। उस वीरवर ने घबड़ा कर तथा आश्चर्यित हो कर—"तुम कौन हो ? तथा क्यों रोती हो ?" यह पूछा। उसने कहा—"हे वीरवर ! मुझे पृथ्वी समझो, मुझ पृथ्वी का इस समय धार्मिक राजा शूद्रक पति है। आज से तीसरे दिन उस राजा की मृत्यु होगी, 'उस प्रकार का अन्य पति कैसे प्राप्त करूँगी' इस शोक से व्याकुल हो कर मैं रो रही हूँ"।

यह सुनकर उस वीरवर ने भयभीत हो कर उससे कहा—"हे देवि ! इसका कोई प्रतिकार है ? जिससे इस राजा की रक्षा हो ? उसका वचन सुन कर उस पृथ्वी ने प्रत्युत्तर दिया—"वत्स एक ही उपाय है और तुम कर सकते हो"। वीरवर ने कहा—"देवि ! वह शीघ्र कहो, जिससे शीघ्र उसे करूँ, नहीं तो हमारे प्राणों का क्या प्रयोजन है ?" यह सुनकर पृथ्वी ने कहा—"पुत्र ! तुमसे अन्य कौन श्रेष्ठ स्वामिभक्त है ? तो इसका उपाय सुनो —इस राजभवन के समीप में इसी राजा के द्वारा स्थापित की हुई चण्डिका देवी हैं, उन्हीं को अगर शीघ्र ही अपना पुत्र बलिदान कर भेंट दे देते हो तो यह राजा नहीं मरेगा, इससे आगे सौ वर्ष जीवेगा। आज ही अगर तुम यह करते हो तभी कल्याण होगा, नहीं तो नहीं" पृथ्वी के द्वारा इस प्रकार

क्रान्ता रूपोत्कर्षाभिमानवती मातुर्मुखेन पितरं भ्रातरञ्च जगाद,—"शूराय ज्ञानिने विज्ञानिने वा अहं देया, अन्यस्मै दत्ताऽहं न जीवामि" इति ।

तदाकर्ण्य पिता तस्याः तादृशं वरं चिन्वन् यावत् चिन्तामलमापेदे, तावत् स पुण्यसेनेन राज्ञा दाक्षिणात्यस्य कस्यचित् नृपस्य अन्तिकं सन्धिविग्रहाय दौत्ये प्रहितः । तत्र च कृतकार्य्यं तं कश्चित् ब्राह्मणयुवा श्रुततद्दुहितृरूपसम्पत् अभ्येत्य तां सुतामयाचत। स च तमब्रवीत्,—"मत्सुता विज्ञानिनो ज्ञानिनो वा शूरात् अन्यं पतिं नेच्छति, तेषां मध्यात् भवान् कः! कथय" इति । ब्राह्मणोऽवदत्,—"अहं विज्ञानं जानामि"।"तर्हि तत् दर्शय" इति तेनोक्तः स विज्ञानी स्वयुक्त्या खेचरं रथं कल्पयामास, दर्शयामास च तत्र मायायन्त्ररथे तं हरिस्वामिनमारोप्य नीत्वा च स्वर्गादीन् लोकान्; आनिनाय च तुष्टं तं दाक्षिणात्यस्य नृपतेः कटकं, यत्र स स्वकार्य्यार्थमायात इति । ततः स हरिस्वामी तस्मै तां सुतां प्रतिशुश्राव, सप्तमेऽहनि च वैवाहिकलग्नं निश्चिकाय ।

अभिमान वाली इस कन्या ने एक बार माता के मुख से पिता और भाई को कहा—"किसी वीर को या किसी शास्त्र के अधिक ज्ञानी को अथवा किसी कला के वैज्ञानिक को मैं दी जाऊँ, यदि इन से अतिरिक्त किसी को दी जाऊँगी तो मैं नहीं जीऊँगी" ।

यह सुन कर उसके पिता उस प्रकार के वर को खोजते हुए जब इसकी अत्यन्त चिन्ता को प्राप्त हुए तब तक वह पुण्यसेन राजा के द्वारा किसी दक्षिण देश के राजा के पास सन्धि-विग्रह के दूत के रूप में भेजा गया। वहाँ कार्य पूरा हो जाने पर उसके पास पहुँच कर उसकी पुत्री का रूप-गुण सुनने वाले किसी ब्राह्मण युवक ने उस पुत्री को माँगा। उसने उसे कहा—"मेरी पुत्री किसी ज्ञानी या विज्ञानी अथवा शूरवीर से अतिरिक्त किसी को पति नहीं बनाना चाहती है, तो उन तीनों में से आप का हैं? यह कहिये"। उस ब्राह्मण ने कहा—"मैं विज्ञान जानता हूँ"। "तो वह दिखलाओ" यह उसके द्वारा कहे जाने पर उस विज्ञानी ने अपनी युक्ति से आकाश में उड़ने वाला रथ बनाया और उस माया के यन्त्र वाले रथ में उस हरिस्वामी को बैठा कर और ले जाकर स्वर्ग आदि लोकों को दिखलाया। और उसे सन्तुष्ट करके दाक्षिणात्य राजा के उसी शिविर में ले आया, जहाँ वह अपने कार्य के लिये आया था। तब उस हरिस्वामी ने उसको वह पुत्री देना स्वीकार कर लिया और सातवें दिन विवाह का लग्न स्थिर किया।

तथाऽभिहितः स वीरो वीरवरस्तदा,—"यामि देवि ! करोमि अधुनैव एतत्" इति प्रत्यवादीत्। वसुन्धरा च,—"भद्रं तेऽस्तु" इत्यभिधाय तिरोदधे। गुप्तमनुसृतः स राजा तत् सर्वं शुश्राव।

ततश्च गूढे तस्मिन् राजनि तद्भावं जिज्ञासमाने गच्छति स वीरवरस्त्वरितं गृहमगात्, आगत्य च तत्र पत्नीं धर्मवतीं विबोध्य तत् सर्वं वसुन्धराप्रोक्तमर्थं प्राब्रवीत्। साऽपि तदाकर्ण्य तं स्वामिनम् आह स्म,—"प्रभो ! शिवं भाव्यं चेत्, तदा शिशुमेनं प्रबोध्य भवानेव ब्रवीतु"। ततः स वीरवरस्तं सुतं बालं सुप्तं प्रबोध्य वृत्तान्तमाख्याय समवोचत्,—"पुत्र ! त्वयि चण्डिकादेव्या उपहारीकृते राजाऽसौ जीवति, नो चेत् तृतीयेऽह्नि विपत्स्यते"। तदाकर्ण्य बालोऽपि यथार्थं नाम दर्शयन् अकातरचित्तः सत्वरं पितरमवदत्,—"तात! यदि राजा मम प्राणैर्जीवेत्, तदाऽहं कृतार्थः, भुक्तस्य च तदन्नस्य परा निष्कृतिः प्रदत्ता स्यात्, तत किं विलम्बयते? शीघ्रं मां नीत्वा भगवत्या उपहारीकुरुष्व, मज्जीवनेन राज्ञोऽमङ्गलशान्तिर्भवतु"। इति तेनोक्तो वीरवरः सहर्षं,—"साधु ! सत्यं त्वं मत्पुत्रः" इति तमभ्यनन्दयत्। तस्य भार्य्या

कहा हुआ उस वीर वीरवर ने उस समय—"हे देवि ! जाता हूँ, इसी समय यह करता हूँ" यह जवाब दिया। पृथ्वी भी—"तुम्हारा कल्याण होवे" यह कह कर अन्तर्धान हो गयी। छिप कर अनुसरण करते हुए उस राजा ने वह सब कुछ सुना।

इसके बाद उसका विचार जानने की इच्छा से गुप्त रूप से उस राजा के पीछे-पीछे जाने पर वह वीरवर अपने घर गया, और आकर वहाँ अपनी पत्नी धर्मवती को जगाकर वह सब पृथ्वी का कहा हुआ प्रयोजन कह दिया। उसने भी सुनकर स्वामी से कहा—"स्वामी ! यदि इससे कल्याण होगा तो आप ही इस बच्चे को जगा कर कहें"। तब वह वीरवर सोये हुए उस बालक पुत्र को जगा कर सब समाचार कह कर कहने लगा—"हे पुत्र ! तुम्हें चण्डिका देवी का उपहार बना देने पर यह राजा जीवित रहेगा, नहीं तीसरे दिन मर जायगा"। यह सुन कर बालक होने पर भी उसने अपने 'शक्तिधर' नाम को सार्थक बनाते हुए स्थिर हृदय से शीघ्र पिता से कहा—"पिता जी ! यदि राजा मेरे प्राणों से जी जाय तो मैं कृतार्थ हो जाऊँगा और खाये हुए उसके अन्न का बदला भी सही सही चुकता हो जायगा। तो क्यों देरी कर रहे हैं ? शीघ्र मुझे ले चल कर भगवती का उपहार बना दीजिये। मेरे जीवन के द्वारा राजा की अमङ्गल-शान्ति हो जाय"। ऐसा उसके कहने पर प्रसन्नता के साथ—"ठीक है, सही में तुम मेरे पुत्र हो" इस

तस्मिंश्च काले उज्जयिन्याम् अन्येन द्विजकुमारेण तत्पुत्रो देवस्वामी तत्स्वसारमयाच्यत तेनापि,—"ज्ञानिविज्ञानिशूरेभ्यो नान्यं पतिं मे स्वसा कामयते" इति विज्ञापितः स आत्मानं शूरमभ्यधात्। ततो दर्शितशस्त्रास्त्रविद्याय तस्मै शूराय स देवस्वामी निजानुजां दातुं प्रतिपेदे; कृतनिश्चयश्च मातुः परोक्षं गणकवचनात् सप्तमेऽह्नि विवाहं निर्णिनाय च।

एतस्मिन्नन्तरे हरिस्वामिभार्य्या च केनाप्यपरेण द्विजयूना सुतां याचिता प्राब्रवीत्,—"वत्स! ज्ञानी विज्ञानी शूरो वा मम कन्यां वोढुमर्हति, नान्यः, तत् त्वमेतेषु कः? उच्यताम्" इति। सोऽब्रवीत्,—"अहं ज्ञानी" इति। ततः सा भूतं भविष्यञ्च पृष्ट्वा ज्ञानिनं निश्चित्य तस्मै सुतां दातुं तद्दिने सप्तमेऽह्नि प्रत्यश्रृणोत्।

अन्येद्युश्च हरिस्वामी समागत्य यथाकृतं सर्वं पत्न्यै पुत्राय च समाचख्यौ। सा च स च स्वं स्वं कृतं तत् सर्वं पृथक्-पृथक् तस्मै अवोचत्। इत्थं स हरिस्वामी त्रयाणां वराणां निमन्त्रणात् नितरां व्याकुलः समपद्यत।

उसी समय उज्जयिनी में दूसरे ब्राह्मणकुमार ने उसके पुत्र देवस्वामी से उसकी बहन की याचना की। उसके द्वारा भी—"ज्ञानी या विज्ञानी अथवा वीर से अन्य को मेरी बहन नहीं चाहती है" यह सूचित किये जाने पर उसने अपने को 'वीर' बताया। तब शस्त्र-अस्त्र की विद्या दिखलाये हुए उस देवस्वामी ने अपनी बहन देना स्वीकार कर लिया और निश्चय करके माता के परोक्ष में ही ज्यौतिषी के वचन से सातवें दिन विवाह का निर्णय कर लिया।

इसी बीच में हरिस्वामी की पत्नी ने किसी दूसरे ब्राह्मणकुमार के द्वारा पुत्री मांगी जाने पर कहा—"हे ब्राह्मणपुत्र! ज्ञानी या विज्ञानी अथवा कोई वीर मेरी पुत्री से विवाह कर सकता है, अन्य कोई नहीं। तो तुम इनमें से क्या हो? कहो"। उसने कहा—"मैं ज्ञानी हूँ"। तब उसने भूत तथा भविष्य बातें पूछ कर 'यह ज्ञानी है' ऐसा निश्चय करके उसको सातवें दिन पुत्री देने के लिये स्वीकार कर लिया।

दूसरे दिन हरिस्वामी ने आकर जो कुछ निर्णय किया था सब पत्नी को तथा पुत्र को कह दिया। उसकी पत्नी ने तथा पुत्र ने अपना-अपना निर्णय अलग-अलग उसे बताया। इस प्रकार वह हरिस्वामी तीनों वरों के आमन्त्रण से अत्यन्त व्याकुल हो गया।

धर्म्मवती, कन्या वीरवती च तस्यां रात्रौ ताभ्यां वीरवरशक्तिधराभ्यां सह चण्डिकागृहे ययतुः। राजाऽपि छन्नवेशः तान् पृष्ठतोऽलक्षितः समनुससार।

तत्र देव्याः पुरः पित्रा स्कन्धादवतारितः स शक्तिधरः देवीं प्रणम्य धैर्य्यराशिः कृपाञ्जलिर्न्यवेदयत्,—"देवि ! मम शिरस उपहारेण राजाऽसौ अन्यत् शतं वत्सरान् जीवन् अकण्टकं राज्यं करोतु"। इत्येवं प्रार्थयतस्तस्य सूनोः शक्तिधरस्य शिरश्छित्त्वा वीरवरः चण्डिकायै,—"मत्पुत्रोपहारेण राजा जीवतु" इति वदन् प्रददौ। तत्क्षणम् अन्तरिक्षात् वागुदचरत्,—"कस्त्वदन्यः स्वामिभक्तः ? भो वीरवर ! येन त्वया एकमात्रपुत्रेण तथाविधसत्पुत्रप्राणव्ययिना अस्य भूपतेः जीवनं राज्यञ्च दत्तम्" इति।

तच्च सर्वं तस्मिन् नृपे पश्यति शृण्वति च तस्य वीरवरस्य कन्या वीरवती तस्य भ्रातुर्निहतस्य मूर्द्धानमाश्लिष्य शोकान्धा स्फुटितहृदया तत्क्षणात् व्यपद्यत। ततो भार्य्या धर्मवती वीरवरमब्रवीत्,—"नाथ ! राज्ञस्तावत् श्रेयः कृतम्; इदानीमहं वदामि, दृष्टा त्वया, कन्याऽपि मे

रूप में उसका अभिनन्दन किया। उसकी पत्नी धर्मवती तथा कन्या वीरवती उस रात में उन दोनों वीरवर और शक्तिधर के साथ चण्डिका के मन्दिर में गयीं। राजा ने भी गुप्तरूप से उनसे अलक्षित होकर उन लोगों का अनुसरण किया।

वहाँ देवी के सामने पिता के द्वारा कन्धे से उतारा हुआ धैर्यशाली उस शक्तिधर ने देवी को प्रणाम करके हाथ जोड़ कर निवेदन किया—"हे देवि ! मेरे सिर के उपहार से वह राजा अतिरिक्त सौ वर्ष तक जीवित रह कर अकण्टक राज्य करे" इस प्रकार प्रार्थना करते हुए उस पुत्र शक्तिधर का शिर काट कर उसने चण्डिका को—"मेरे पुत्र के उपहार से राजा जीवित रहें" यह कहते हुए चढ़ा दिया। उसी समय आकाश से शब्द हुआ—"तुमसे अन्य कौन स्वामिभक्त है ? हे वीरवर ! एकमात्र पुत्र होते हुए भी उस प्रकार के सत्पुत्र का प्राणघात करते हुए तुमने इस राजा को जीवन तथा राज्य दिया है"

यह सब उस राजा के देखते तथा सुनते रहने पर उस वीरवर की पुत्री वीरवती उस मरे हुए भाई के सिर का आलिङ्गन करके शोक से अन्धी बनी हुई हृदय फूट जाने से उसी समय मर गयी। तब पत्नी धर्मवती ने वीरवर से कहा—"नाथ ! राजा का तो कल्याण किया। इस समय मैं

अथ सप्तमे दिने आगते ते त्रय एव वराः हरिस्वामिनो गृहमाययुः। चित्रमहो! तत्कालं सा सोमप्रभा कापि गता। तदाकर्ण्य ज्ञानी अवदत्,—"राक्षसेनापहृत्य धूम्रशिखाऽऽख्येन विन्ध्याटव्यां निजां वसतिं नीता"। इति ज्ञानिनाऽऽभिहितो हरिस्वामी भीतः तं विज्ञानिनम् उपायं पप्रच्छ। स च पूर्ववत् सर्वास्त्रसंयुतं रथं कृत्वा तं हरिस्वामिनं तौ च ज्ञानिशूरौ तत्क्षणं विन्ध्याटवीं प्रापयामास। तत्र ज्ञानिना समाख्यातां तस्य राक्षसस्य वसतिं प्राप्य, स शूरः हरिस्वामिना सह तं राक्षसं क्रुद्धं ज्ञातवृत्तान्तनिर्गतं योधयामास। तदा तयोर्मानुषराक्षसयोः चित्रास्त्रयोधिनोः रामरावणयोरिव स्त्र्यर्थं महत्, युद्धमवर्त्तत, क्षणेन च स शूरः सङ्ग्रामदुर्धरस्यापि तस्य रक्षसः शिरः अर्द्धचन्द्रेण बाणेनाच्छिनत्। अथ रक्षसि हते प्राप्तां तां सोमप्रभामादाय विज्ञानिरथेन ते सर्वे ततः उज्जयिनीं प्रत्यागमन्।

अथ हरिस्वामिगृहप्राप्तानां तेषां त्रयाणां लग्ने सम्प्राप्ते महान् विवादः प्रादुरभूत्। ज्ञानी अवदत्,—"यद्यहम् इमां ज्ञानबलेन न जानीयां, तदा कथमियं गूढस्था प्राप्येत? अतः मह्यमेवैषा देया" इति।

इसके बाद सातवें दिन वे तीनों वर हरिस्वामी के घर आ गये। आश्चर्य तो यह हुआ कि उसी समय वह सोमप्रभा कहीं चली गयी। यह सुन कर ज्ञानी ने कहा—"धूम्रशिख नामक राक्षस इसे अपहरण करके बिन्ध्याचल के जङ्गल में अपने निवास स्थान पर ले गया है"। ज्ञानी के द्वारा यह कहे जाने पर भयभीत होकर हरिस्वामी ने उस विज्ञानी से उपाय पूछा। उसने पहले की तरह सभी अस्त्रों से परिपूर्ण रथ बना कर उस हरिस्वामी को उन दोनों ज्ञानी तथा शूर को उसी समय बिन्ध्याचल के जङ्गल में पहुँचा दिया। वहाँ ज्ञानी के द्वारा कहे हुए उस राक्षस के निवास-स्थान पर पहुँच कर हरिस्वामी के साथ उस वीर ने समाचार जानने से क्रोधित उस राक्षस से युद्ध किया। तब राम-रावण की तरह विचित्र अस्त्रों से युद्ध करने वाले उन दोनों मनुष्य और राक्षस का स्त्री के लिये बहुत बड़ा युद्ध हुआ। कुछ ही क्षण में उस वीर ने युद्ध में दुर्धर्ष होने पर भी उस राक्षस का शिर अर्धचन्द्र बाण से काट डाला। फिर राक्षस के मारे जाने पर मिली हुई उस सोमप्रभा को लेकर विज्ञानी के रथ से वे सभी वहाँ से उज्जयिनी लौट आये।

इसके बाद हरिस्वामी के घर पहुँचे हुए उन तीनों वरों का लग्न के समय में बहुत बड़ा विवाद उत्पन्न हुआ। ज्ञानी ने कहा—"यदि मैं ज्ञान के बल से इसे न जान लेता तो गूढ़ स्थान में स्थित यह कैसे प्राप्त होती? अतएव मुझे ही यह मिलनी चाहिये"। विज्ञानी ने कहा—"यदि मैं आकाशचारी

शोकात् मृता, तदिदानीं नष्टापत्याया मे जीवितेन किम् ? प्रागेव मूढया मया राज्ञः श्रेयोऽर्थं स्वशिरः उपहर्त्तव्यमासीत्, तदधुना अनुज्ञां देहि, अहं शीघ्रम् अनलं प्रविशामि"। इति आग्रहेण वदन्तीं तां वीरवरोऽवदत्,—"एवं कुरुष्व, अपत्यदुःखैकमये जीवितव्ये का प्रीतिः ? यच्च त्वयोक्तं,—'किं न दत्तो मयाऽऽत्मा' इति, तदत्र व्यथां मा कुरु, यदि अन्यसाध्यमेतद्राज्ञः श्रेयो भवेत्, तदाऽहमपि किम् आत्मानं न दद्याम् ? तत् प्रतीक्षस्व तावत्, अमीभिर्दारुभिस्ते चितां रचयामि"। इत्युक्त्वा चितायां तेन सज्जितायां ज्वलन्त्यां धर्मवती पत्युः पादयोः पतित्वा तां चण्डीं देवीं प्रणम्य व्यजिज्ञपत्,—"देवि ! जन्मान्तरेऽपि अयमेव मे पतिर्भूयात्, अस्य च प्रभोः शूद्रकस्य मदीयेनात्मजेन शिवम्" इति समुदीर्य्य, तस्मिन्नेव ज्वालामालिनि अनले देहं न्यक्षिपत्।

ततश्च स वीरवरश्चिन्तयामास,—"निष्पन्नं मे राजकार्य्यं, दिव्यवाण्या विज्ञातं, भुक्तस्य च राजान्नस्य साम्प्रतमनृणोऽस्मि, तदिदानीमेकस्य मम केयं जीवनतृषा ? भरणीयं सर्वं कुटुम्बकं व्ययीकृत्य

कहती हूँ। तुम ने देखा है, मेरी पुत्री भी शोक से मर गयी। तो अब मुझ नष्ट सन्तति वाली के जीवन से क्या प्रयोजन ? पहले ही मुझ मूर्खा को राजा के कल्याण के लिये अपना शिर उपहार करना था; तो अब आज्ञा दो, मैं अग्नि में प्रवेश करती हूँ"। यह आग्रह के साथ कहती हुई उसको वीरवर ने कहा—"ऐसा करो, सन्तति के दुःख से भरे हुए जीवन में कौन सा प्रेम है ? जो कि तुमने यह कहा कि– 'क्यो नहीं मैं ने अपने आप को दे दिया'। तो इस विषय में तुम व्यथा मत करो, यदि अन्य के द्वारा राजा का यह कल्याण होता तो क्या मैं भी अपने आप को नहीं दे देता ? तो तब तक प्रतीक्षा करो, जब तक इन लकड़ियों से तुम्हारे लिये चिता बना देता हूँ" यह कह कर उसके द्वारा चिता बना देने पर तथा आग प्रज्वलित हो जाने पर धर्मवती ने पति के पैरों पर गिर कर उस चण्डिका देवी को प्रणाम कर के निवेदन किया– "देवि ! दूसरे जन्म में भी यही मेरे पति होवें और इस राजा शूद्रक का मेरे पुत्र के द्वारा कल्याण होवे" यह कह कर ज्वाला से लपटते हुए उसी आग में शरीर को गिरा दिया।

तब वीरवर ने सोचा—"मेरे लिये राजा का कर्तव्य तो पूरा हो गया, यह आकाशवाणी से ज्ञात हो गया। खाये हुए राजा के अन्न से अब मैं उऋण हो गया हूँ। इस समय मुझ अकेले का यह जीवन-लोभ कैसा ?

विज्ञानी अवोचत्,—"यद्यहं व्योमरथं न कुर्य्यां, तदा देवानामिव तत्र गतागतं कथं तत्क्षणं स्यात्? कथं वा तेन रथिना रथयुद्धं स्यात्? तस्मान्मह्यमेवेयं दातव्या" इति। शूरोऽब्रवीत्,—"यद्यहं तं राक्षसं रणे न हन्यां, तदा युवाभ्यां यत्ने कृतेऽपि क एनामानयेत्? तन्मह्यमेव कन्येयं दातव्या"। इति तेषु विवदमानेषु हरिस्वामी क्षणमुग्धभ्रान्त-मानसस्तूष्णीमासीत्"।

इति कथामाख्याय वेतालः राजानं पप्रच्छ,—"राजन्! एतेषु कस्मै सा देयेति भवान् वदतु, यदि जानन् न वदिष्यति, तदा ते मूर्द्धा शतधा स्फुटिष्यति"। इति वेतालवचः समाकर्ण्य राजा मौनं विहाय प्रत्यभाषत,—"शूराय सा प्रदातव्या, येन देहपणोद्यमात् बाहुबलेन तं राक्षसं जित्वा कन्या समुपार्जिता; ज्ञानिविज्ञानिनौ तु विधात्रा अस्य सहायौ नियोजितौ। पश्य, गणकतक्षाणौ किं परोपकरणाय न?"। इति मनुजपतेर्वाचं निशम्य स वेतालः सपदि तस्य स्कन्धात् निजं निलयम-गमत्, राजाऽपि तमानेतुं पुनः कृतोद्यमस्तमेव शिंशपातरुमभिजगाम।

रथ नहीं बनाता तो देवताओं की तरह वहाँ उसी समय गमन तथा आगमन कैसे होता? और उस रथवाले राक्षस के साथ रथयुद्ध कैसे होता? इसलिये मुझे ही यह दी जानी चाहिये"। शूर ने कहा—"यदि मैं युद्ध में उस राक्षस को न मारता तो तुम दोनों के द्वारा यत्न किये जाने पर भी कौन इसे ले आता? इसलिये मुझे ही यह कन्या दी जानी चाहिये"। इस प्रकार उन तीनों के विवाद करते रहने पर हरिस्वामी उस समय विमूढ तथा चञ्चल-मानस होकर चुप रह गये।"

यह कथा कह कर वेताल ने राजा से पूछा—"महाराज! इन तीनों में किसको वह दी जाय? यह आप बताइये। यदि जानते हुए भी नहीं कहियेगा तो आप का शिर सैकड़ों टुकड़ों में फट जायगा"। यह वेताल का वचन सुन कर वह राजा मौन त्याग कर जवाब देने लगा—"शूर को वह कन्या दी जानी चाहिये। जिसने शरीर की बाजी लगाने के प्रयत्न से बाहुबल के द्वारा उस राक्षस को जीत कर कन्या का उपार्जन किया। ज्ञानी और विज्ञानी तो विधाता के द्वारा इसके सहायक के रूप में नियुक्त किये गये थे। देखो, ज्योतिषी और बढ़ई क्या दूसरों के उपकरण नहीं होते हैं?

राजा का वचन सुनकर वह वेताल उसी समय उस के कन्धे से अपने निवास-स्थान पर चला गया। राजा भी उसके लाने का फिर उद्योग करते हुए उसी शीशम के पेड़ के पास पहुँचे।

●

एकमात्मानं जीवयन् मादृशो न शोभते; तत् किम् आत्मोपहारेण अम्बिकां न प्रीणयामि ?" इत्यालोच्य स वीरवरस्तां देवीं प्रथमं स्तुत्या उपतस्थे,—"जय महिषासुरमर्दिनि ! तारिणि ! दानवदारिणि ! त्रिशूलधारिणि ! विबुधोत्सवकारिणि ! भुवनत्रयधारिणि ! जय मातृवरे ! जगदर्चितचरणे ! शरण्ये ! निःश्रेयसकारिणि ! भक्तजनानां, कालि ! कपालिनि ! कङ्कालिनि ! शिवे ! नमोऽस्तु ते, प्रसीदेदानीं शूद्रकस्य नृपतेरनेन मदीयेन मस्तकोपहारेण"। इति स्तुत्वा स वीरवरः सद्यः तरवारेण स्वं शिरश्चिच्छेद ।

तदालोक्य स छन्नस्थितः शूद्रको नृपः व्याकुलः सदुःखः साश्चर्यश्च व्यचिन्तयत्,—"अहो ! न मया ईदृशमन्यत्र दृष्टं वा श्रुतम्; साधुनाऽनेन सपरिवारेण मदर्थे दुष्करं कृतम् । विचित्रेऽस्मिन् संसारे कोऽन्यः अनेन समो धीरः ? प्रभोरर्थे यः पुत्रादीन् स्वञ्च जीवितं प्रादात्; एतस्य उपकारस्य सदृशमुपकारं यदि अहं न कुर्य्यां, तदा मे प्रभुत्वेन किम् ? जीवितेन वा पशोरिव किम् ? सत्त्वभ्रंशात् सर्वत्रैव

पोषण करने–योग्य सम्पूर्ण परिवार को नष्ट कर के अकेले अपने आप को जिलाना मेरे सदृश व्यक्ति को शोभा नहीं देता है। तो अपने आप का उपहार दे कर अम्बिका को क्यों न प्रसन्न करूँ ?" यह विचार कर वह वीरवर पहले उस देवी की स्तुति करने लगा—"हे महिषासुर का मर्दन करने वाली ! आप की जय हो, संसार से उद्धार करने वाली ! देवताओं का उत्सव बढ़ाने वाली ! तीनों भुवनों का धारण करने वाली ! हे श्रेष्ठ माता ! आप की जय हो, संसार के द्वारा पूजित चरण वाली ! शरण देने वाली ! भक्त जनों का कल्याण करने वाली ! हे काली ! हे कपाल धारण करनेवाली ! हे अस्थि पञ्जर धारण करने वाली ! हे शिवे ! तुम्हें प्रणाम करता हूँ, इस मेरे मस्तक के उपहार से अब राजा शूद्रक के लिये प्रसन्न होओ" इस प्रकार स्तुति कर के उस वीरवर ने उसी समय तलवार से अपना शिर काट लिया।

यह देख कर छिप कर बैठे हुए उस शूद्रक राजाने व्याकुल दुखी तथा आश्चर्यित हो कर सोचा—"अरे ! मैंने अन्यत्र कहीं इस प्रकार का न देखा है और न सुना है। सपरिवार इस साधु ने मेरे लिये दुष्कर कार्य किया है। इस विचित्र संसार में कौन दूसरा इसके समान धैर्यशाली है ? जिसने स्वामी के लिये पुत्रादिकों को तथा अपना जीवन भी दे दिया है। इसके उपकार के सदृश उपकार यदि मैं न करूँ, तो मेरे राज्य से ही क्या लाभ ? अथवा पशु के समान जीवन से ही क्या लाभ ? साहस नष्ट होने से सब जगह मेरा

अथ षष्ठकथा

ततः स राजा प्राग्वत् शिंशपान्तिकमुपेत्य वेतालञ्चादाय मौनी तथैव तं भिक्षुमुद्दिश्य प्रतस्थे। तावच्च स वेतालः तं भूपमवादीत् ,— "राजन्! त्वं सुधीः सत्त्ववांश्च, तेनासि मे प्रियः; तस्मात् त्वां विनोदयितुं पुनः कथामाख्यामि प्रश्नञ्च, शृणु,—

आसीत् पुरा यशःकेतुर्नाम नृपः पृथिव्याम्। तस्य शोभावती नाम राजधानी; तस्यामुत्तमं गौरीमन्दिरमभवत्, तस्य च दक्षिणतः गौरी-तीर्थं नाम सरः; प्रतिवर्षम् आषाढशुक्लचतुर्दश्यां यात्रायां तस्य नाना-दिग्भ्यो महाजनगणः स्नातुमायाति स्म। एकदा स्नानार्थं धवलो नाम कश्चित् रजकः ब्रह्मस्थलाच्च ग्रामात् तत्राऽऽजगाम। स युवा तत्र स्नातु-मागतां शुद्धपटनाम्नः कस्यचित् सुतां मदनसुन्दरीं नाम ददर्श। तया तु इन्दोर्लावण्यहारिण्या हृतमानसः तत्र तस्या नामकुलमन्विष्य कामार्त्तो गृहमगात्। तत्र चाऽऽगत्य अनवस्थः तया विना निराहारश्च तिष्ठन्

छठी कथा

इसके बाद वह राजा पूर्ववत् शीशम के पास जाकर और वेताल को लेकर मौन धारण किये हुए उसी प्रकार उस संन्यासी के उद्देश्य से चल दिया। तब उस वेताल ने उस राजा से कहा—"महाराज! तुम बुद्धिमान् हो और साहसी हो। इसलिये तुम मेरे प्रिय हो। इसी से तुम्हारे मनोरञ्जन के लिये फिर कहानी कहता हूँ और प्रश्न भी। सुनो— .

प्राचीन काल में पृथ्वी पर यशःकेतु नाम का राजा था। उसकी शोभा-वती नाम की राजधानी थी। उस में एक बहुत सुन्दर गौरी का मन्दिर था। उसके दक्षिण भाग में गौरी तीर्थ नाम का सरोवर था। प्रतिवर्ष आषाढ़ शुक्ल चतुर्दशी तिथि में उसके उत्सव के अवसर पर अनेक दिशाओं से बड़े लोगों का समूह वहाँ स्नान करने के लिये आता था। एक बार ब्रह्मस्थल नामक गाँव से धवल नाम का कोई धोबी वहाँ स्नान करने के लिये आया। उस युवक ने वहाँ स्नान के लिये आयी हुई किसी शुद्धपट नामक धोबी की मदन-सुन्दरी नाम की पुत्री को देखा। चन्द्रमा के सौन्दर्य को नीचा दिखाने वाली उस कन्या के द्वारा चुराये हुए मन वाला वह वहाँ उसके नाम-कुल आदि का पता लगा कर काम से पीड़ित होकर घर गया। और वहाँ आकर अस्वस्थ

मे अयशो भविष्यति"। इति सञ्चिन्त्य स राजा कोशात् करवालम् आकृष्य समुपेत्य तां देवीं व्यजिज्ञपत्,—"देवि! सततमनुप्रपन्नस्य मम अधुना अनेन शरीरोपहारेण सुप्रीता सती अनुग्रहं कुरु; अयं नानागुणयुतो वीरवरः सपरिवारो मदर्थं त्यक्तकलेवरः साम्प्रतं जीवतु"। इति उदीर्य्य असिना यावत् स्वं शिरश्छेत्तुं प्रावर्त्तत, तावत् गगनात् भारती उदभूत्'—"वत्स! मा साहसं कृथाः, अनेन ते सत्त्वेन परितुष्टाऽस्मि, प्रत्युज्जीवतु अयं सापत्यदारो वीरवरः"। इत्युक्त्वा तस्याम् अन्तरिक्षवाचि विरतायामेव स वीरवरः पुत्रेण दुहित्रा पत्न्या च सह अक्षतशरीरो जीवन्नुत्तस्थौ।

तदवलोक्य राजा पुनः छन्नविग्रहः हर्षाश्रुपूर्णया दृष्ट्या तान् पश्यन् न तृप्तिमाययौ। सोऽपि वीरवरः सुप्तोत्थित इव तं पुत्रं पत्नीं दुहितरञ्च पश्यन् विभ्रान्तमानसः समभवत्, अपृच्छच्च पृथङ्नामग्रहं तान्;—"कथं विनष्टा यूयं जीवन्तः पुनरुत्थिताः? किमयं मे विभ्रमः? आहोस्वित् स्वप्नः? माया वा? उत देव्या अनुग्रहः?"। एवं वदन् स दाराऽपत्यैः,—"देव्यनुग्रहेणैव वयं जीवामः" इति निजगदे। ततः

अपयश होगा"। यह सोच कर उस राजा ने म्यान से तलवार खींच कर समीप जा कर उस देवी से निवेदन किया—"हे देवी! हमेशा शरण में रहने वाले मेरे इस शरीर के उपहार से इस समय प्रसन्न हो कर कृपा करो; मेरे लिये सपरिवार शरीर त्यागने वाला, अनेक गुणों से भरा हुआ यह वीरवर अब जी जाय" यह कह कर जब तक तलवार से अपना शिर काटना प्रारम्भ किया, तब तक आकाश से आकाशवाणी हुई—"पुत्र! साहस मत करो; तुम्हारे इस साहस से मैं सन्तुष्ट हूँ, सन्तति तथा पत्नी सहित यह वीरवर जी जाय"। इतना कहकर उस आकाशवाणी के समाप्त होते ही पुत्र, पुत्री तथा पत्नी के साथ बिना कटे हुए शरीर हो कर वह वीरवर जी कर उठ गया।

यह देख कर वह राजा फिर अपने को छिपा कर हर्ष के आँसू के प्रवाह से भरी हुई दृष्टि से उन्हें देखते हुए तृप्त नहीं हुआ। वह वीरवर भी सोकर उठे हुए की तरह उस पुत्र, पुत्री तथा पत्नी को देखता हुआ भ्रम में पड़े हुए मन वाला हो गया और अलग-अलग नाम ले कर उन्हें पूछा—"कैसे मरे हुए तुम लोग जी कर फिर उठ गये हो? क्या यह मेरा भ्रम है? अथवा देवी की कृपा है?" ऐसा कहता हुआ वह—सन्तति तथा पत्नी के द्वारा—"देवी के अनुग्रह से ही हम लोग जी गये हैं" यह कहा गया। तब वह

मात्रा पृष्टो मनोगतं तस्यै समाख्याय तथा तस्थौ। साऽपि गत्वा विमलनाम्ने स्वभर्त्रे तन्न्यवेदयत्। स चाभ्येत्य तथाऽवस्थं तं दृष्ट्वा समभ्यधात्;—"पुत्र! किं विषीदसि? एतत्ते अभीप्सितं न दुष्प्रापं, स हि शुद्धपटो मया याचितः अवश्यमेव सुतां तुभ्यं दास्यति। वयं कुलेन अर्थेन कर्मणा च तस्मादन्यूनाः; अहं तं वेद्मि स च मां वेत्ति, तदिदं न दुष्करम्"। इति पुत्रम् आश्वास्य भोजनादिकं कारयित्वा च तेन सह अन्येद्युरसौ विमलः शुद्धपटस्य गृहमगात्; अयाचत च तस्य धवलस्य पुत्रस्यार्थे तत्कन्याम्। स च सादरं तस्मै तां दातुं प्रतिशुश्राव।

अथ लग्नं सम्प्राप्य स शुद्धपटस्तस्मै धवलाय तुल्यां सुन्दरीं सुतां प्रादात्। स च कृतोद्वाहः दर्शनरक्तया तया भार्य्यया साकं कृतार्थः पितुर्गृहमागात्। कदाचित् सुखस्थितस्य तस्य श्वशुरात्मजः मदनसुन्दर्य्याः सहोदरः समागात्। स चागत्य सर्वैः पृष्टकुशलोदन्तः स्वस्रा च समाश्लिष्य अभिनन्दितः विश्रान्तः प्रावदत्,—"अहं मदनसुन्दर्य्या जामातुश्च निमन्त्रणार्थं तातेन प्रेषितोऽस्मि, अस्माकं गृहे पूजोत्सवो

होकर उसके बिना निराहार रहते हुए वह माता के द्वारा पूछे जाने पर अपना मनोगत-भाव उसे कह कर उसी प्रकार अस्वस्थ रहने लगा। उसने भी जाकर विमल नाम के अपने पति को यह समाचार निवेदन कर दिया। और उसने आकर उस अवस्था में उसे देखकर कहा—"पुत्र! क्यों विषाद करते हो? यह तुम्हारी अभिलाषा दुष्प्राप्य नहीं है, क्यों कि वह शुद्धपट मेरे द्वारा याचना किये जाने पर अवश्य ही पुत्री तुम्हें देगा। हम लोग कुल से, धन से, और कर्त्तव्य से उस से छोटे नहीं हैं। मैं उसको जानता हूँ और वह मुझे जानता है। तो यह कार्य कठिन नहीं है"। इस प्रकार पुत्र को आश्वासन देकर भोजन आदि करवा कर दूसरे दिन उसके साथ वह विमल शुद्धपट के घर गया और उसने अपने उस धवल पुत्र के लिये उसकी कन्या की याचना की। और उसने आदर के साथ उसको उसे देना स्वीकार कर लिया।

इसके बाद लग्न के दिन मिलने पर उस शुद्धपट ने उस धवल को उसके अनुरूप सुन्दरी पुत्री दे दी। और वह विवाह करके देखने से ही अनुरक्त उस पत्नी के साथ कृतार्थ होकर पिता के घर आ गया। उसके सुख से रहने पर किसी समय उसके श्वशुर का पुत्र मदनसुन्दरी का सहोदर भाई आया। और इसने आकर सबों के द्वारा कुशल समाचार पूछे जाने के बाद बहन के द्वारा आलिङ्गन करके स्वागत किये जाने पर विश्राम करके कहा—"मैं मदनसुन्दरी तथा दामाद को निमन्त्रण देने के लिये पिता जी के द्वारा भेजा

स वीरवरः "तथा" इति मत्वा तां देवीं प्रणम्य पुत्रदारानादाय कृतार्थो गृहं ययौ। तत्र च तं पुत्रं ताञ्च भार्य्यां दुहितरञ्च प्रवेश्य तस्यामेव रात्रौ राज्ञः सिंहद्वारमागमत्।

राजा च शूद्रक एतत् सर्वं दृष्ट्वा अलक्षित एव गत्वा स्वं प्रासादमारुरोह, पप्रच्छ च,—"कोऽत्र सिंहद्वारे स्थितः?" इति। वीरवरः प्रत्यवादीत्,—"प्रभो! अहं वीरवरस्तिष्ठामि; देवादेशाञ्च तां रुदतीं स्त्रियं प्रति गतश्चाहम्; सा काऽपि राक्षसी, मम वचसा दृष्ट्वैव कापि प्रनष्टा" इति। एतत्तस्य वचः श्रुत्वा राजा नितरां विस्मितो दृष्टोदन्तो व्यचिन्तयत्,—"अहो! समुद्रगम्भीरधीरचित्ता मनस्विनः, ये अनन्यसामान्यं कर्म्म कृत्वाऽपि नोद्गिरन्ति"। इत्यालोच्य प्रासादादवरुह्य स राजा अन्तःपुरं गत्वा रात्रिशेषम् अत्यवाहयत्।

अथ प्रातः आस्थानसमये दर्शनार्थमुपगते वीरवरे स्थिते हृष्टो राजा सर्वेभ्यो मन्त्रिभ्यः अन्येभ्यश्च तं रात्रिवृत्तान्तमवर्णयत्। सर्वे सविस्मयाः मोहिताश्च वीरवरगुणश्रवणेन तत्क्षणमभवन्, प्राशंसुश्च,

---

वीरवर "वैसा ही हुआ है" यह समझ कर उस देवी को प्रणाम कर के पत्नी पुत्र को ले कर कृतार्थ हो कर घर गया। और वहाँ उस पुत्र को उस पत्नी को तथा पुत्री को घर में प्रवेश करा कर उसी रात में राजा के सिंहद्वार पर आ गया।

और राजा शूद्रक ने यह सब देख कर अलक्षित रूप से जा कर अपने महल के ऊपर चढ़ गया तथा पूछा—"इस सिंहद्वार पर कौन है?" वीरवर ने जवाब दिया—"स्वामी! मैं वीरवर यहाँ हूँ, आप के आदेश से उस रोती हुई स्त्री के पास मैं गया था, वह कोई राक्षसी थी, मेरे वचन से मेरी ओर देख कर कहीं अदृश्य हो गयी"। उस का यह वचन सुन कर सभी समाचार देखने वाला राजा अत्यन्त विस्मित हो कर सोचने लगा—"अरे! बुद्धिमान लोग समुद्र के समान गम्भीर तथा धैर्य से भरे मनवाले होते हैं, जो असाधारण कार्य कर के भी उसे कहते नहीं"। यह सोचकर महल से उतर कर उस राजा ने रनिवास में प्रवेश कर के अवशेष रात्रि बितायी।

इस के बाद प्रातःकाल सभा के समय में दर्शन के लिये उपस्थित वीरवर के खड़े रहने पर प्रसन्न हो कर उस राजा ने सभी मन्त्रियों को तथा अन्यलोगों को वह रात्रि का समाचार कह सुनाया। सभी उस समय वीरवर के गुण सुनने से आश्चर्यित तथा मोहित हो गये 'साधु साधु' कर के प्रशंसा भी करने

वर्त्तते" इति। ततस्ते सर्वे सम्बन्धिनः तस्य तद्वाक्यं श्रद्धाय यथोचितैः पानभोजनैः तं तदहः समुपाचरन्।

अथ प्रातः स धवलः तेन श्वशुरनन्दनेन मदनसुन्दर्य्या च सहितः श्वाशुरं गृहं प्रति प्रस्थितः; ताञ्च शोभावतीं नगरीं प्राप्य महत् गौर्य्या निकेतनं ददर्श, निजगाद च तां मदनसुन्दरीं तद्भ्रातरञ्च,—"अत्रैतां देवतां पश्यामः" इति; प्रथममहं तावत् व्रजामि, युवामत्रैव तिष्ठतम्" इति उक्त्वा धवलः तां देवीं द्रष्टुं समुपागात् मन्दिरं प्रविश्य च तां प्रणम्य अष्टादशदोर्दण्डखण्डितोच्चण्डदानवां पादपद्मतलाक्षिप्तमहिषासुरमर्दिनीं विभाव्य सहसा विधिनोत्पादितमतिरचिन्तयत्,—"विविधैर्जीवोपहारैर्जनः इमां देवीमर्च्चयति, अहञ्च सिद्धये आत्मोपहारेण किं नैनां प्रीणयामि?"। इत्यालोच्यैव निर्जनात् गर्भगृहात् खड्गमानीय स्वयमेव निजं शिरश्छित्त्वा भुव्यपातयत्। क्षणान्तरे,—"कथमसौ चिरयति?" इति तमन्वेष्टुं स श्वाशुर्य्योऽपि तत्र देवीभवने प्राविक्षत्, प्रविष्टश्च तं छिन्नशिरसं भगिनीपतिं दृष्ट्वा शोकव्यामोहितः तथैव तेनासिना स्वं शिरश्चिच्छेद।

गया हूँ, हमारे घर में पूजा का उत्सव है"। तब उन सम्बन्धियों ने उसके वचन का आदर कर के यथोचित मदिरा तथा भोजनों से उस दिन उसका उपचार किया।

इसके बाद प्रातःकाल वह धवल उस साले तथा मदनसुन्दरी के साथ श्वशुराल को चला और उस शोभावती नगरी में पहुँच कर गौरी का विशाल मन्दिर देखा और उसने उस मदनसुन्दरी से तथा उसके भाई से कहा—"हम लोग इस देवता का दर्शन करेंगे। पहले मैं जाता हूँ तुम दोनों यहीं ठहरो" यह कह कर धवल उस देवी का दर्शन करने चला गया। और मन्दिर में प्रवेश करके उसे प्रणाम करके अठारह भुजदण्डों से प्रचण्ड दानवों का विनाश करने वाली, चरणकमल के नीचे खींच कर महिषासुर का मर्दन करने वाली समझ कर सहसा विधाता के द्वारा उत्पादित विचार वाले उसने सोचा—"लोग अनेक जीवों के उपहार के द्वारा इस देवी की अर्चना करते हैं और मैं सिद्धि के लिये अपनी आत्मा के उपहार के द्वारा क्यों नहीं इसे प्रसन्न करूँ?"। यह सोचकर उसने बगल के निर्जन कमरे से तलवार लाकर स्वयं अपना शिर काट कर भूमि पर गिरा दिया। कुछ समय में 'क्यों यह विलम्ब करता है!' इसलिये उसे खोजने के लिये उस साले ने भी उस देवी-मन्दिर में प्रवेश किया। प्रवेश करते ही शिर कटे हुए बहनोई को देख कर उसने शोक से व्याकुल होकर उसी प्रकार उसी तलवार से अपना शिर काट लिया।

—"साधु साधु" इति। ततो राजा वीरवरश्च अन्योऽन्यं तुल्यविभवौ सुखमासाताम्।

इति कथामाख्याय वेतालस्तं त्रिविक्रमसेनं नृपमपृच्छत्,—"राजन्! एतेषु कोऽधिकस्ते मतः? यदि जानन्न वक्ष्यसि; तदा पूर्व एव स शापः सेत्स्यति"। एतदाकर्ण्य स राजा तं वेतालमभाषत,—"देवयोने! एतेषु सर्वेषु राजा शूद्रक एव समधिकः प्रवरः" इति। वेतालोऽब्रवीत्,—नृपते! कथं वीरवरो न? यस्य तुल्यः पृथिव्यां सेवको न विद्यते; तत्पत्नी वा कथं समधिकेति न प्रशस्यते? या सूनोः पशूपहारतां प्रत्यक्षं दृष्ट्वाऽपि न धैर्य्यात् प्रच्युताऽऽसीत्; स वा पुत्रः शक्तिधरः कथं नाभ्यधिकः? यस्य बालस्यापि सतस्तादृशः सत्त्वोत्कर्षः। तत् कथमेकं शूद्रकं नृपं त्वं प्रवरं भाषसे!"। इत्युक्तवन्तं वेतालं स नृपः पुनरवादीत्,—"कुलपुत्रो वीरवरस्तादृक् न, तस्य प्राणैः सुतैः दारैश्च स्वामिसंरक्षणं कार्य्यम्; तस्य च पत्नी कुलजा साध्वी पतिप्राणा भर्त्तृवर्त्मानुसरन्ती धर्ममेव पालितवती; शक्तिधरोऽपि तयोर्जातस्तादृश एव, यादृशास्त-

---

लगे। इस के बाद राजा और वीरवर दोनों बराबर सम्पत्तिवाले हो कर सुख से रहने लगे।

यह कथा कह कर वेताल ने उस त्रिविक्रमसेन राजा से पूछा—"महाराज! तुम्हारी समझ में इन में कौन सब से अच्छे हैं? यदि जानते हुए भी न कहोगे तो पहले का ही शाप सफल होगा"। यह सुन कर उस राजा ने उस वेताल से कहा—"हे देवजातीय! इन सबों में राजा शूद्रक ही अत्यन्त श्रेष्ठ है"। वेताल ने कहा—"महाराज! वीरवर क्यों नहीं श्रेष्ठ है? जिस के बराबर पृथ्वी में कोई सेवक नहीं है; अथवा 'उस की पत्नी श्रेष्ठ है' ऐसी प्रशंसा नहीं करते हो? जो पुत्र का पशु के सामान उपहार देना प्रत्यक्ष देख कर भी धैर्य से च्युत नहीं हुई। या वह पुत्र शक्तिधर ही क्यों नहीं अधिक है? बचपन होने पर भी जिस का उस प्रकार साहस का उत्कर्ष है। तो क्यों तुम एक शूद्रक राजा को ही श्रेष्ठ कह रहे हो?" ऐसा कहने वाले उस वेताल से उस राजा ने फिर कहा—"वीरवर ऊँचे वंश का था वह उस प्रकार का प्रशंसित नहीं हो सकता, उस का तो अपने प्राणों के द्वारा पुत्रों के द्वारा पत्नी के द्वारा स्वामी की रक्षा करना कर्तव्य ही था; उस की पत्नी भी ऊँचे वंश की थी, पति को प्राणों के समान मानने वाली पतिव्रता थी, उस ने यदि अपने पति के मार्ग का अनुसरण किया तो अपना कर्तव्य ही पालन किया। शक्तिधर भी उन्हीं दोनों का पुत्र था उसी प्रकार उच्च वंश

अथ यावत् स नाऽऽयाति, तावत् सा मदनसुन्दरी समुद्भ्रान्तमानसा तद् देवीभवनमाययौ, प्रविश्य च पतिं भ्रातरञ्च तथाविधं दृष्ट्वा,—"हा! किमेवम्? हताऽस्मि" इति विलपन्ती भुवि न्यपतत्। क्षणेन चोत्थाय तौ अकाण्डहतौ शोचन्ती,—"किं मे अनेन जीवितेन?" इति पर्य्यालोच्य देहत्यागोन्मुखीं तां देवीं व्यजिज्ञपत्,—"देवि! सौभाग्यचारित्रविधानैकाधिदेवते! मारारिपुशरीरार्द्धहरे! अशेषललनाजनशरण्ये! दुःखहारिणि! एकपदे कथं मे भर्त्ता भ्राता च त्वया निहतः? न युक्तमेतत्ते, अहं हि त्वयि नित्यभक्ता, तदाश्रिताया मे शरणं भवती एकं करुणं वचः शृणोतु, एतां दौर्भाग्योपहतां तनुं त्यजामि अत्रैव; देवि! यत्र कुत्रापि जनिष्ये, परं तत्र तत्रैव जन्मनि, एतौ मे भर्त्तृभ्रातरौ भूयास्ताम्" इति सम्प्रार्थ्य, स्तुत्वा नत्वा च तां देवीं तत्रस्थे अशोकपादपे पाशं विरचयामास। तत्र यावत् पाशे कण्ठमर्पयति, तावत् तत्र गगनात् अशरीरिणी वागुदचरत्,—"पुत्रि! मा साहसं कृथाः; बालाया अपि ते अनेन सत्त्वोत्कर्षेण प्रीताऽस्मि, पाशमेतं त्यज, संश्लेषय च स्वं स्वं शिरः भर्त्तृभ्रातृकबन्धयोः, एतौ

इसके बाद जब वह भी नहीं आया तब वह मदनसुन्दरी उस देवी मन्दिर में गयी, और प्रवेश करके पति को तथा भाई को उस प्रकार देखकर—"हाय! यह क्या हुआ? मैं तो मारी गयी" इस प्रकार विलाप करती हुई भूमि पर गिर गयी। कुछ समय में उठ कर असमय में मरे हुए उन दोनों का शोक करती हुई—"मुझे इस जीवन से क्या फायदा?" यह विचार करके शरीर त्याग करने के लिये उद्यत होकर उस देवी से निवेदन करने लगी—"हे देवी! हे सौभाग्य-सच्चरित्रता बनाने की एक देवता! शङ्कर जी का आधा शरीर हरण करने वाली! हे सम्पूर्ण स्त्रियों को शरण देने वाली! दुःख हरने वाली! एकाएक क्यों मेरा पति तथा भाई तुम्हारे द्वारा मारा गया? यह तुम्हारे लिये उचित नहीं है। मैं तुझ में सतत भक्ति करती हूँ, तो मुझ आश्रिता को शरण देने वाली आप एक दीन वचन सुनें। इस दुर्भाग्य से पीड़ित शरीर को यहीं पर छोड़ रही हूँ। हे देवि! जहाँ कहीं जन्म लूँ, किन्तु उस उस जन्म में ये ही दोनों मेरे पति तथा भाई होवें" यह प्रार्थना करके स्तुति करके तथा उस देवी को प्रणाम करके वहाँ के अशोक के पेड़ में उसने फाँसी बनायी। वह जब तक फाँसी में कण्ठ डालती है तब तक वहाँ आकाश से आकाशवाणी उच्चारण हुई—"हे पुत्री! साहस मत करो, बालिका होने पर भी तुम्हारे इस साहस की अधिकता से मैं प्रसन्न हूँ, इस फाँसी को छोड़ दो और पति तथा भाई के रुण्ड से अपना-अपना शिर जोड़ दो; मेरे प्रभाव से ये दोनों

न्तवः तादृश एव पटो जायते। येषां भृत्यानां प्राणैः नृपेण आत्मा रक्ष्यते, तेषामर्थं प्राणांस्त्यजन् शूद्रक एव सर्वेषु विशिष्यते"। इति वचः समाकर्ण्य स वेतालः नृपतेः अंसादलक्षितः सहसा निजाऽऽवासं ययौ। राजाऽपि तन्मायया अनुद्वलितोऽपि तस्यामेव निशि पुनस्त-मानेतुं मतिमकरोत्।

का था। जिस प्रकार के सूत होते हैं, उसी प्रकार का कपड़ा बनता है। जिन भृत्यों के प्राणों के द्वारा राजा अपने प्राणों की रक्षा करते हैं, उन्हीं के लिये प्राण त्याग करते हुए शूद्रक ही सबों में श्रेष्ठ हैं" यह वचन सुन कर वह वेताल राजा के कन्धे से अलक्षित होकर एकाएक अपने निवास वृक्ष के पास चला गया। राजा ने भी उसकी माया से बिना घबड़ाये हुए उसी रात में फिर उसे लाने का विचार किया।

जीवितौ द्वावपि मत्प्रसादादुत्तिष्ठताम्" इति। एतदाकर्ण्यैव पाशं त्यक्त्वा सा हर्षादुपेत्य अतिरभसादविभाव्य भ्रान्ता मदनसुन्दरी भर्तृशिरो भ्रातृदेहेन भ्रातृशिरश्च भर्तृदेहेनायोजयत् । ततश्च अक्षताङ्गौ तौ जीवन्तौ सुप्तोत्थिताविव उदतिष्ठताम्। अथ ते अन्योऽन्योदितस्वस्ववृत्तान्ततोषिणः देवीं प्रणम्य यथेष्टं प्रययुः । यान्ती च सा मदनसुन्दरी तयोः स्वकृतं शिरोविनिमयं दृष्ट्वा उद्विग्ना किंकर्त्तव्यविमूढा चासीत्"।

इमामाख्याय कथां वेतालः पप्रच्छ,—"राजन्! ब्रूहि, कः सङ्कीर्णयोरनयोरस्या भर्त्ता भवितुमर्हति ? जानंश्चेत् न ब्रवीपि, तदा पूर्वोक्त एव शापः स्यात्" । इति समाकर्ण्य राजा तं वेतालमवादीत्,—"यस्मिन् कलेवरे तत् पतिशिरः संस्थं, स एवास्याः पतिर्भवेत्, प्रधानं सर्वेषु अङ्गेषु शिरः, तद्गता प्रत्यभिज्ञा च" । इत्युक्तवतो नृपतेः स्कन्धात् स वेतालस्तथैवातर्कितः सहसा प्रययौ। राजा च भूयस्तमानेतुं समुद्यतस्तत्रैव जगाम ।

जीवित होकर उठ जाँय" । यह सुनते ही फाँसी को छोड़ कर हर्ष से पहुँच कर अत्यन्त वेग से बिना सोचे-विचारे भूल करके उस मदनसुन्दरी ने पति का शिर भाई के शरीर से और भाई का शिर पति के शरीर से जोड़ दिया। इसके बाद जुटे हुए शरीर वाले वे दोनों जीवित होकर सो कर उठे हुए के समान उठ गये। इसके बाद वे तीनों एक दूसरे को अपना-अपना वृत्तान्त कह कर प्रसन्न करते हुए देवी को प्रणाम करके अपने इच्छित स्थान की ओर चले । और जाती हुई वह मदनसुन्दरी उन दोनों का अपने द्वारा किया हुआ शिर-परिवर्तन देख कर व्याकुल तथा किंकर्तव्यविमूढ होकर रह गयी" ।

यह कथा कह कर वेताल ने पूछा—"महाराज ! कहो, इन दोनों सङ्कीर्ण शरीरों में किसे इसका पति होना चाहिये ? जानते हुए भी यदि नहीं कहोगे तो पहले का कहा हुआ शाप लागू होगा" । यह सुनकर राजा ने उस वेताल से कहा—"जिस शरीर में उसके पति का शिर जोड़ा गया था वही इसका पति होगा । सभी अङ्गों में शिर ही प्रधान होता है और उसी में पहचानने की शक्ति होती है" । यह कहे हुए राजा के कन्धे से वह वेताल अचानक उसी प्रकार एकाएक चला गया और राजा फिर उसे लाने के लिये उद्यत हो कर वहीं पर पहुँचे ।

अथ सप्तमकथा

ततः स राजा पुनः शिंशपान्तिकमेत्य तथैव वेतालं स्कन्धमारोप्य प्रतस्थे। प्रस्थितञ्च तं वेतालः पथि समभाषत,—"राजन्! पुनस्ते श्रान्तिविनोदिनीं कथामेकां कथयामि, शृणु,—

अस्ति पूर्वाम्बुधितटे ताम्रलिप्तीति पुरी। तस्याञ्च चण्डसिंहो नाम राजाऽभूत्, यः परस्त्रीषु पराङ्मुखः परं सङ्ग्रामभूमिषु न; शत्रुसङ्घानां हन्ता, परद्रव्यसम्पदान्तु न। एकदा तस्य भूपतेः द्वारि दाक्षिणात्यः सत्त्वशीलो नाम जनप्रियः कश्चित् राजपुत्रः समभ्यगात्। तत्रागत्य स आत्मानम् आवेद्य नृपात् नैव काममवाप। ततश्च स यावत्—"यदि मे राजान्वये जन्म, तदीदृशं निर्धनत्वं किम्? निर्धनत्वे च धात्रा किं मे महेच्छता विहिता? अयं हि राजा सेवमानमेवं क्लिष्टपरिच्छदं चिरं क्षुधा अवसीदन्तं मां नाद्यापि पश्यति, इति ध्यायति, तावत् स नृपः आखेटकार्थं निरगात्। अग्रे च तस्मिन् कार्प

सातवीं कथा

तब वह राजा फिर शीशम के पेड़ के पास जाकर उसी प्रकार वेताल को कन्धे पर उठा कर चल दिये। जाते हुए उसको रास्ते में वेताल ने कहा—"महाराज! फिर तुम्हारे परिश्रम को दूर करने वाली कथा कहता हूँ, सुनो—

पूर्व दिशा के समुद्र के किनारे ताम्रलिप्ति नाम की नगरी है। उसमें चण्डसिंह नाम का राजा था। वह परायी पत्नी से विमुख रहता था किन्तु युद्धभूमि में विमुख नहीं होता था, शत्रु-समूहों का विनाश करता था, दूसरे के धन तथा सम्पत्तियों का विनाश नहीं करता था। एक बार उस राजा के द्वार पर दक्षिण देश के निवासी लोगों का प्रिय सत्त्वशील नाम का कोई क्षत्रिय आया। उसने वहाँ आकर "आपका नौकर होते हुए भी मैं दरिद्र हूँ" इस रूप में अपने आप का परिचय देकर भी राजा से अभिलषित नहीं प्राप्त किया। इसके बाद जब तक वह—"यदि मेरा राजवंश में जन्म हुआ तो इस प्रकार की निर्धनता क्यों हुई? निर्धनता होने पर भी विधाता के द्वारा मेरी इतनी ऊँची अभिलाषा क्यों बनायी गयी? यह राजा तो इस प्रकार सेवा करते हुए, फटे चीथडे पहने हुए, सदा भूख से पीड़ित होते हुए मुझे अभी भी नहीं देखता है।" सोचता है तब तक वह राजा शिकार खेलने

श्वर्य्यं सर्वं दत्त्वा तं सत्त्वशीलमुवाच—"सखे! भुक्तयोरामलकयोरेकमद्य मया तव संशोधितम्, असंशोधितात् द्वितीयाद् तेऽहं ऋणी तिष्ठामि" इति प्रणतं तमुक्त्वा, तां दैत्यपुत्रीमब्रवीत्,—"भद्रे! मार्गो मम दर्श्यतां, येन स्वां पुरीं प्राप्नुयाम्" इति। ततः सा अपराजितं नाम खड्गम् एकञ्च जन्मजरामृत्युहरं फलं दैत्यनन्दिनी तस्मै भूपाय प्रादात्। अथ स राजा ताभ्यां खड्गफलाभ्यामन्वितः तयोक्तायां तस्यामेव वाप्यां मग्नः स्वदेशतः समुत्थाय सर्वकार्य्यसिद्धिमानभूत्। स च सत्त्वशीलः दैत्यस्त्रीपुरराज्यं सुखेन शशास"।

इति कथामाख्याय वेतालो राजानम् अप्राक्षीत्,—"राजन्! कोऽनयोर्द्वयोरब्धिपतने सत्त्वाधिकः?" इति। तदाकर्ण्य राजा शापाद् भीतः सदुत्तरमेव प्रत्यभाषत,—"एतयोः सत्त्वशील एव अधिकः सत्त्ववान् मे प्रतिभाति; स हि पूर्वम् अविज्ञाततत्त्वः निराश एवाम्बुधौ पतितः, राजा तु तत्त्वं विज्ञाय अम्भोधिमाविशत्"। इति समाकर्ण्य राज्ञो निरस्तमौनस्य वचनं स वेतालः स्कन्धात् पूर्ववत् अलक्षितः

राजा ने असुरराज का सम्पूर्ण वैभव दे कर उस सत्त्वशील को कहा—"मित्र! खाये हुए दोनों आमले के फलों में से आज मैंने एक का ऋण सधा दिया, बिना सधाये हुए दूसरे फल का तुम्हारा मैं ऋणी रहूँगा" यह प्रणाम करते हुए उससत्त्वशील को कह कर उस दैत्यकुमारी को कहा—"हे भली लड़की! मेरा रास्ता दिखला दो, जिससे मैं अपनी नगरी में पहुँच जाऊँ"। तब उस दैत्यकुमारी ने अपराजित नाम की एक तलवार तथा जन्म-जरा और मृत्यु हरण करनेवाला एक फल उस राजा को दिया। इसके बाद वह राजा तलवार तथा फल इन दोनों वस्तुओं से संयुक्त हो कर उसके बताये हुए उसी तालाब में डूब गया और अपने देश में बाहर निकला तथा सभी कार्यों में सफलता प्राप्त किया। और वह सत्त्वशील दैत्यपुत्री पत्नी तथा उसका नगर प्राप्त करके सुख से उसके राज्य पर शासन करने लगा।

यह कथा कह कर वेताल ने राजा को पूछा—"महाराज! समुद्र में गिरने के विषय में इन दोनों में से कौन अधिक साहसी है?" यह सुन कर शाप से भीत हो कर राजा ने सही सही उत्तर दिया—"इन दोनों में सत्त्वशील ही अधिक साहसी मुझे मालूम होता है। क्यों कि वह पहले वहाँ के वास्तविक विषय को बिना समझे हुए निराश हो कर ही समुद्र में गिरा था, राजा तो सही बात जान कर समुद्र में प्रवेश किया था"। मौन त्याग करने वाले राजा का यह वचन सुन कर वह वेताल पूर्ववत् राजा के कन्धे पर से अलक्षित हो

टिके राजपुत्रे लगुडवाहिनि धावति, राजा प्रभूताऽश्वपादातयुतः प्रायात्। तत्र च मृगान् समन्विष्यन् आरात् महान्तं शूकरमनुधावन् अतिदूरं वनान्तरं प्रापत्। तत्र पर्णतृणच्छन्नमार्गतया शूकरं तमपश्यन् श्रान्तः स राजा तस्मिन् वनान्तरे दिङ्मोहमगमत्। एक एव स कार्पटिको राजपुत्रः प्राणानपेक्षी पदातिः क्षुत्तृषापरीतः वाताश्वपृष्ठगं तं राजानमनुससार। स राजा तं तथा अनुयान्तं दृष्ट्वा सस्नेहमवदत्,—"भद्र! कच्चित् यथागतं मार्गं वेत्सि?"। तदाकर्ण्य स बद्धाञ्जलिः कार्पटिकोऽभ्यधात्,—"देव! वेद्मि, परम् इह क्षणं विश्राम्यतु देवः, एष खलु दिवो वध्वा मेखला मध्यमणिः स्फुरद्रश्मिजालोब्जिनीनायकोऽतितरां देदीप्यते"। एतदाकर्ण्य स राजा सनिर्बन्धं तमभाषत,--"तर्हि क्वापीह भवता पानीयं दृश्यताम्"। स च कार्पटिकः "तथा" इत्युक्त्वा तुङ्गं तरुमारुह्य समन्तात् पश्यन् नदीमेकां दृष्ट्वा अवरुह्य, तं नृपं तत्र निनाय। नीत्वा च तदीयं वाहं विपर्य्याणीकृतं कृत्वा अम्बूनि शष्पाणि च दत्त्वा विगतश्रममकरोत्।

के लिये निकला। आगे आगे चीथड़े पहने हुए डण्डा हाथ मे लिये हुए उस राजपूत के दौड़ते चलने पर वह राजा बहुत से घोड़े तथा पदाति सैनिक से युक्त हो कर गया। और वहाँ जानवरों को खोजते हुए समीप में ही एक बहुत बड़े सूकर का पीछा करते हुए अति दूर दूसरे वन में पहुँच गया। वहाँ पत्ते और घास से ढके मार्ग होने से सूकर को न देख कर थका हुआ वह राजा उस अन्य वन में दिग्भ्रम को प्राप्त किया। अकेले ही उस चीथड़ा पहनने वाले राजपूतने भूख-प्यास से परेशान रहने पर भी प्राणों की परवाह न कर के पैदल रह कर भी वायुवेग वाले घोड़े की पीठ पर चढ़ कर जाते हुए उस राजा का अनुसरण किया। उस राजा ने उस को उस प्रकार अनुसरण करते हुए देख कर स्नेह से कहा—"हे भले आदमी! क्या? जिस मार्ग से आये हैं वह मार्ग जानते हो"? यह सुन कर उस चीथड़े वाले ने हाथ जोड़ कर कहा—"महाराज! जानता हूँ, किन्तु यहाँ क्षण भर आप विश्राम करें। यह आकाशरूपी वधू की काञ्ची का मध्यमणि बन कर किरणों का समूह बिखेरते हुए कमलिनी के पति सूर्य अत्यन्त प्रज्वलित हो रहे हैं"। यह सुन कर आग्रह के साथ कहते हुए उस से उस राजा ने कहा—"तो यहाँ पर कहीं तुम पानी खोजो"। और वह चीथड़े वाला" वही करता हूँ" यह कह कर ऊँचे पेड़ पर चढ़ कर चारों तरफ देखते हुए एक नदी को देख कर उतर कर उस राजा को वहाँ ले गया। और ले जाकर उसके घोड़े की जीन आदि उतार कर पानी और घास देकर श्रम रहित बना दिया।

तमेव शिंशपातरुमगमत्। राजाऽपि पूर्ववत् तमानेतुं पुनरुद्योगमकरोत्। न हि प्रारब्धे असमाप्ते धीराः शिथिलीभवन्ति।

कर उसी शीशम के पेड़ के पास चला गया। राजा भी पूर्ववत् उसे लाने के लिये फिर उद्योग करने लगा। धैर्यशाली पुरुष प्रारम्भ किये हुए कार्य को बिना पूरा किये शिथिल नहीं होते हैं।

ततश्च स कृतस्नानाय राज्ञे वसनाञ्चलात् प्रोन्मुच्य आमलकानि फलानि प्रक्षाल्य तस्मै हृद्यानि उपानयत्। "एतानि कुतः प्राप्तानि?" इति पृच्छन्तं भूपतिं स कृताञ्जलिर्व्यजिज्ञपत्,—"देव! एतद्वृत्तिरहं नित्यं व्यतीतदशवत्सरः देवमाराधयन् अनैकान्तमुनिव्रतं चरामि"। इति श्रुत्वा राजा,—"सत्त्वशील! त्वं सत्यनामा, किमुच्यते?" इति अभिधाय कृपाक्रान्तः लज्जितश्चाचिन्तयत्,—"धिक् नृपान्, ये भृत्येषु क्लिष्टसक्लिष्टं न जानन्ति, धिक् तत्परिवारान्, ये प्रभुं तत्तत् न ज्ञापयन्ति" इति सञ्चिन्त्य स राजा द्वे आमलके कार्पटिकहस्तात् कथञ्चिदनुबन्धतः प्रतिजग्राह; विशश्राम च ते भुक्त्वा अम्बु च निपीय क्षणं तेन जग्धामलकपीतजलेन कार्पटिकेन सह। ततः तेन कार्पटिकेन सज्जीकृतं वाहमारुह्य, तस्मिन्नग्रेसरे गच्छति मार्गदर्शिनि, राजाज्ञया हयस्य पश्चाद्भागासनस्थिते, स राजा पथि सम्प्राप्तसैनिकः स्वां पुरीं प्रायात्। तत्रागत्य तस्य कार्पटिकस्य भक्तिं प्रख्याप्य, वसुभिः कार्पटिकं

इसके बाद उसने स्नान किये हुए राजा को वस्त्र के कोने से खोल कर आमले के फल धोकर उसको मनोहर उपायन दिया। "ये कहाँ से मिले हैं?" यह पूछते हुए उस राजा को उसने हाथ जोड़ कर निवेदन किया—"महाराज! नित्य यही जीविका प्राप्त करते हुए दश वर्ष विताने वाला मैं आप की सेवा करता हुआ अनिश्चित रूप से मुनि का व्रत आचरण करता हूं (कभी कभी मिल जाने पर अन्न भी खाता हूँ, यह तात्पर्य है)। यह सुन कर उस राजा ने—"सत्त्वशील! तुम यथार्थ नाम वाले हो, और क्या कहूँ?" यह कर लज्जित होकर दया से परिपूर्ण होकर सोचा—"राजाओं को धिक्कार है, जो नौकरों की असुविधा या सुविधा नहीं जानते हैं, उनके पार्श्ववर्तियों को धिक्कार है जो कि राजा को वह विषय नहीं सूचित करते हैं"। यह सोचकर उस राजा ने आग्रह करने से किसी प्रकार उस चीथड़े वाले के हाथ से आमले के दो फल ग्रहण कर लिये। और उन आमलों को खाकर पानी पीकर उस आमला खाकर पानी पीये हुए चीथड़े वाले के साथ क्षण भर विश्राम किया। तब उस चीथड़े वाले के द्वारा सजाये हुए घोड़े पर चढ़ कर मार्ग दिखलाते हुए उसके आगे आगे चलते रहने पर पश्चात् राजाकी आज्ञा से घोड़े के पीछे के आसन पर बैठ कर चलने पर वह राजा रास्ते में अपने सैनिकों को प्राप्त करके अपनी नगरी में पहुँच गया। वहाँ आकर उस चीथड़े वाले की भक्ति का व्याख्यान करके धन से उस चीथड़े वाले को परिपूर्ण करके भी उस राजा ने अपने को उससे ऋणमुक्त नहीं माना। इसके बाद वह सत्त्वशील चीथड़ों

अथ अष्टमकथा

ततश्च स राजा भूयः शिंशपामूलं गत्वा तं वेतालं तथैव प्राप्य स्कन्धे कृत्वा भिक्षुमुद्दिश्य प्रातिष्ठत। प्रयान्तञ्च तं स स्कन्धवर्त्ती वेतालः सम्बोध्य प्राब्रवीत्,—"राजन् ! श्रमविनोदाय पुनरिमां कथामाकर्णय—,

अस्त्यङ्गदेशे महान् वृक्षघटाभिधः जनपदः, तत्र विष्णुस्वामीति महान् यज्वा महाधनी द्विजः प्रतिवसति; तस्य स्वानुरूपायां पत्न्यां क्रमात् त्रयः पुत्रा जज्ञिरे। कदाचित् ते तरुणा भोगवैदग्ध्यशालिनः कूर्महेतोः पित्रा प्रारब्धयज्ञेन प्रेषिताः भ्रातरः अम्बुधिं ययुः; तत्र कूर्ममेकं प्राप्य ज्यायान् कनिष्ठावाह स्म,—"युवयोरेकः कूर्ममिमं पितुः क्रत्वर्थं गृह्णातु, अहमेनं विस्रं पिच्छिलञ्च ग्रहीतुं न शक्नोमि"। इत्युक्तवन्तं तं ज्येष्ठं कनिष्ठावूचतुः,—आर्य्य ! तवात्र चेत् जुगुप्सा, तदाऽऽवयोः कथं न स्यात् ?"। तदाकर्ण्य स ज्येष्ठोऽवादीत्,—"युवां

आठवीं कथा

इसके बाद वह राजा शीशम की जड़ में जा कर उस वेताल को उसी प्रकार प्राप्त कर के कन्धे पर उठा कर संन्यासी के उद्देश्य से प्रस्थान किया। जाते हुए उसको कन्धे पर स्थित उस वेताल ने सम्बोधन करके कहा—"महाराज ! परिश्रम दूर करने के लिये फिर यह कथा कहता हूँ, सुनो—

अङ्ग देश में बहुत बड़ा वृक्षघट नाम का देश है। वहाँ विष्णुस्वामी नाम का बहुत बड़ा यज्ञ करने वाला महाधनी ब्राह्मण रहता था। उसके अपने अनुरूप पत्नी में क्रमशः तीन पुत्र पैदा हुए। किसी समय जब वे तरुण हो गये थे और भोग में निपुण थे तब यज्ञ प्रारम्भ किये हुए पिता के द्वारा भेजे हुए कछुए के लिये समुद्र के समीप गये। वहाँ एक कछुए को प्राप्त कर के बड़े भाई ने दोनों छोटे भाइयों को कहा—'तुम दोनों में से एक पिता के यज्ञ के लिये इस कछुए को पकड़ लो, मैं इस कच्चे मांस के गन्धवाले तथा पिच्छल को नहीं पकड़ सकूँगा" ऐसा कहनेवाले उस बड़े भाई को छोटे दोनों भाइयों ने कहा—"भाई साहब ! यदि आप की इसमें घृणा है तो हम दोनों की घृणा क्यों नहीं होगी ?"। यह सुन कर बड़े भाई ने कहा—"तुम दोनों

पूरयित्वाऽपि निष्कृतिं नामन्यत। ततः सः कृतार्थः चण्डसिंहस्य भूपतेः पार्श्वचरः त्यक्तकार्पटिकाचारः सत्त्वशीलस्तस्थौ।

एकदा राजा तं सत्त्वशीलं सिंहलेश्वरसुतामात्मार्थं याचितुं सिंहलद्वीपं प्रैषयत्। ततश्च स गच्छन् अभीष्टदेवतामर्चयित्वा राजादिष्टैः द्विजैः सह पोतमारुरोह। तस्मिंश्च पोते मध्यभागमशङ्कितं गते, सहसा तस्मात् जलधेः अभ्रंलिहाग्रः सुमहान् जाम्बूनदविनिर्मितः विचित्रवर्ण-विचलद्वैजयन्तीविभूषितः गजः विस्मयं जनयन् उत्तस्थौ। तस्मिंश्च काले समुन्नद्धघनावली सहसा भृशं वर्षितुमारेभे, तीव्रो मारुतश्च ववौ, द्विपः वर्षवातैर्बलादाकृष्य आधोरणैरिव तस्मिन् पोतध्वजस्तम्भे आसज्यत; तावच्च तस्मिन् वीचिविप्लुते वारिधौ स गजस्तेन वहनेन समं मज्जितुं प्रावर्त्तत। ततस्ते द्विजाः तत्रस्थाश्चण्डसेनं स्वभूपतिमुद्दिश्य भयार्त्ताः अब्रह्मण्यमुद्घोषयन्। तदाकर्ण्य स सत्त्वशीलः स्वामिभक्त्य-तिशयात् असहिष्णुः निस्त्रिंशहस्तः बद्धोत्तरीयकः अनुध्वजमात्मानं निरपेक्षः वारणाशङ्की उदधेः प्रतिविधित्सया प्राक्षिपत्।

का प्रयोग करना छोड़ कर चण्डसिंह राजा का पार्श्ववर्ती नौकर बन कर रह गया।

एक बार उस राजा ने अपने लिये सिंहल द्वीप के राजा की पुत्री की की याचना के लिये सत्त्वशील को सिंहल द्वीप भेजा। तब वह इष्ट देवता की पूजा करके राजा के आदेश दिये हुए ब्राह्मणों के साथ जाता हुआ जहाज पर चढ़ा। उस जहाज के विना किसी शङ्का के समुद्र के बीच में पहुँचने पर एकाएक उस समुद्र में से आश्चर्य उत्पन्न करते हुए सोने से बना हुआ विचित्र रङ्ग की फहराती हुई ध्वजाओं से सुशोभित आकाश को छूते हुए अग्रभाग वाला बहुत बड़ा हाथी बाहर निकला। और उसी समय एकाएक सघन बादल जोरों से बरसना प्रारम्भ किया। तेज हवा बहने लगी। वह हाथी फीलवानों के समान वर्षा सहित हवा के द्वारा बलपूर्वक खींच कर उस जहाज के ध्वजा के खम्भे में लगा दिया गया। तब उस लहरों से उछ-लते हुए समुद्र में वह हाथी उस जहाज के साथ डूबना प्रारम्भ किया। तब उस जहाज पर रहने वाले ब्राह्मण चण्डसेन राजा के उद्देश्य से राजा का कार्य नष्ट हुआ समझ कर भयभीत होकर "अनर्थ हो रहा है" यह चिल्लाने लगे। यह सुन कर उस सत्त्वशील ने स्वामिभक्ति की अधिकता से इस हानि को न सह कर समुद्री हाथी का सन्देह करके कमर में दुपट्टा बांध कर तल-वार हाथ में लेकर किसी की सहायता की अपेक्षा न करते हुए प्रतिकार करने की इच्छा से ध्वजा को लक्ष्य करके अपने को समुद्र में डाल दिया।

कच्छपं गृह्णीतम्, अन्यथा युवाभ्यां कृते पितुर्यज्ञलोपः स्यात्, ततो युवयोस्तस्य च पितुः ध्रुवं नरकपातःस्यात्"। इति तेनोक्तावनुजौ विहस्य तमवोचताम्,—"आर्य्य! आवयोरेव समानं धर्मं वेत्सि? नाऽऽत्मनः?"। ततो ज्येष्ठोऽवादीत्,—"किं युवां मम भोजनचण्डतां न जानीथः? अहं हि भोजनेषु चण्डः, कथमिमं जुगुप्सितं स्पृशामि?"। एतत्तस्य वचः श्रुत्वा मध्यमोऽब्रवीत्,—"अहं हि अधिकश्चण्डः नारीषु, तत् कथमिमं स्प्रष्टुमर्हामि?"। एवं मध्यमेनोक्ते ज्येष्ठः कनीयांसमवादीत्,—"त्वं तावत् आवयोः कनीयान्, कूर्मं गृहाण"। ततः स कनीयान् भ्रुकुटिं विधाय ताववोचत्,—"मूर्खौ! अहं हि विशेषेण तूलिकाचण्डः"। इत्थं ते कलहाऽऽसक्तास्त्रयो भ्रातरः निर्णयाय अभिमानिनः तं कूर्मं विहाय प्रसेनजिदाख्यभूपतेर्नगरं विटङ्कपुरं ययुः; तत्र गत्वा प्रतीहारमुखेनाऽऽवेद्य, तेन च प्रवेशितास्तं नृपं तं वृत्तान्तं विज्ञापयामासुः। राजा च सर्वं श्रुत्वाऽब्रवीत्,—"तिष्ठत यूयमत्र, परीक्षिष्ये वः क्रमात्" इति। ततस्ते "तथा" इत्युक्त्वा सर्वे तत्र अवतस्थिरे। ततः स नृपः स्वाऽऽहारकाले तानानीय तेभ्यः अग्र्याणि

इस कछुए को पकड़ो, नहीं तो तुम दोनों के लिये पिता जी का यज्ञ भ्रष्ट होगा तब तुम दोनों का तथा पिता जी का निश्चित ही नरक में पतन होगा"। यह उसके कहने पर दोनों छोटे भाइयों ने हंस कर उससे कहा—"हे भाई! हम दोनों का ही समान रूप से धर्म जानते हो? अपना नहीं?" तब ज्येष्ठ ने कहा—"क्या? तुम दोनों मेरी भोजन-तीव्रता नहीं जानते हो? मैं तो भोजन में तीव्र हूँ, कैसे इस घृणित को छुऊँगा?"। यह उसका वचन सुन कर मध्यम ने कहा—"मैं तो स्त्री के विषय में अधिक तीव्र हूँ, तो कैसे इसे छू सकता हूँ?"। मध्यम के द्वारा ऐसा कहे जाने पर ज्येष्ठ ने सब से छोटे को कहा—"तुम तो हम दोनों से छोटे हो, कछुए को पकड़ो"। तब उस छोटे भाई ने भौं टेढ़ी कर के उन दोनों को कहा—"हे मूर्खो! मैं तो विशेष रूप से तोसक के बिछौने के विषय में उग्र हूँ"। इस प्रकार झगड़ा करते हुए अभिमानी तीनों भाई उस कछुए को छोड़ कर निर्णय के लिये प्रसेनजित् नाम के राजा के विटङ्कपुर नामक नगर में पहुँचे। वहाँ जा कर द्वारपाल के मुख से निवेदन करके उसके द्वारा प्रवेश कराये जाने पर उस राजा को निवेदन किये। और राजा ने सब कुछ सुन कर कहा—"आप लोग यहाँ रुकिये, क्रमशः आप लोगों की परीक्षा करूँगा"। तब वे लोग "वैसा ही करेंगे" यह कह कर सभी वहाँ ठहर गये। तब उस राजा ने अपने भोजन के समय में उन्हें बुला कर उन लोगों को श्रेष्ठ आसन और राजा के योग्य

अथ तस्मिन् मग्ने, वातोर्मिभिर्दूराक्षिप्तं तत् वहनमभज्यत, तत्स्थाश्च सर्वे यादसां मुखे निपेतुः। स च सत्त्वशीलोऽम्बुधौ मग्नो यावत् निरीक्षते स्म, तावत्तत्र दिव्यं पुरं ददर्श, न वारिधिम्। तत्र मणिमयस्तम्भभास्वरे हेममन्दिरे सद्भिः रत्नैर्बद्धसोपानवापीके उद्यानशालिनि नानामणिशिलाभित्तिरत्नचित्रोच्छ्रितध्वजं मेरुप्रोन्नतं कात्यायनीमन्दिरं प्रविश्य, तां तत्रस्थां देवीं प्रणम्य स्तुत्वा अभ्यर्च्य च, तदग्रतः "किमेतदिन्द्रजालम् ?" इति सविस्मयमुपाविशत्। तावच्च काऽपि दिव्या इन्दीवराक्षी चन्द्रवदना कुसुमस्मिता मृणालमृदुकलेवरा स्त्रीसहस्रपरिवारा सहसा कवाटमुद्घाट्य देवीगर्भगृहं सत्त्वशीलस्य च हृदयं समं विवेश। सा च तत्र देवीमभ्यर्च्य तस्मात् गर्भगृहात् निरगात्, न पुनः सत्त्वशीलस्य हृदयात्; प्राविशच्च तत्रैव प्रभामण्डलकान्तारे। सत्त्वशीलोऽपि तामनुजगाम। ददर्श च अन्यत् उत्तमं सर्वासां भोगसम्पदां सङ्केतोद्यानमिव भवनम्। तत्रान्तर्मणिपर्य्यङ्कनिषण्णां तां

इसके बाद उसके डूब जाने पर हवा वाली लहरों से दूर फेंका हुआ वह जहाज टूट गया और उस पर रहने वाले सभी लोग जल-जन्तुओं के मुख में गिर गये। और वह सत्त्वशील समुद्र में डूब कर जब देखने लगा तब वहाँ एक सुन्दर नगर देखा, समुद्र नहीं। मणिमय खम्भों से दीप्यमान, सोने के भवन वाले, अच्छे रत्नों से बँधी हुई सीढ़ी वाले तालाबों से युक्त, उद्यानों से सुशोभित उस नगर में अनेक मणि की शिला की दीवार में जड़े हुए रत्न तथा चित्रों से युक्त और ऊँची ध्वजा वाले, सुमेरु पर्वत के सदृश ऊँचे दुर्गा जी के मन्दिर में प्रवेश करके उस मन्दिर में स्थित देवी को प्रणाम करके, स्तुति करके और पूजा करके उसके आगे 'यह कौन सा इन्द्रजाल है'? यह सोच कर आश्चर्य के साथ बैठ गया। तब तक मनोहर आकृतिवाली, कमल के समान आँखवाली, चन्द्रमा के समान मुखवाली, फूल के सदृश मुसकानवाली, मृणाल के सदृश कोमल शरीरवाली, हजारों युवतियों से परिवेष्टित कोई युवती ने एकाएक किवाड़ खोल कर देवी के गर्भगृह में तथा सत्त्वशील के हृदय में एक ही समय में प्रवेश किया। और वह वहाँ देवी की पूजा करके उस गर्भ गृह (बीच के कमरे) से बाहर निकल गयी, किन्तु सत्त्वशील के हृदय से बाहर नहीं हुई। वह प्रकाश से भरे हुए खोह में घुस गयी। सत्त्वशील ने भी उसका अनुसरण किया। और सभी भोगविलास की वस्तुओं के एक सङ्केतोद्यान की तरह एक अन्य उत्तम भवन देखा। उसके अन्दर मणि के पलङ्ग पर बैठी हुई उसको देखकर और वहाँ पहुँच कर

आसनानि राजार्हाणि च षड्रसानि स्वादूनि अन्नादीनि दापयामास। ततः सर्वेषु भुञ्जानेषु तेषु भोजनचण्डो जुगुप्सा-कलिताऽऽननो न बुभुजे। "कथं न भोजनं स्वादु सुगन्ध्यपि भुङ्क्ते ?"। इति राज्ञा स्वयं पृष्टः स शनैर्जगाद,—"राजन् ! अस्मिन् भक्ते शवधूमदुरामोदो वर्त्तते, तेनाहमिदं भोक्तुं स्वादु अपि नेच्छामि"। इत्युक्ते तेन सर्वेऽपि नृपाऽऽज्ञया तदाघ्राय "कलमशाल्यन्नमिदं सुगन्धि च" इति शशंसुः। स तु भोजनचतुरः पिहितनासिकस्तन्न बुभुजे। ततः स राजा सञ्चिन्त्य क्रमात् यावदन्विष्यति, तावत् नियोजितजनमुखात् तदन्नं ग्रामश्मशाननिकटक्षेत्रसम्भवशालिजं बुबुधे। ततोऽतिविस्मितस्तुष्टश्च राजा तमभाषत,—"ब्रह्मन् ! सत्यं त्वं भोजनचण्डः, तदन्यद् भुज्यताम्" इति।

ततो राजा कृताहारान् तान् वासगृहेषु विसृज्य स्वामेकां गणिकोत्तमाम् आनयामास, प्राहिणोच्च निशि तां सर्वाङ्गसुन्दरीं कृतमण्डनां तस्मै द्वितीयस्मै नारीचण्डाय भ्रात्रे। सा च राजभृत्येन अन्विता तस्य द्वितीयस्य वासगृहं प्रागात्। तस्याञ्च प्रभासितवेश्मनि प्रविष्टायां समुत्पन्नमोहः वामपाणिना संरुद्धनासाग्रोऽसौ नारीचतुरो राजभृत्यानब्रवीत्,—"निष्कास्यतामेषा, नो चेत् म्रियेऽहम्, अस्याश्छागलगन्धो

स्वादिष्ठ षड्रस अन्न आदि भोजन दिलवाया। तब उन सभी के भोजन प्रारम्भ करने पर उस भोजनतीव्र ने घृणा से मुँह बना कर भोजन नहीं किया। "स्वादिष्ठ तथा सुगन्धित अन्न क्यों नहीं खाते हो ?"। यह स्वयं राजा के द्वारा पूछे जाने पर उसने धीरे धीरे कहा—"महाराज ! इस भात में शव के धूएँ का दुर्गन्ध है, इस लिये मैं स्वादिष्ठ होने पर भी यह नहीं खाना चाहता हूँ" उस के द्वारा ऐसा कहने पर राजा की आज्ञा से सबों ने उसे सूँघ कर "कलम नामक धान का यह अन्न सुगन्धित है" यह कहा। उस भोजनचतुर ने नाक दबा कर वह अन्न नहीं खाया। इसके बाद उस राजा ने सोच कर क्रमशः जब अन्वेषण किया तब नियुक्त किये हुए लोगों के मुख से 'वह अन्न गाँव के श्मशान के समीप के खेत में उत्पन्न धान से पैदा हुआ था' यह समझा। तब अत्यन्त विस्मित तथा सन्तुष्ट होकर राजा ने उसको कहा—"हे ब्राह्मण ! सत्य ही तुम भोजनतीव्र हो, तो दूसरा अन्न खाओ"।

तब राजा ने भोजन करा कर उन्हें निवासगृहों में भेज कर एक अपनी उत्तम वेश्या को मङ्गवाया और रात में उस सर्वाङ्ग-सुन्दरी को आभूषित कर के उस द्वितीय भाई स्त्रीचतुर के लिये भेज दिया। वह राजा के साथ उस द्वितीय भाई के निवासगृह में गयी। प्रकाश से धवलगृह में उसके प्रवेश करते ही व्याकुलता उत्पन्न होने से बायें हाथ से नासिका का अग्रभाग दबा

त्रिलोक्य समुपेत्य तत्पार्श्वे समुपाविशत्, आसीच्च तन्मुखासक्तलोचनो लिखित इव।

इत्थं सोत्कण्ठपुलकैरङ्गैर्वदनाऽऽलोकनोत्सुकं तं स्मराऽऽविष्टं दृष्ट्वा काऽपि तदीया चेटी तदिङ्गितज्ञा तमब्रवीत्,—"भद्र! अतिथिस्त्वमिह प्राप्तः, तदस्मत्स्वामिन्या कृतम् आतिथ्यं भजस्व, उत्तिष्ठ, स्नाहि, भुङ्क्ष्व"। ततश्च स आशां कथञ्चित् तदुक्तितः सम्प्राप्य तया दर्शितामेकामुद्यानवापीमगात्, उदतिष्ठच्च तस्यां निमग्नस्तत्क्षणं ताम्रलिप्त्यां चण्डसिंहस्य नृपतेर्वापीमध्यात्। तत्राकस्मात् प्राप्तमात्मानं वीक्ष्य सोऽचिन्तयत्,— "अहो! किमेतत्? क्व तदुद्यानं दिव्यम्? क्व च तत्र अमृतसारमयं तस्या दर्शनम्? क्व चानन्तरमेव तद्विश्लेषमहाविषमिदम्? स्वप्नोऽयं न, विनिद्रोऽहं, ननु तया चेट्या अहं विप्रलब्धः विमूढोऽस्मि" इति चिन्तयन् तां कन्यां विना सोन्माद इव तस्मिन्नुद्याने भ्रमन् कामार्त्तो विललाप। तदवस्थञ्च पिशङ्गैः पुष्परेणुभिर्वातोद्धूतैर्वियोगानलैरिव परीताङ्गं तं दृष्ट्वा उद्यानपालः चण्डसिंहं महीपतिं गत्वा व्यजिज्ञपत्।

उसके पास में वह बैठ गया। उसके मुह में आँख गड़ाये हुए फोटो में लिखे हुए की तरह वहाँ बैठा रहा।

इस प्रकार उत्कण्ठा सहित रोमाञ्चित अङ्ग होकर मुखावलोकन में उत्सुक हुए उसको कामपीड़ित देखकर हाव-भाव जाननेवाली उसकी किसी दासी ने कहा—"हे सज्जन! तुम यहाँ पहुँचे हो, इसलिये अतिथि हो, तो हमारी स्वामिनी के किये हुए अतिथि-सत्कार का उपभोग करो; उठो, स्नान करो और भोजन करो"। तब वह उसके वचन से किसी प्रकार आशा प्राप्त करके उसके द्वारा दिखलाये हुए बगीचे के एक सरोवर के पास गया। उसमें डूबने पर उसी समय ताम्रलिप्ति नगर में चण्डसिंह राजा के सरोवर से बाहर निकला। एकाएक अपने को वहाँ पहुँचे हुए देख कर वह सोचने लगा— "अरे! यह क्या हुआ? कहाँ वह मनोहर उद्यान? और कहाँ तो वहाँ अमृत के सारभाग स्वरूप उसका दर्शन? और कहाँ उसके बाद ही उसके वियोग का यह महाविष? यह स्वप्न तो नहीं है। मैं जाग रहा हूँ। नहीं नहीं, उस दासी के द्वारा ठगा हुआ मैं भ्रम में पड़ा हूँ"। यह सोचते हुए उस कन्या के बिना उन्मादयुक्त की तरह उस उद्यान में घूमता हुआ काम से पीड़ित होकर विलाप करने लगा। उस अवस्था में हवा से उड़ाये हुए वियोगाग्नि की तरह पीले-पीले फूलों के परागों से व्याप्त अंग वाले उसे देख कर उद्यानरक्षक ने जाकर चण्डसिंह राजा से निवेदन कर दिया। यह सुन

निर्याति"। इत्युक्त्वा राजपुरुषाः समुद्विग्नाः सविस्मयाश्च ततो राजान्तिकं नीत्वा तं वृत्तान्तं तस्मै न्यवेदयन्। राजा तं नारीचण्डमानीय तदाऽब्रवीत्,—"ब्रह्मन्! येयं चन्दनकर्पूरकालागुरुभिः कृतदेहविलेपना दिक्षु प्रसरच्चारुसौरभा वर्त्तते, तस्या वारविलासिन्याश्छागलगन्धः कुतः?"। इत्युक्तोऽपि स नारीचण्डः यदा न प्रतिपेदे, तदा राजा विचारकुतुकोऽभवत्, अबुध्यत च तां तस्या एव मुखेन शैशवे मातृवियोगात् अजाक्षीरविवर्द्धिताम्। ततो राजा अतिविस्मितस्तस्य नारीचण्डस्य चण्डतां बहु प्रशंसन् तस्मै तृतीयाय तूलिकाचण्डाय आशु शय्यामदापयत्।

स च तूलिकाचतुरः पर्य्यङ्कोपरि सप्तसङ्ख्यतूलिकायां शय्यायां धौतश्लक्ष्णपटप्रच्छदवाससि सुष्वाप। रात्रेः यामार्द्ध एव गते स सहसा पाणिना अवष्टब्धपार्श्वः क्रन्दन् व्यथाऽऽकुलः तस्मात् शयनादुत्तस्थौ। तत्रस्थैश्च राजपुरुषैः तस्य पार्श्वे गाढलग्नस्य केशस्य कुटिलाऽरुणा मुद्रा च अदृश्यत। तैश्च तत्क्षणं गत्वा निवेदितो राजा तानुवाच,—

कर उस नारीचतुर ने राजा के नौकरों से कहा—"इसे निकाल दो, नहीं तो मैं मर रहा हूँ, इसके शरीर से बकरे का गन्ध निकलता है"। यह कहे हुए उन राजपुरुषों ने व्याकुल तथा आश्चर्यित हो कर वहाँ से उस को राजा के पास ले जा कर वह वृत्तान्त उन्हें निवेदन किया। तब राजा ने उस नारीचतुर को बुला कर कहा—"हे ब्राह्मण! जो कि यह चन्दन, कर्पूर तथा अगुरु से शरीर लेपन किये हुए दिशाओं में सुन्दर सौरभ फैला रही है उस वेश्या में बकरे का गन्ध कहाँ से आया?"। ऐसा कहने पर भी जब उस नारीचतुर ने नहीं स्वीकार किया, तब राजा विचार करने में कुतूहलयुक्त हो गया और उसी वेश्या के मुख से यह पता लगा कि वह बचपन में माता का वियोग हो जाने से बकरी के दूध से पाली गयी है। तब राजा अत्यन्त विस्मित हो कर उस नारीचतुर की चतुरता की बहुत प्रशंसा करने लगा। फिर उस तृतीय भाई तूलिकातीव्र को शीघ्र शय्या दिलवा दिया।

और वह तूलिकाचतुर पलङ्ग के ऊपर धुली हुई चिकनी चादरवाली सात तोसकों की शय्या पर सो गया। रात के आधे पहर ही बीतने पर वह एकाएक हाथ से एक पार्श्व (पजरी) को पकड़े हुए रोता हुआ व्यथा से व्याकुल हो कर उस बिछौने पर से उठ गया। वहाँ रहने वाले राजपुरुषों के द्वारा उसके पार्श्व में (पजरी में) गहराई में लगे हुए केश का टेढ़ा तथा लाल चिन्ह देखा गया। उन लोगों के द्वारा उसी समय जा कर निवेदन

स च तदाकर्ण्य उद्भ्रान्तः स्वयमेत्य तं ददर्श, पप्रच्छ च सान्त्वयन्,—"किमिदं ब्रूहि सखे! त्वं क्व प्रस्थितः? क्व च प्राप्तः? क्व आस्थाः? क्व च पतितः?" इति। तदाकर्ण्य स तस्मै सर्वं वृत्तान्तम् अशंसत्। राजा व्यचिन्तयत्,—"हन्त! वीरोऽयं मदर्थं कामेनैवं विडम्बितः, तदिदानीमस्याऽऽनृण्यं लब्धुमयमवसरो मया प्राप्तः" इति चिन्तयित्वा स राजा तं जगाद,—"सखे! मुधा शोकं मुञ्च, अहं त्वां तेनैव मार्गेण नीत्वा तामसुरकन्यकां प्रापयामि" इति उक्त्वा स्नानादिना तं समाश्वासयत्।

अथान्येद्युः स मन्त्रिविन्यस्तराज्यभारः तेन समं पोताऽऽरूढः तद्दर्शितेन अम्बुधिमार्गेण गच्छन् तन्मध्यभागे प्राग्वत् समुत्थितं सपताकं गजं ददर्श। तदवलोक्य सत्त्वशीलो राजानमभ्यधात्;—"देव! सोऽयं दिव्यप्रभावो महागजः समुत्थितः, मयि अत्र मग्ने देवेनानुध्वजं मज्जनीयम्" इत्युक्त्वा अस्य निमज्जतो ध्वजस्य निकटं प्राप्य स सत्त्वशीलः पूर्वमात्मानं तत्र न्यक्षिपत्; ततो राजाऽपि तमनु आत्मानं निचिक्षेप। अन्तर्मग्नौ च तौ तत्र तद् दिव्यं पुरमवापतुः।

कर व्याकुल होकर उसने स्वयं आकर देखा और सान्त्वना देते हुए पूछा—"हे मित्र! यह क्या हुआ? कहो। तुम कहाँ चले थे? और कहाँ पहुँचे हो? कहाँ रहे? और कहाँ गिरे हो?" यह सुन कर उसने उसे सम्पूर्ण वृत्तान्त कहा। राजा ने सोचा—"अरे! मेरे लिये यह वीर कामदेव के द्वारा इस प्रकार सताया गया है। तो इस समय इससे उऋणता प्राप्त करने के लिये यह अवसर मैंने प्राप्त किया है'। यह सोच कर उस राजा ने उसे कहा—"मित्र! व्यर्थ का शोक छोड़ो, मैं तुमको उसी मार्ग से ले जाकर उस असुर-कन्या के पास पहुँचा देता हूं"। यह कह कर स्नान आदि से उसको आश्वस्त किया।

इसके बाद दूसरे दिन उसने मन्त्री के ऊपर राज्यभार दे कर, उसके साथ जहाज पर चढ़ कर, उसके दिखलाये हुए समुद्र के मार्ग से जाते हुए उसके मध्य भाग में पहले की तरह बाहर निकले हुए पताकाओं से युक्त हाथी को देखा। यह देख कर सत्त्वशील ने राजा को कहा—"महाराज! वही यह अलौकिक प्रभाव वाला विशाल हाथी निकला है, यहाँ मेरे डूबने पर आपको ध्वजा के पीछे डूबना चाहिये" यह कह कर इस डूबती हुई ध्वजा के समीप पहुँच कर उस सत्त्वशील ने पहले अपने को उस समुद्र में गिरा दिया। इसके बाद राजा ने भी उसके पीछे अपने को गिरा दिया। समुद्र के

"तूलिकानां तलेषु किञ्चित् स्यात् न वा, वीक्ष्यताम्"। ततस्ते गत्वा यावदीक्षन्ते एकैकं तूलिकातलं, तावत् सर्वतले स्थितमेकं बालं प्रापुः, दर्शयामासुश्च तं नीत्वा तत्क्षणं राज्ञे। स च राजा तं तूलिकाचण्ड-मानीय तस्याङ्गं तद्रूपमङ्कितं दृष्ट्वा परं विस्मयमवाप; "सप्तभ्यस्तूलिकाभ्यः अस्य तनौ कथमयं बालो मग्नः?" इति चित्रीयमाणस्तां रात्रिमनैषीच्च। प्रातश्चोत्थाय राजा,—"अद्भुतवैदग्ध्यसौकुमार्य्या अमी" इति परितुष्टः तेभ्यस्त्रिभ्योऽपि चण्डेभ्यो हेमलक्षत्रयं ददौ। ततस्ते सुखिता विस्मृतकच्छपाः पितुर्यज्ञविघ्नेन उपार्जितपातकास्तत्र तस्थुः।

इति अद्भुतां कथामाख्याय स्कन्धनिषण्णः स वेतालः तं राजानमपृच्छत्,—"राजन्! पूर्वोक्तं शापं विचिन्त्य त्वम् एषां त्रयाणां कोऽधिकश्चण्डः इति ब्रूहि"। तदाकर्ण्य स धीमान् नृपतिस्तं वेतालं प्रत्यभाषत,—"अहमेतम् अकैतवं तूलिकाचण्डमधिकं मन्ये, यस्याङ्गे प्रगाढबाललाञ्छनं प्रत्यक्षमुद्गतं दृष्टम्; इतराभ्यान्तु कदाचित्

किये हुए राजा ने उन लोगों को कहा—"तोसकों के तहों में कुछ है या नहीं; यह देखा जाय"। तब उन लोगों ने जा कर एक एक तोसक के तह में जब देखा तब सभी तोसकों के नीचे स्थित एक केश को प्राप्त किया और उसी समय उसे ले जाकर राजा को दिखलाया। और वह राजा उस तूलिका-चतुर को बुलवा कर उसका शरीर उसी रूप में चिह्नित देख कर अत्यन्त आश्चर्यित हुआ; सात तोसकों के नीचे यह केश कैसे इसके शरीर में गड़ गया?" इस से आश्चर्यित होते हुए उस राजा ने उस रात को बिताया। प्रातः काल उठ कर उस राजा ने—"आश्चर्यजनक चतुरता तथा सुकुमारता-वाले ये लोग हैं" यह समझ कर सन्तुष्ट हो कर उन तीनो तीव्रों को तीन लाख सोना दिया। तब वे तीनों कछुए को भूल कर पिता के यज्ञ में विघ्न होने से पातकी बन कर सुखी हो कर वहीं रहने लगे"।

यह अद्भुत कहानी कह कर कन्धे पर स्थित उस वेताल ने उस राजा को पूछा—"महाराज! पहले कहे हुए शाप को सोच कर तुम उन तीनों में कौन अधिक तीव्र था, यह कहो"। यह सुन कर उस बुद्धिमान् राजा ने उस वेताल को जवाब दिया—"मैं इस निष्कपट तूलिकातीव्र को ही अधिक तीव्र समझता हूँ, जिस के अङ्ग में केश का गहरा चिह्न प्रत्यक्ष रूप से निखरा हुआ देखा गया। अन्य दोनों के द्वारा कदाचित् उस से पहले ही जान लिया गया

तच्च दृष्ट्वा राजा सविस्मयो देवीं तां पार्वतीं प्रणम्य सत्त्वशीलेन समुपाविशत्। तावच्च तत्र सा कन्या सखीजनसमन्विता रूपिणी प्रभेव ततः प्रभामण्डलकान्तारात् निरगात्।

"इयं सा सुमुखी" इति सत्त्वशीले वदति, स राजा तस्यामस्यानुरागो युक्त इत्यमन्यत। साऽपि तं राजानं दिव्यशारीरलक्षणं वीक्ष्याचिन्तयत्,—"कोऽयमपूर्वः पुरुषातिशयः ?" विवेश च अम्बिकापूजार्थं तन्मन्दिरम्। सोऽपि नृपः तं सत्त्वशीलमादाय अवज्ञां प्रदर्शयन् उद्यानमाजगाम। क्षणेन च सा कन्यका कृतदेवीपूजा तस्या देव्याः सत्पतिलाभं याचित्वा तद्गृहाभ्यन्तरात् निर्गत्य सखीमेकां प्राब्रवीत्,—"सखि! क्वासौ वीक्ष्यतां, यो मया इह दृष्टः, स महात्मा क्व तिष्ठति ? युष्माभिर्विचित्य 'आतिथ्यमेत्य गृह्यतां, प्रसादो मे त्वया क्रियताम्' इत्येवम् अभ्यर्थनीयः, स हि पूज्यः कोऽपि उत्तमः पुमान्"। एवं तयोक्ता सखी तं विचित्य उद्यानवर्त्तिनं स्वस्वामिनीनिदेशं प्रह्वा व्यजिज्ञपत्। तदाकर्ण्य स वीरो नृपः सावज्ञं तामुवाच,—"भद्रे!

अन्दर डूबे हुए वे दोनों वहाँ उस अपूर्व नगर में पहुँचे। उसे देखकर आश्चर्यित होकर राजा उस पार्वती देवी को प्रणाम करके सत्त्वशील के साथ बैठ गये। तब वहाँ सखी लोगों से घिरी हुई स्वरूपधारण करने वाली प्रभा की तरह वह कन्या प्रकाश से भरी हुई गुफा से निकली।

"यह वही सुन्दरी है" ऐसा सत्त्वशील के कहने पर उस राजा ने "उसके ऊपर इसका अनुराग उचित ही है" यह समझा। उसने भी अलौकिक शारीरिक लक्षणवाले उस राजा को देख कर सोचा कि—"कौन यह अपूर्व पुरुष विशेष है ?" और देवी की पूजा के लिये उस मन्दिर में प्रवेश किया। वह राजा भी उस सत्त्वशील को लेकर अनादर का भाव दिखलाते हुए उद्यान में आ गया। कुछ ही समय में उस कन्या ने देवी की पूजा करके उस देवी से अच्छे पति मिलने की प्रार्थना करके उस मन्दिर से निकल कर एक सखी को कहा—"हे सखि! वह कहाँ है ? देखो, जो मेरे द्वारा यहाँ देखा गया था, वह महात्मा कहाँ है ? तुम लोग खोज कर—'आकर अतिथि-सत्कार ग्रहण करिये, मेरे ऊपर प्रसन्न होइए' इस प्रकार प्रार्थना करना। वह तो कोई पूजनीय उत्तम पुरुष है"। इस प्रकार उसके द्वारा कही हुई सखी ने उद्यान में स्थित उसको खोज कर विनीत होकर अपनी स्वामिनी का आदेश निवेदन किया। यह सुन कर उस वीर राजा ने अनादर के साथ उसको

तत्पूर्वसवगतं सम्भवेत्"। इत्युक्तवतो नरपतेः स्कन्धात् स वेतालः प्राग्वत् प्रययौ। राजाऽपि तमानेतुं पुनः शिंशपातरुमूले तमन्वगात्।

होगा, यह सम्भव है"। यह कहनेवाले राजा के कन्धे से वह वेताल पहले की तरह चला गया। राजा भी उसे लाने के लिये फिर शीशम के पेड़ की जड़ में उस का अनुगमन किया।

वचसैव कृतमातिथ्यं, नान्यत् किमपि उपयुज्यते"। एतदाकर्ण्य तया सख्या गत्वा सा असुरनन्दिनी श्राविता। तदा उदारं तमसामान्यं कमपि अभ्यमन्यत। ततस्तेन मानुषायोग्येऽपि आतिथ्ये निःस्पृहेण राज्ञा धैर्य्यपाशेनाकृष्यमाणा पत्यर्थपार्वतीसेवापरिपाकसमन्विता दैत्य-कन्यका स्वयमुपेत्य उद्यानं प्राविशत्, प्रविश्य च राजानं तमभ्येत्य प्रश्रयान्विता आतिथ्यग्रहणार्थं प्रार्थयामास।

ततः स नृपस्तं सत्त्वशीलम् उद्दिश्य तामुवाच—"भद्रे! अनेन कथितां देवीमिह द्रष्टुमहमागतः, दृष्टा च सा गौरी परमाद्भुतकेतनं ध्वजपथं प्राप्य, तदनु त्वञ्च"। तदाकर्ण्य सा कन्यका प्रत्यभाषत,—"राजन्! तर्हि कौतुकात् त्रिजगदद्भुतं पुरं वीक्षितुमागम्यताम्। एवंवादिनीं तां स नृपः विहस्यावदत्—"तदपि अनेन मे कथितं, यत्र सा स्नानवापी अस्ति" इति। कन्यकाऽवादीत्,—"देव! मैवमादिश, नाहं विडम्बनशीला, पूज्ये विडम्बना का? विशेषतस्त्वहं युष्माकं सत्त्वोत्कर्षेण किङ्करीकृताऽस्मि, तन्मम प्रार्थनाभङ्गं मा कुरुष्व"।

कहा—"हे भली औरत! वचन से ही अतिथि-सत्कार हो चुका, इससे अतिरिक्त किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं है"। यह सुन कर उस सखी ने जाकर उस असुरकुमारी को सुना दिया। तब उसने उसको कोई असाधारण उदार पुरुष समझा। इसके बाद मनुष्य के लिये दुर्लभ अतिथि-सत्कार में भी निर्लोभ राजा के द्वारा धैर्य-पाश से खिची हुई पति के लिये की हुई पार्वती की सेवा का परिणाम प्राप्त करने का अवसरवाली दैत्यकुमारी ने स्वयं जाकर उद्यान में प्रवेश किया। और प्रवेश करके उस राजा के पास पहुँच कर विनय से संयुक्त होकर अतिथि-सत्कार ग्रहण करने के लिये प्रार्थना की।

तब उस राजाने उस सत्त्वशील का उद्देश्य करके उस कन्या से कहा—"हे भली लड़की! इसके द्वारा कही हुई देवी का दर्शन करने के लिये मैं यहाँ आया था। अन्यन्त अद्भुत पताकावाली ध्वजा का रास्ता प्राप्त करके उस गौरी का दर्शन प्राप्त किया, इसके पश्चात् तुम्हारा दर्शन भी हुआ" यह सुनकर उस कन्या ने जवाब दिया—"महाराज! तो कुतूहलवश तीनों भुवन में अद्भुत नगर देखने के लिये आइये"। ऐसा कहनेवाली उस लड़की को उस राजा ने हंस कर कहा—"वह भी इन्होंने कहा है, जहाँ वह स्नान का तालाब है"। कन्या ने कहा—"महाराज! ऐसा मत कहिये, मैं ठगनेवाली नहीं हूँ, पूजनीय व्यक्ति को ठगना कैसा? मैं तो आप के साहस की अधिकता के द्वारा विशेष रूप से दासी बना ली गयी हूँ। तो मेरी प्रार्थना का भङ्ग मत

अथ नवमकथा

ततः स राजा पुनः शिंशपान्तिकं गत्वा तं वेतालं स्कन्धेनादाय प्रस्थितस्तेन वेतालेन प्राग्वदभ्यधायि,—"राजन्! कथमस्मिन् श्मशाने निशि ते एतादृक् प्रयासः? भूतसङ्कुलं रात्रिभीषणं चिताधूमैरिव ध्वान्तैर्निरुद्धं पितृकाननं किं नेक्षसे? तस्य भिक्षोरनुरोधतः कथमीदृशा प्रयासेन आत्मानं खेदयसि? तदिमं मे प्रश्नं मार्गविनोदकं शृणु,—

अवन्तीषु देवनिर्मिता शैवी तनुरिव उद्दामभोगभूतिविभूषिता पद्मावती, भोगवती हिरण्यवतीति च कृतादिषु त्रिषु युगेषु पुरी क्रमशः आसीत्। कलौ च उज्जयिनीति पुरी अस्ति, तस्यामासीद् वीरदेवो नाम नृपतिः, तस्य पद्मरतिनाम्नी महादेवी आसीत्।

एकदा राजा तया साकं मन्दाकिनीतटे पुत्रकाम्यया तपसा हरमाराधयामास, चिरञ्च तपश्चरन् कदाचित् परितुष्टशङ्करोदिताम्

नवीं कथा

तब वह राजा फिर शीशम के पास जा कर उस वेताल को कन्धे पर ले कर चला और उस वेताल के द्वारा पहले की तरह कहा गया—"महाराज! क्यों रात के समय इस श्मशान में तुम्हारा इस प्रकार का प्रयास है? क्यों तुम प्रेतों से भरे हुए, चिता-धूओं की तरह अन्धकारों से भरे हुए, रात्रि के कारण भयङ्कर इस श्मशान को नहीं देखते हो? उस संन्यासी के अनुरोध से क्यों इस प्रकार के प्रयास से अपने को क्लेशित करते हो? इसलिये रास्ते का मनोरञ्जन करने वाला मेरा यह प्रश्न सुनो,—

"अवन्ती देश में देवता से बनायी हुई उद्धत सर्पशरीर तथा विभूति (भस्म) से विभूषित शङ्कर जी के शरीर के समान उद्धत भोगविलास तथा सम्पत्ति से विभूषित क्रमशः पद्मावती सत्ययुग में, भोगवती त्रेता में तथा हिरण्यवती द्वापर युग में नगरी थी। कलियुग में तो वह उज्जयिनी पुरी है। उस में वीरदेव नाम का राजा था, उस की पद्मरति नाम की महारानी थी।

एक बार राजा उसके साथ गङ्गा के तट पर पुत्र की कामना से तपस्या के द्वारा शङ्कर जी की आराधना करने लगा। चिरकाल तक तपस्या करते हुए किसी समय उसने सन्तुष्ट हुए शङ्कर जी के द्वारा कही

एतदाकर्ण्य स राजा सत्त्वशीलेन सहितः "तथा" इत्युक्त्वा तया सह प्रभामण्डलोपान्तं ययौ।

अथ अपावृतकवाटे तस्मिन् प्रविष्टः अपरं दिव्यं नित्यं सर्वर्त्तु-कुसुमफलशोभितं रत्नकाञ्चनैर्निर्मितमपरं मेरुपृष्ठमिव पुरं ददर्श। तत्र सा महार्हे रत्नासने राजानमुपवेश्य यथोचितं अर्घ्यादिकमानाय्य राजसुताऽब्रवीत्,—"महाभाग! अहमस्मि असुरेन्द्रस्य महात्मनः कालनेमेः सुता, चक्रिणा स मम पिता स्वर्गं प्रापितः, इदञ्च मे पैतृकं पुरद्वयं विश्वकर्मणा कृतं, सर्वकामदे अत्र न जरा न च मृत्युः बाधते; इदानीञ्च त्वं मे पिता सपुरायाः"। इति समर्पितात्मसर्वस्वां तामवादीत् स राजा—यदि एतत्, तर्हि त्वं मम सुता अस्मै सत्त्वशीलाय सुहृदे वीराय वान्धवाय च मया दत्ता"। एवं देवीप्रसादेन मूर्त्तेनेव नृपेण सा उक्ता गुणज्ञा विनता तं राजानं "तथा" इति अन्वमन्यत।

ततस्तस्याः पाणिग्रहं कृत्वा कृतार्थे तस्मिन् सत्त्वशीले, राजा असुरै-

---

करिये"। यह सुन कर उस राजा ने सत्त्वशील के साथ "अच्छा, वैसा ही करूँगा" यह कह कर उस कन्या के साथ प्रभा-मण्डलवाले खोह के पास गया।

इसके बाद किवाड़ा खुल जाने पर उसमें प्रवेश करके उस राजा ने एक दूसरा बहुत सुन्दर सर्वदा सभी ऋतुओं के फूल तथा फल से सुशोभित, रत्नों तथा सुवर्णों से बना हुआ सुमेरु पर्वत की अधित्यका के समान नगर देखा। वहाँ उस राजकुमारी ने बहुमूल्य रत्न के आसन पर राजा को बैठाकर यथोचित अर्घ्य आदि अनवा कर कहा—"हे महानुभाव! मैं असुरराज महात्मा कालनेमि की पुत्री हूँ, भगवान् विष्णु के द्वारा वह मेरे पिता स्वर्ग पहुँचाये गये। ये मेरे पिता के दोनों नगर विश्वकर्मा के द्वारा बनाये हुए हैं। सभी कामना पूर्ण करनेवाले इस नगर में जरा और मृत्यु की बाधा नहीं होती है। इस समय दोनों नगर सहित हमारे आप ही पिता हैं"। इस प्रकार सर्वस्व सहित अपने को समर्पित करनेवाली उस असुरकुमारी को राजाने कहा—"यदि ऐसा है तो तुम मेरी पुत्री हो, इस वीर, बन्धु, मित्र सत्त्वशील को मेरे द्वारा दी जाती हो"। स्वरूप धारण करनेवाले देवी के प्रसाद के तुल्य उस राजा के द्वारा ऐसा कही हुई उस गुणज्ञा ने विनम्र हो कर उस राजाका "वैसा ही करूँगी" इस प्रकार अनुमोदन किया।

तब उस का पाणिग्रहण कर के उस सत्त्वशील के कृतार्थ हो जाने पर

आकाशवाणीं शुश्राव,—"राजन्! उत्पत्स्यते ते पुत्रः शूरः कुलोद्वहः; कन्या चैका लावण्येन जिताप्सराः"। एतां नाभसीं वाणीं श्रुत्वा स भूपतिरभीष्टसिद्धिप्रहृष्टः महिष्या समं स्वनगरीमाययौ। तस्य प्रथमं पद्मरत्यां देव्यां शूरदेवो नाम पुत्रः; तदनु च अनङ्गरतिर्नाम अनङ्ग-मोहिनी कन्या समजायत। क्रमेण च तस्यां वृद्धिं गतायां स राजा सदृशं वरं प्रेप्सुः पृथिवीमण्डलस्थान् सर्वान् नृपतीन् पटलिखिता-नानाययत्। यदा तेषु एकोऽपि तस्याः सदृशो न प्रत्यभासत, तदा स राजा वात्सल्यात् तां सुतामभाषत,—"वत्से! अहं तावत् ते सदृशं वरं न पश्यामि, तत् सर्वान् नृपान् समानाय्य स्वयंवरं कुरुष्व"। एतत् पितृवचनमाकर्ण्य सा राजपुत्री जगाद,—"तात! स्वयंवरम् अतिह्रेपणं, तदहं नेच्छामि; यो हि युवा सुरूपः केवलं पूर्णं विज्ञानं वेत्ति, तस्मै त्वया अहं देया, न्यूनाधिकेन मे नास्ति प्रयोजनम्"।

इति दुहितुर्वचः समाकर्ण्य यावत् स भूपतिस्तादृशं वरम् अन्वि-ष्यति, तावत् तत् लोकमुखात् विदित्वा चत्वारो वीरा विज्ञानिनो

हुई आकाशवाणी सुनी—"हे महाराज! तुम्हारा पुत्र उत्पन्न होगा जो कि वीर होगा और कुल की मर्यादा वहन करेगा और अपने सौन्दर्य से अप्सराओं को जीतने वाली एक कन्या भी उत्पन्न होगी"। इस आकाशवाणी को सुन कर मनोरथ पूर्ण होने से प्रसन्न हो कर वह राजा महारानी के साथ अपनी नगरी को गया। उसके पद्मरति देवी के गर्भ से पहले शूरदेव नाम का पुत्र और पश्चात् अनङ्गरति नाम की कामदेव को मोहित करनेवाली कन्या उत्पन्न हुई। क्रमशः उसके बढ़ जाने पर उस राजा ने उसके सदृश वर प्राप्त करने की इच्छा से पृथिवी पर रहनेवाले सभी राजाओं के चित्र मङ्गवाये। जब उनमें एक भी उसके सदृश न मालूम हुआ, तब उस राजा ने स्नेह से उस पुत्री को कहा—"हे पुत्री! मैं तो तुम्हारे सदृश वर नहीं देखता हूँ, तो सभी राजाओं को बुला कर स्वयंवर करो"। यह पिता का वचन सुन कर उस राजकुमारी ने कहा—"पिताजी! स्वयंवर तो अत्यन्त लज्जाजनक कार्य है, वह मैं नहीं चाहती हूँ; जो युवक सुन्दर होते हुए केवल एक विज्ञान को पूर्णरूप से जानता हो आप के द्वारा मैं उसी को दी जाऊँ। कम या अधिक से मुझे कोई प्रयोजन नहीं है।

पुत्री का यह वचन सुन कर जब वह राजा उस प्रकार का वर खोजने लगा तब लोगों के मुह से वह समाचार जान कर वीर तथा विज्ञानी चार

भव्याः पुरुषा दक्षिणापथात् तं राजानमाययुः। ते च राज्ञा सत्कृताः एकैकशः स्वं स्वं विज्ञानं राजसमक्षं शशंसुः। तेषामेको जगाद,—अहं तावत् शूद्रः नाम्ना पञ्चफुट्टिकः; एकोऽहमन्वहं पञ्च अग्रयाणि वसनयुग्मानि करोमि, तेषामेकं देवाय प्रयच्छामि, एकं द्विजाय, एकमात्मनः कृते परिगृह्णामि, एकञ्च भार्य्यायै (या मे भवति) ददामि, पञ्चमञ्च विक्रीय आहारादिकं विदधामि। तदेवं विज्ञानिने मह्यम् अनङ्गरतिस्ते दुहिता दीयताम्" इति।

द्वितीयोऽब्रवीत्—"अहं तावत् वैश्यः भाषाज्ञो नाम सर्वेषां मृग-पक्षिणां रुतं वेद्मि; तदेषा राजपुत्री मह्यं दीयताम्" इति।

ततस्तृतीयोऽभाषत,—"अहं खड्गधरो नाम भुजवीर्य्यशाली क्षत्रियः, खड्गविद्याविज्ञाने अस्यां क्षितौ मे प्रतिमल्लो नास्ति; हे राजन्! तदेषा तनया ते मह्यं दीयताम्" इति।

ततश्चतुर्थोऽब्रवीत्,—"राजन्! अहं तावत् जीवदत्तो नाम विप्रः, मम चैतादृशं विज्ञानमस्ति यत्, मृतानपि जन्तून् आनीय आशु जीवतो दर्शयामि, तद्वीरचर्य्यासिद्धं माम् एषा ते तनया पतिं प्रपद्यताम्"

सुन्दर पुरुष दक्षिण देश से उस राजा के पास पहुँचे। वे लोग राजा के द्वारा सत्कार प्राप्त कर के उन में से एक एक क्रमशः अपना अपना विज्ञान राजा के सामने कहने लगे। उन में से एक ने कहा—"मैं तो शूद्र हूँ, मेरा नाम पञ्चफुट्टिक है। अकेला मैं प्रति दिन पाँच जोड़े श्रेष्ठ वस्त्र बनाता हूँ। उन में से एक देवता को देता हूँ, एक ब्राह्मण को, एक अपने लिये रख लेता हूँ, एक पत्नी के लिये, जो मेरी पत्नी होगी उसके लिये रख देता हूँ, पाँचवें को बेच कर भोजन आदि का प्रबन्ध करता हूँ। अतः तुम्हारी पुत्री अनङ्गरति इस प्रकार के मुझ विज्ञानी को दी जाय"।

दूसरे ने कहा—"मैं तो वैश्य हूँ, भाषाज्ञ मेरा नाम है। सभी मृग तथा पक्षियों की ध्वनि को जानता हूँ। इसलिये यह राजकुमारी मुझे दी जाय"।

तब तीसरे ने कहा—"मैं भुजाओं का बल रखने वाला खड्गधर नाम का क्षत्रिय हूँ। खड्ग-विद्या के विज्ञान में इस पृथ्वी पर मेरे तुल्य योद्धा कोई नहीं है। इस लिये हे महाराज! तुम्हारी कन्या मुझे दी जाय"।

तब चौथे ने कहा—"हे महाराज! मैं तो जीवदत्त नाम का ब्राह्मण हूँ। मेरा इस प्रकार का विज्ञान है कि मरे हुए भी प्राणी को ला कर शीघ्र जीवित कर के दिखला देता हूँ। इस लिये मुझ वीरचर्य्या में सिद्ध पुरुष को यह तुम्हारी पुत्री पति रूप में स्वीकार करे"। ऐसा कहते हुए उन सुन्दर वेष तथा

वासवोपमः स राजा अन्तःपुरिकाभिः साकं कन्दर्पजीवितस्यापि जीवितं मधु सिषेवे। तत्र तस्य राज्ञः इन्दुलेखाया देव्याः केलिकचग्रहात् कर्णाग्रात् उत्सङ्गे उत्पलं पपात। तदभिघातेन च क्षते जाते अभिजाता सा महादेवी,—"हा! हा!" इत्युक्त्वा मुमूर्च्छ। तदवलोक्य विह्वलेन राज्ञा परिजनेन च शीताम्बुमारुतैः समाश्वासिता सा कथञ्चित् संज्ञामवाप। अथ राजा तां राजधानीं नीत्वा भिषजां शतैर्विविधौषधैः प्रियामुपाचरत्।

ततः स राजा रात्रौ तां सुस्थितां दृष्ट्वा द्वितीयया तारावल्या सह चन्द्रप्रासादमारुरोह। तत्र तस्य राज्ञः क्रोडसुप्तायां तस्यां गवाक्षमार्गेण हिमकरत्विषः तदङ्गेषु पेतुः; ततः क्षणात् प्रबुद्धा सा,—"दग्धाऽस्मि" इतिवादिनी सहसा शयनादुत्तस्थौ। अथ स राजा प्रबुद्धः—"किमेतत्?" इति सम्भ्रान्तः समुत्थाय तस्या अङ्गेषु विस्फोटान् निर्गतान् अपश्यत्। "किमेतत्?" इति पृच्छन्तं तं तारावली राज्ञी प्राहस्म नाम;—"अङ्गपतितैरिन्दोः किरणैरेतत् मे कृतम्"। इत्युक्तवत्याः रुदत्यास्तस्यास्ताम् आर्त्तिं दृष्ट्वा राजा

वह राजा महारानियों के साथ कामदेव के प्राणों में भी जीवन देने वाली मदिरा का सेवन करने लगा। वहाँ उस राजा के इन्दुलेखा देवी के क्रीड़ा में बाल पकड़ने से कान के ऊपर से कमल का फूल गोदी में गिर गया। उसके आघात से चोट लगने से वह कुलीना महारानी "हा! हा!" यह कह कर मूर्च्छित हो गयी! यह देखकर विह्वल होकर राजा के द्वारा और नौकरों के द्वारा शीतल जल और हवा से उपचार किये जाने से वह किसी प्रकार होश में आयी। इसके बाद उस राजा ने उसे राजधानी में ले जाकर सैकड़ों वैद्य तथा दवाओं से प्रियतमा का उपचार करवाया।

तब वह राजा रात में उसको स्वस्थ देखकर दूसरी पत्नी तारावली के साथ चन्द्रमा की किरण सेवन करने योग्य चन्द्र नामक महल के ऊपर गया। वहाँ उस राजा की गोदी में उसके सोयी रहने पर खिड़की के मार्ग से चन्द्रमा की किरणें उसके अङ्गों पर गिरने लगीं। तब कुछ ही देर में एकाएक जाग कर वह "हाय! मैं जल गयी" यह कहती हुई बिस्तरे से उठ गयी। इसके बाद जागे हुए उस राजा ने "यह क्या हुआ?" इस रूप में घबड़ाये हुए उठकर उसके अङ्गों में निकले हुए फफोलों को देखा। "यह क्या हुआ" यह पूछते हुए उस राजा को तारावली रानी ने कहा, अरे!—"शरीर पर गिरी हुई चन्द्रमा की किरणों के द्वारा मेरा यह किया गया है" यह कह कर

इति। एवं ब्रुवतः तान् दिव्यवेशाऽऽकृतीन् पश्यन् राजा वीरदेवः सुतया दोलाऽऽरूढ इवाभवत्"।

इति कथामाख्याय वेतालः राजानमप्राक्षीत्,—"राजन्! पूर्वोक्तं शापं स्मृत्वा ब्रूहि, एतेषां कस्मै कन्यैषा देया" इति। एतदाकर्ण्य राजा तं वेतालं प्रत्यवादीत्,—"भवान् केवलं कालक्षेपाय मां मौनं त्याजयति, अन्यथा कोऽयं गहनः प्रश्नः? तदुच्यताम्; शूद्राय कुविन्दाय कथं क्षत्रिया दीयते, वैश्याय च? यच्च तद्गतं मृगादिभाषाविज्ञानं, तत् कस्मिन् कार्ये उपयुज्यते? विप्रेणापि तेन स्वकर्मप्रच्युतेन ऐन्द्रजालिकेन पतितेन वीरमानिना किम्? तस्मात् क्षत्रियायैव खड्गधराय विद्याशौर्यशालिने सा देया" इति। एतत्तस्य वचो निशम्य स वेतालः योगबलात् स्कन्धदेशात् सहसा अलक्षितः क्वापि जगाम। राजाऽपि तथैव तमनुययौ; सोत्साहघने हि वीरहृदये न जातु खेदोऽन्तरं लभते।

आकारवालों को देखता हुआ राजा वीरदेव पुत्री के साथ दोला पर चढ़े हुए मन वाला (कभी इधर कभी उधर आते हुए मनवाला) हो गया"।

यह कथा कह कर वेताल ने राजा को पूछा—"महाराज! पहले के कहे हुए शाप का स्मरण कर के कहो कि इन में से किस को यह कन्या दी जाय?"। यह सुन कर उस राजा ने उस वेताल को जवाब दिया—"आप तो केवल समय नष्ट करने के लिये मेरा मौन त्याग कराते हैं, नहीं तो कौन सा यह कठिन प्रश्न है? तो कहिये, एक शूद्र जुलाहे को कैसे क्षत्रियकुमारी दी जाय? और उस वैश्य को भी कैसे दी जाय? जो कि उस में मृग आदि की भाषा का विज्ञान है, वह किस कार्य में प्रयोग किया जायगा? अपने कर्म से गिरे हुए अत एव पतित तथा अपने को वीर मानने वाले ऐन्द्रजालिक उस ब्राह्मण से भी क्या प्रयोजन? अतः शौर्यविद्या वाले क्षत्रिय खड्गधर को ही वह कन्या दी जाय"। उस राजा का यह वचन सुन कर वह वेताल योगबल से उस राजा के कन्धे से एकाएक अलक्षित हो कर कहीं चला गया। राजा ने उसी प्रकार उसका अनुसरण किया। क्यों कि उत्साह से भरे हुए वीरों के हृदय में कष्ट कभी भी अवसर नहीं प्राप्त करता है।

विह्वलः परिजनमाह्वयत्, अकारयच्च तेन परिजनेन सजलैर्नलिनीदलैः शय्याम्, अदापयच्च अङ्गेषु आर्द्रश्रीखण्डविलेपनानि।

तावच्चास्य तृतीया महिषी मृगाङ्कवती तत्पार्श्वम् आगन्तुमना निजमन्दिरात् निरगमत्, निर्गच्छन्ती च सा कापि निःशब्दायां तस्यां रजन्यां विदूरे सुव्यक्तं धान्यावघातजं मुसलध्वनिं शुश्राव। श्रुत्वैव सा,—"हा! मृताऽस्मि" इति वदन्ती करौ धुन्वती च व्यथिता च मार्गे एव उपाविशत्। ततः प्रतिनिवृत्त्यैव परिजनेन स्वमेवान्तःपुरं नीता सा बाला रुदती शयनं भेजे। तत्परिजनश्च,—"किमेतत्?" इति चिन्वन् साश्रुः आलीनभ्रमरौ पद्माविव किणाङ्कितौ तस्या हस्तौ ददर्श, उवाच च गत्वा तं वृत्तान्तं राज्ञे। सोऽपि राजा सम्भ्रान्तः समागत्य,—"किमेतत्?" इति तां प्रियां पप्रच्छ। साऽपि हस्तौ प्रदर्श्य व्यथिता प्रोवाच,—"नाथ! मुसलध्वनौ श्रुतमात्र एव मे एतौ किणौ जातौ" इति। ततः स राजा दाहशमनमौषधं चन्दनविलेपनादिकं तस्या हस्तयोः अदापयत्। "एकस्या उत्पलेनापि पतता क्षतम् आहितं, द्वितीयस्याः, शशिकरैरपि अङ्गं

रोने वाली उसकी उस पीड़ा को देखकर राजा ने विह्वल होकर नौकरों को बुलाया और उन नौकरों के द्वारा जल से भींगे हुए कमल के पत्तों से शय्या बनवाया तथा उसके अङ्गों पर गीले श्रीखण्ड चन्दन से विलेपन करवाया।

तब तक उसकी तीसरी रानी मृगाङ्कवती उसके पास आने की इच्छा से अपने महल से निकली। निकलती हुई उसने उस निःशब्द रात में कहीं दूर में स्पष्ट रूप से धान-कूटने से मुसल का शब्द सुना। सुनते ही वह "अरे! मर गई" यह कहती हुई हाथों को कँपाती हुई व्यथित होकर रास्ते में ही बैठ गयी। वहाँ से लौटा कर नौकरों के द्वारा अपने अन्तःपुर पहुँचायी हुई वह बाला रोती हुई बिस्तरे पर लेट गयी। उसके आँसू से भरी आँख वाले नौकर लोगों ने "यह क्या हुआ?" इसका अन्वेषण करते हुए बैठे हुए भ्रमर वाले दो कमलों के सदृश घट्ठों से चिह्नित उसके दोनों हाथों को देखा। और उन लोगों ने वह समाचार राजा को कहा। घबड़ाये हुए उस राजा ने भी आकर "यह क्या हुआ?" यह उस प्रिया को पूछा। व्यथित होती हुई उसने भी दोनों हाथों को दिखला कर कहा—"हे नाथ! मुसल के शब्द के सुनने मात्र से ही मेरे ये घट्ठे हो गये हैं। तब उस राजा ने जलन शान्त करने वाली दवाएँ चन्दन-विलेपन आदि उसके हाथों में लगवा दिया। "एक को गिरे हुए कमल के आघात से चोट लग गई, चन्द्रमा की किरणों

अथ दशमकथा

ततश्च स राजा पुनः शिंशपामूलं गत्वा तं वेतालं तथैव स्कन्धमारोप्य सत्वरं कृतमौनः समुच्चचाल। प्रयान्तश्च तं स्कन्धवर्त्ती स वेतालोऽपृच्छत्,—"राजन्! श्रान्तोऽसि, तदिमां श्रान्तिहारिणीं कथां शृणु,—

आसीद् वीरबाहुर्नाम सकलभूपालशिरःसमभ्यर्चितशासनः पाकशासन इवापरो नृपतिः, तस्यानङ्गपुरं नाम नगरवरमभवत्। तत्रार्थदत्तो नाम महाधनः सार्थवाहः प्रतिवसति स्म, तस्य धनदत्तो नाम ज्येष्ठः पुत्रः कनीयसी च कन्या मदनसेना नाम समजायत।

एकदा धर्मदत्तो नाम कस्यचिद् वणिक्पतेस्तनयः तां लावण्यरसनिर्झरां कुचकुम्भाग्रबलित्रितयरञ्जितां यौवनद्विरदस्येव लीलामज्जनवापिकां वीक्ष्य सद्यः स्मरबाणौघपातापहृतचेतनः समपद्यत, —"अहो! मारेण धाराऽधिरूढेन अमुना रूपेण द्योतिता मल्ली मे

दशवीं कथा

इसके बाद वह राजा फिर शीशम की जड़ में जा कर उस वेताल को उसी प्रकार कन्धे पर उठा कर मौन धारण किये हुए शीघ्रता से चल दिया। जाते हुए उस को कन्धे पर रहने वाले उस वेताल ने कहा—"महाराज! थक गये हो, तो परिश्रम दूर करने वाली यह कहानी सुनो—

सभी राजाओं के शिर से सम्मान किये हुए शासनवाला, द्वितीय इन्द्र के समान वीरबाहु नाम का राजा था। उसका अनङ्गपुर नाम का श्रेष्ठ नगर था। वहाँ बहुत बड़ा धनी अर्थदत्त नाम का बनियाँ रहता था। उसका धनदत्त नाम का ज्येष्ठ पुत्र था और मदनसेना नाम की छोटी पुत्री उत्पन्न हुई।

एक बार किसी बहुत बड़े व्यापारी का धर्मदत्त नामवाला पुत्र, सौन्दर्यप्रवाह के झरना स्वरूप, स्तन-कलश के अग्र भाग और त्रिवली से सुशोभित, युवावस्थारूपी हाथी के विलासस्नान के सरोवर के सदृश उस कन्या को देख कर तत्काल ही कामदेव के बाण-समूह के लगने से हतज्ञान हो गया। महल के छत पर चढ़ी हुई उस को देख कर—"अरे! कामदेव के द्वारा इस

दग्धं, तृतीयस्याश्चास्याः श्रुतेन मुसलशब्देन हस्तयोरीदृशाः किणा जाताः; अहो! युगपत् एतासां मे प्रेयसीनां गुणोऽपि अभिजातत्वं दोषायैव जातः" इति चिन्तयतः अन्तःपुरेषु भ्रमतस्तस्य नृपतेः सा त्रियामा शतयामेव कृच्छ्रात् विरराम। प्रातश्च स राजा शल्य-हर्तृभिर्भिषग्भिः सह तथा विधानमकरोत्, यथा अचिरात् स्वस्थान्तः-पुरनिर्वृतोऽभवत्"।

इत्थमेतां कथामाख्याय वेतालः पप्रच्छ,—"राजन्! एतासां का सुकुमारतरा?"। "यस्याः। मुसले अस्पृष्टेऽपि शब्देनैव किणा उद्गताः, उत्पलेन्दुकरैः स्पर्शे जाते ययोर्व्रणविस्फोटा वृत्ताः, ते उभे तस्याः समे न"। इति राज्ञो वचनमाकर्ण्य स वेतालः यथास्थानमगात्, राजा च दृढनिश्चयः पुनस्तमानेतुं सत्वरो बभूव।

से भी दूसरे का अङ्ग जल गया, इस तीसरी के हाथों में सुने हुए मुसल के शब्द से इस प्रकार के घट्ठे हो गये हैं। अरे! एक साथ ही मेरी इन प्रियतमाओं का कुलीनता रूपी गुण दोष ही हो गया है" यह सोचते हुए तथा रनिवासों में घूमते हुए उस राजा की वह रात सौ पहरवाली रात की तरह बहुत कठिनाई से बीती। प्रातःकाल उस राजा ने क्षत आराम करने वाले वैद्यों के साथ उस प्रकार का प्रबन्ध किया जिससे वह राजा स्वस्थ हुई रानियों के द्वारा सुखी होकर रहने लगा"।

इस प्रकार इस कथा को कह कर वेताल ने पूछा—"महाराज! इनमें से सबसे अधिक सुकुमारी कौन थी?" "जिसके हाथ में मुसल का स्पर्श न होने पर भी शब्द से ही घट्ठे हो गये, कमल तथा चन्द्रमा की किरणों से स्पर्श होने पर जिन दोनों के फोड़े तथा फफोले हो गये वे दोनों उसके समान नहीं थीं"। यह राजा का वचन सुनकर वह वेताल अपने स्थान पर चला गया। वह दृढ़निश्चय वाला राजा भी फिर उसको लाने के लिये प्रयत्न-शील हो गया।

हृदयं भेत्तुमिव निर्मिता"। इत्येवं प्रासादाग्रमारूढां तां दृष्ट्वा चिन्तयतः चक्राह्वस्येव तस्य वासरोऽतिचक्राम।

ततः सा मदनसेना चित्तञ्च तस्य धर्म्मदत्तस्य तद्दर्शनदुःखाग्निसन्तप्तं गृहान्तरं विवेश। भास्वांश्च तद्दर्शनजनितरागोऽपराम्बुधौ निपपात। ताञ्च सुमुखीं नक्तम् अभ्यन्तरागतां दृष्ट्वा तन्मुखाब्जविनिर्जितश्चन्द्रः शनैरुदगात्। धर्म्मदत्तश्च तावद् गृहं गत्वा तामनुचिन्तयन् शयने चन्द्रपादाहतो लुठन् निपत्य तस्थौ; यत्नेन सखिभिर्बन्धुभिश्च पृच्छ्यमानो न किञ्चित् कथयामास। निशि च कृच्छ्रात् प्राप्तनिद्रः तथैव तां पश्यन् अनुनयंश्च समुत्सुकः किमिव नाकरात्; प्रातश्च प्रबुद्धो गत्वा रहसि स सखीं प्रतीक्षमाणाम् उद्यानवर्त्तिनीं मदनसेनां ददर्श, उपेत्य च परिष्वङ्गलालसः प्रेमपेशलैर्वचोभिश्चरणानतः उपच्छन्दयामास।

साऽब्रवीत्,—"अहं कन्या, साम्प्रतं ते परदाराश्च, यतोऽहं पित्रा समुद्रदत्ताय वणिजे वाचा दत्ता, कतिपयैरेव दिनैर्विवाहो मे भविता,

---

सौन्दर्य से चमकती हुई यह मल्लिका मेरे हृदय को बींधने के लिये ही बनायी गयी है" इस प्रकार सोचते हुए उसका चक्रवाक के समान दिन बीत गया।

इसके बाद वह मदनसेना और उस धर्मदत्त का मदनसेना के दर्शन से उत्पन्न दुःखरूपी अग्नि से सन्तप्त मन भी घर के अन्दर प्रवेश किये। उसके दर्शन से ही मानो राग उत्पन्न होने से सूर्य भी पश्चिम समुद्र में गिर गया। उसके मुख-कमल से पराजित हुआ चन्द्रमा रात में उस सुन्दरी को घर के अन्दर गई हुई देख कर धीरे धीरे बाहर निकल आया। और धर्मदत्त भी तब अपने घर जा कर उसी का चिन्तन करते हुए चन्द्रमा के पादों से (किरण रूपी चरणों से) ताड़ित हो कर लुढ़कते हुए की तरह बिस्तरे पर गिर कर लेट गया। यत्नपूर्वक मित्रों के द्वारा तथा बन्धुओं के द्वारा पूछे जाने पर उसने कुछ भी नहीं कहा। फिर रात में बड़ी कठिनाई से निद्रा प्राप्त करने पर उसी प्रकार उसको सपने में देखते हुए उत्सुक हो कर अनुनय-विनय करते हुए क्या क्या नहीं किया। प्रातःकाल जाग कर उसने जा कर एकान्त में सखी की प्रतीक्षा करती हुई वाटिका में स्थित मदनसेना को देखा और उसके पास पहुँच कर आलिङ्गन के अभिलाषी हो कर पैरों पर गिर कर प्रेम से कोमल वचनों के द्वारा प्रार्थना की।

उस मदनसेना ने कहा—"मैं कुमारी हूँ और इस समय तुम्हारे लिये परदारा हूँ; क्यों कि पिता के द्वारा मैं समुद्रदत्त नामक वणिक् को वचन के द्वारा दे दी गयी हूँ। कुछ ही दिनों में मेरा विवाह होगा। इसलिये चुपचाप

अथ द्वादशकथा

अथ राजा तथैव तस्य शिंशपातरोरन्तिकं गत्वा तं वेतालं स्कन्धमारोप्य पुनर्गन्तुं प्रावर्त्तत। वेतालश्च भूयस्तमवादीत्,—"राजन्! इत्थम् अनुद्विग्नः त्वं भृशं मे प्रियोऽसि, तदेतां हृद्यामाख्यायिकां ते श्रमविनोदाय कथयामि, शृणु—

आसीदङ्गदेशे यशःकेतुरिति युवा स्वाङ्गगुप्त्यर्थम् अदग्धः तनुमाश्रितोऽपर इव स्मरो नरपतिः। बाहुवीर्य्येण पराजितवैरिकुलस्य तस्य शक्रस्येव बृहस्पतिः दीर्घदर्शी नाम मन्त्री अभूत्। कदाचित् स राजा वयोरूपमदात् निहतकण्टकं राज्यं तस्मिन् मन्त्रिणि विन्यस्य शनैः सुखासक्तः समजायत। केवलं निरन्तरं प्रमदाऽऽस्पदे अन्तःपुरे तस्थौ, शुश्राव च तासां सानुरागगीतं, न हितैषिणां वचनम्; रज्यति स्म स सततं जालवातायनेषु, पुनर्बहुच्छिद्रेषु राजकार्य्येषु कदाचिदपि। दीर्घदर्शी तु तं राज्यचिन्ताभारं समुद्वहन् दिवानिशम् अतन्द्रितस्तस्थौ।

बारहवीं कथा

इसके बाद वह राजा उसी प्रकार उस शीशम के पेड़ के पास जाकर उस वेताल को कन्धे पर उठा कर फिर जाना प्रारम्भ किया। वेताल ने फिर उसको कहा—"महाराज! इस प्रकार अव्यग्र (शान्त) रहने से तुम मुझे बहुत प्रिय हो गये हो, तो श्रम दूर करने के लिए यह मनोहर कहानी कहता हूँ, सुनो—

अङ्गदेश में अपने अङ्गों की रक्षा के लिये शरीर धारण किये हुए विना जले हुए दूसरे कामदेव के सदृश यशःकेतु नाम का युवक राजा था। इन्द्र के सदृश बाहुबल के द्वारा शत्रुसमूह को पराजित करने वाले उस राजा का बृहस्पति के तुल्य दीर्घदर्शी नाम का मन्त्री था। किसी समय वह राजा जवानी तथा सौन्दर्य के मद से निष्कण्टक किया हुआ राज्य उस मन्त्री के ऊपर रखकर धीरे-धीरे सुख में आसक्त हो गया। सतत केवल स्त्रियों से भरे हुए अन्तःपुर में रहने लगा। उन स्त्रियों का अनुराग से भरा हुआ गीत वह सुनता था, हितैषियों का वचन नहीं सुनता था; वह हमेशा खिड़की की जाली में आनन्दित होता था, किन्तु बहुत गड़बड़ियों से भरे हुए राजकार्यों में कभी भी नहीं आनन्दित होता था। दीर्घदर्शी तो उस राज्य-चिन्ता-भार को वहन करते हुए दिन-रात सावधान रहता था।

तत् तूष्णीं गच्छ, मा कश्चित् पश्येत्, ततो दोषो भवेत्"। इत्युक्तस्तया त्यक्तश्च स धर्मदत्तस्तां जगाद,—"सुन्दरि! यदस्तु, त्वां विना नाहं जीवेयम्"। तदाकर्ण्य सा वणिक्सुता कन्याभावदूषणभयाऽऽकुला तमुवाच,—"तर्हि विवाहो मे तावत् सम्पद्यतां, पिता मे चिरकाङ्क्षितं कन्यादानफलं लभतां, ततोऽहं त्वां निश्चितं प्रणयेन समुपेष्यामि"। तदाकर्ण्य सोऽब्रवीत्,—"अन्यपूर्वा मम प्रिया नेष्टा, परभुक्ते कमले विमलेऽपि किं रतिर्जायते?"। इति तेनाभिहिता साऽवादीत्,—"तर्हि कृतोद्वाहैव पूर्वं त्वामुपयास्यामि, ततः पतिम्" इति। एवमुक्तवतीं तां वणिक्पुत्रीं प्रत्ययार्थं शपथेन सत्येन स धर्म्मदत्तः सम्बबन्ध। ततस्तेनोज्झिता सा समुद्विग्ना स्वं मन्दिरं विवेश।

अथ प्राप्ते लग्नदिवसे निर्वृत्तोद्वाहमङ्गला सा गत्वा पतिगृहं, नीत्वा च उत्सवेन वासरं, निशि पत्या समं शयनीयगृहमध्यास्त; तत्र शय्यानिषण्णाऽपि असम्मुखी समुद्रदत्तस्य तस्य पत्युः परिष्वङ्गं न प्रत्यपद्यत। तेनानुनीयमानाऽपि सा यदा उदश्रुः बभूव, तदा स

चले जाओ, कोई देखे न, नहीं तो उससे बहुत बड़ी हानि होगी"। उसके द्वारा यह कहे हुए तथा परित्याग किये हुए उस धर्मदत्त ने उसे कहा—"हे सुन्दरी! जो कुछ होवे, किन्तु मैं तुम्हारे बिना नहीं जीऊँगा"। यह सुन कर अपने कौमार व्रत के नष्ट होने के भय से व्याकुल हो कर उस वणिक्पुत्री ने उसे कहा—"तो मेरा विवाह सम्पन्न हो जाय, मेरे पिता बहुत दिनों से वाञ्छित कन्यादान का फल प्राप्त कर लें, तब मैं निश्चित ही प्रेम से तुम्हारे पास आऊँगी"। यह सुन कर उस धर्मदत्त ने कहा—"पहले अन्य की उपभोग की हुई प्रिया मुझे पसन्द नहीं है, स्वच्छ रहने पर भी दूसरे के उपभोग किये हुए कमल में आनन्द मिलता है क्या?"। उस के द्वारा यह कही हुई उसने कहा—"तो विवाह होते ही पहले तुम्हारे पास आऊँगी तब पति के पास जाऊँगी"। इस प्रकार कहने वाली उस वणिक्पुत्री को विश्वास के लिये शपथ के द्वारा तथा सत्य के द्वारा उस धर्मदत्त ने अच्छी तरह बाँध लिया। तब उससे मुक्त हुई उसने उद्विग्न हो कर अपने भवन में प्रवेश किया।

इसके बाद विवाह के लग्न के दिन मिलने पर और वैवाहिक मङ्गल-कार्य हो जाने पर वह उत्सव के द्वारा दिन बिता कर रात में पति के घर में जा कर पति के साथ बिस्तरे पर लेट गयी। वहाँ बिस्तरे पर सोयी रह कर भी विमुख रह कर उसने उस समुद्रदत्त नामक अपने पति का आलिङ्गन नहीं किया। उस के द्वारा अनुनय किये जाने पर जब वह आँसू गिराने लगी तब

अथ पौरेषु—"नृपं व्यसने प्रक्षिप्य महामन्त्री दीर्घदर्शी साम्प्रतं राज्ञः श्रियं स्वयं भुङ्क्ते" इति जनवादे समुत्थिते, स मन्त्री स्वगेहिनीं मेधाविनीं प्राब्रवीत्,—"प्रिये! राजनि सुखासक्ते, तद्भारं वहतोऽपि,—'राज्यं भक्षितमनेन" इति महदयशो मे समुत्पन्नं जनेषु; लोकवादो हि महतामपि दोषमावहति, रामोऽपि जनापवादेन जानकीं त्याजितो न किम्? तन्मया किं कर्त्तव्यमधुना?"। इति मन्त्रिणाऽभिहिते भार्य्या मेधाविनी धीरा अन्वर्थनाम्नी तं पतिमभाषत,—"नाथ! तीर्थयात्राऽपदेशेन युक्त्या महीपतिमापृच्छस्व,—'कियन्तं कालं विदेशं गन्तुं मे वृद्धस्येदानीं युक्तं, तदनुमन्यताम्' इति। एवं हि निःस्पृहस्य ते स जनवादो निवर्त्तिष्यते; त्वयि चास्थिते राजा स्वयं राजधुरामुद्वक्ष्यति; ततश्च शनैरस्य व्यसनित्वञ्च शान्तिमेष्यति; आगतस्य च पुनस्ते सा एव मन्त्रिता अनिन्द्या भविता"।

इति भार्य्यया अनुशिष्टो महामन्त्री "तथा" इति कथा-

इसके बाद पुरवासियों में—"राजा को स्त्रीसम्भोग आदि दुर्व्यसनों में डालकर महामन्त्री दीर्घदर्शी इस समय राजलक्ष्मी का उपभोग स्वयं कर रहा है" यह लोकापवाद फैलने पर उस मन्त्री ने मेधाविनी नामवाली अपनी पत्नी को कहा—"प्रिये! राजा के सुख में आसक्त हो जाने पर उसका भार वहन करने पर भी मेरा जनता में "यह राज्य को खा गया" इस प्रकार का बहुत बड़ा अपयश उत्पन्न हो गया है; लोकापवाद तो बड़े लोगों में भी दोष उत्पन्न कर देता है। राम ने भी जनापवाद से सीता का त्याग नहीं किया क्या? तो मैं इस समय क्या करूँ"। यह मन्त्री के द्वारा कहे जाने पर धैर्यशालिनी सार्थक नामवाली मेधाविनी पत्नी ने उस को कहा—"नाथ! तीर्थयात्रा के बहाने की युक्ति से राजा को निवेदन करिये कि 'मुझ वृद्ध के लिये इस समय कुछ समय के लिये विदेश जाना उचित है, इसके लिये आज्ञा दीजिये'। इस प्रकार आप के निःस्पृह होने से वह लोकापवाद दूर हो जायगा। आप के न रहने से राजा राज्य का भार स्वयं वहन करेगा। तब धीरे धीरे इसकी सुखासक्ति भी धीमी पड़ जायगी। फिर आने पर आप का वह मन्त्री का पद अनिन्दित रूप से रहेगा"।

इस प्रकार पत्नी के द्वारा विचार दिया हुआ उस महामन्त्री ने "वैसा ही करूँगा" यह निश्चित करके बातचीत के प्रसङ्ग से उस यशःकेतु राजा

नाहमस्या अभिमतोऽस्मीति हृदाऽकरोत्, अवादीच्च,—"सुन्दरि! यदि तेऽहं नाभिमतः, तत्ते योऽभिमतः, तं सेवितुं गच्छ"। तदाकर्ण्य सा नतमुखी शनैरवादीत्,—"नाथ! त्वं मे प्राणाधिकः प्रेयान्, किन्तु मे विज्ञप्तिमेकां शृणु, सहर्षं मे अभयं प्रयच्छ, शपथञ्च कुरुष्व, आर्य्य-पुत्र! अवक्तव्यमपि ते वदामि"। एवमुक्तवती सा "तथा" इति कृच्छ्रात् प्रतिपद्यमानं तं सविषादं सलज्जं सभयञ्चावादीत्,—"नाथ! एकदा एकाकिनीं गृहोद्याने मां दृष्ट्वा धर्मदत्तो नाम मम भ्रातुः सखा युवा स्मराऽऽतुरः मामरुणत्। अहं परीवादं पितुः कन्यादानफलञ्च रक्षन्ती हठप्रवृत्तस्य तस्य वाचमयच्छं यत्,—'पूर्वं विवाहिता त्वामुपे-ष्यामि, ततः पतिम्' इति। तत् प्रभो! मे सत्यं प्रतिपालय, अनुमन्यस्व मां तदन्तिकगमनाय, तन्निकटं गत्वा क्षणेनागमिष्यामि, न हि आबाल्यसेवितं सत्यमतिक्रमितुं शक्नोमि"। इति तस्याः वचोवज्र-पातेन सहसा हतः समुद्रदत्तः सत्येन बद्धः क्षणमचिन्तयत्,—"अहो! धिक्! इयमन्यरक्ता, एतया ध्रुवमेव गन्तव्यं, तत् कथं सत्यं हन्मि?

उसने अपने मन में सोचा कि मैं इसका मनोऽनुकूल नहीं हूँ। और उसने कहा कि—"हे सुन्दरी! यदि मैं तुम्हारे मन के अनुरूप नहीं हूँ, तो जो तुम्हारे मन का अनुकूल है उस की सेवा के लिये चली जाओ"। यह सुन कर शिर झुकाये हुए उसने धीरे धीरे कहा—"हे नाथ! तुम मेरे प्राणों से बढ़ कर प्रिय हो; किन्तु मेरी एक प्रार्थना सुनो और प्रसन्नता के साथ मुझे अभय दान दो और शपथ करो तब हे पतिदेव! अकथनीय विषय होने पर भी तुम्हें कहूँगी"। यह कहने वाली उस ने "वही होवे" इस रूप में मुश्किल से स्वीकार करने वाले उस को विषाद, लज्जा तथा भय के साथ कहा—"नाथ! एकबार घर के पास के बगीचे में अकेली मुझे देख कर मेरे भाई का मित्र धर्मदत्त नाम का युवक कामपीड़ित होकर मुझे रोक लिया। अपने अपवाद को तथा पिता के कन्यादान के फल को बचाती हुई मैंने उस को वचन दे दिया कि—'विवाह होने पर पहले तुम्हारे पास आऊँगी तब पति के पास जाऊँगी'। तो हे प्रभो! मेरे सत्य की रक्षा करो, उस के पास जाने के लिये मुझे आदेश दो, उसके पास जाकर कुछ ही देर में आ जाऊँगी, बचपन से जिस सत्य की सेवा कर रही हूँ उसका उल्लंघन नहीं कर सकूँगी"। उसके इस वचनरूपी वज्रपात से एकाएक ताडित हुए और सत्य से बँधे हुए समुद्र-दत्त ने क्षण भर सोचा—"अरे! धिक्कार होवे! यह तो दूसरे पर अनुरक्त है, यह तो अवश्य जायगी, तो क्यों अपने सत्य का भङ्ग करूँ? यह जाय,

प्रसङ्गेन तं नृपं यशःकेतुं व्यज्ञापयत्,—"राजन्! अनुजानीहि मां, कांश्चिदपि दिवसानहं तीर्थयात्रार्थमितो व्रजामि, धर्मो हि मे परमो मतः"। तदाकर्ण्य स राजाऽब्रवीत्,—"मन्त्रिन्! मा मैवं, तीर्थैर्विना अपरो दानादिः किं न धर्म्मः? स्वगृहेष्वपि तेन स्वर्गसाधनं किं न स्यात्?"। अथ मन्त्री तमवोचत्,—"देव! दानादौ अर्थशुद्ध्यादिकं मृग्यते, तीर्थानि तु नित्यशुद्धानि, यावच्च यौवनं, तावदेव धीमता गम्यानि, नो चेत् अविश्वास्ये अस्मिन् शरीरे कुतस्तैः सह सङ्गमः?"। इति तस्मिन् मन्त्रिणि वदति, राज्ञि च तत् निषेधति, प्रविश्य प्रतीहारी तं राजानं व्यजिज्ञपत्,—"देव! भगवानंशुमान् व्योमसरोमध्यमवगाहते, तदुत्तिष्ठ, स्नानवेला तेऽतिवर्त्तते"। एतदाकर्ण्य राजा सहसा स्नातुमुदतिष्ठत्। यात्रान्मुखः स मन्त्री च तं प्रणम्य गृहमगात्। तत्र तां भार्य्याम् अनुगन्तुमानसां निवार्य्य, स्वभृत्यैरपि अतर्कितः स्वयुक्त्या यात्रामकरोत्।

क्रमेण च एकाकी तान् तान् देशान् तीर्थानि च भ्रमन् ओड्रविषयं प्रापत्। तत्र अब्धेरदूरे एकं पत्तनं प्राप्य, तत्र

को निवेदन किया—"महाराज! मुझे आदेश दीजिये, कुछ दिन मैं तीर्थ यात्रा के लिये यहाँ से जाऊंगा, क्यों कि मुझे धर्म बहुत प्रिय है"। यह सुन कर उस राजा ने कहा--"हे मन्त्री! ऐसा मत करिये, तीर्थों के विना दूसरा दान आदि क्या धर्म नहीं होगा?"। इसके बाद मन्त्री ने उसको कहा---"महाराज! दान आदि में धन की शुद्धता अपेक्षित है, तीर्थ तो सदा शुद्ध रहते हैं, जब तक यौवन है, तब तक ही बुद्धिमानों को तीर्थों में जाना चाहिये, नहीं तो, इस शरीर के अविश्वसनीय होने से कैसे उन तीर्थों से सङ्गम होगा?"। यह मन्त्री के कहते रहने पर तथा राजा के निषेध करते रहने पर द्वाररक्षिका ने आकर उस राजा को निवेदन किया---"महाराज! भगवान् सूर्य आकाश रूपी सरोवर के मध्य में प्रवेश कर रहे हैं, तो उठिये, आपके स्नान का समय बीत रहा है"। यह सुन कर राजा एकाएक स्नान के लिये उठ गया। और वह मन्त्री भी यात्रा के लिये उद्यत होकर उन्हें प्रणाम करके घर गया। वहाँ साथ जाने की इच्छावाली पत्नी को रोक कर अपने नौकरों से भी अनुपलक्षित होकर अपनी युक्ति से प्रस्थान कर दिया।

क्रमशः अकेले उन-उन देशों तथा तीर्थों में भ्रमण करता हुआ वह ओड्र देश में पहुँचा। वहाँ समुद्र के समीप ही एक नगर में जाकर वहाँ एक

यातु इयं, कोऽस्याः परिग्रहः?" इत्यालोच्य तां यथेष्टगमनाय अनुमेने। साऽपि सहसा समुत्थाय तस्माद् वेश्मनो निरगात्।

अथ सा यान्ती मदनसेना निशि मार्गे एकाकिनी केनापि चौरेण प्रधाव्य वसनाञ्चलाद् रुरुधे, ऊचे च बिभ्यती सा,—"का त्वं सुभ्रु।? क यासि?" इति। साऽवादीत्,—"मुञ्च मां, किं तवानेन प्रसङ्गेन? कार्य्यमस्ति मे"। ततश्चौरोऽब्रवीत्,—"सुन्दरि! चौरात् मत्तः कथं त्वं मुच्यसे?"। तदाकर्ण्य साऽवदत्,—"गृहाण मे आभरणानि"। ततश्चौरः अभ्यधात्,—"शोभने! किमेभिरुपलैः? चन्द्रकान्ताननां जगदाभरणभूतां भवतीं नैवाहं त्यजामि"। इति तेनोक्ता विवशा सा वणिङ्नन्दिनी निजवृत्तान्तमाख्याय तमेवं प्रार्थयामास,—"भद्र! क्षणम् अपेक्षस्व, यावत् सत्यमनुपालयामि; इहस्थस्यैव ते पार्श्वं सत्वरमेष्यामि, नाहमिमां गिरमुल्लङ्घयिष्यामि"। एतदाकर्ण्य चौरस्तां सत्यसन्धां मत्वा मुमोच, तस्थौ च तत्र तदागमं प्रतीक्षमाणः। साऽपि तस्य धर्मदत्तस्य वणिजोऽन्तिकमाजगाम। स च धर्मदत्तस्ताम् अभीष्टां

इसका कैसा उपरोध?" यह विचार कर उसको अपनी इच्छा के अनुसार जाने के लिये उसने आज्ञा दे दी। वह भी एकाएक उठकर उस घर से निकल गयी।

इसके बाद रात के समय रास्ते में अकेली जाती हुई वह मदनसेना किसी चोर के द्वारा दौड़ कर वस्त्र का आँचल पकड़ कर रोक ली गई और डरती हुई वह कही गयी—"हे सुन्दरी! तुम कौन हो? कहाँ जा रही हो?" उसने कहा—"मुझे छोड़ दो, इस बात से तुम्हें क्या प्रयोजन! मुझे जरूरी कार्य है"। तब चोर ने कहा—"हे सुन्दरी! मुझ चोर से तुम कैसे छोड़ी जाओगी?" यह सुनकर उसने कहा कि—"मेरे सभी आभूषण ले लो"। तब चोर ने कहा—"हे शोभने! इन पत्थरों से क्या लाभ? चन्द्रमा के समान मुह वाली, संसार का आभूषण बनी हुई तुम को मैं नहीं छोड़ूँगा"। यह उसके द्वारा कही हुई वह वणिक्पुत्री विवश होकर अपना समाचार कह कर उससे इस प्रकार प्रार्थना करने लगी—"हे भले आदमी! क्षण भर प्रतीक्षा करो; जब तक मैं सत्य का पालन करती हूँ। यहीं पर रहते हुए तुम्हारे पास मैं शीघ्र आऊँगी, मैं इस वचन का उल्लंघन नहीं करूँगी"। यह सुन कर वह चोर उसको सत्यप्रतिज्ञावाली समझ कर छोड़ दिया और वहीं रह कर उसके आगमन की प्रतीक्षा करने लगा। वह भी उस धर्मदत्त वणिक् के पास आ गयी। उस धर्मदत्त ने उस प्रियतमा को आई हुई देख

चैकं शैवं मन्दिरं प्रविश्य तत्प्राङ्गणे उपाविशत्। तत्र तम् अर्ककर-सन्तप्तं दूराध्वभ्रमणधूसरं निधिदत्तो नाम देवार्चनाऽऽगतः कश्चिद् वणिग् ददर्श। स तं तथाविधं दृष्ट्वा सयज्ञसूत्रं सुलक्षणं द्विज-श्रेष्ठं सम्भाव्य आतिथ्यार्थं स्वं गृहमनयत्, अपूजयच्च स्नानभोजनाद्यैः, अप्राक्षीच्च विश्रान्तं,—"कस्त्वम्? कुत आयातः? क्व यासि?" इति। सोऽब्रवीत्,—"अहं दीर्घदर्शी नाम विप्रः, अङ्गदेशादिह आयातस्तीर्थयात्रार्थी" इति। ततः स महावणिक् निधिदत्तस्त-मब्रवीत्,—"अहं वणिज्यया सुवर्णद्वीपं गन्तुमुद्यतः, त्वं ताव-दस्मद्गृहे तिष्ठ, यावदहम् आगमिष्यामि; तीर्थयात्रापरिश्रान्तोऽसि, अत्र कञ्चित् कालं विश्रम्य ततो यास्यसि" इति। तदाकर्ण्य स दीर्घ-दर्शी प्रत्यवादीत्,—"ममेह स्थित्या अलं, त्वयैव सह तत्राह-मपि गन्तुमिच्छामि"। ततस्तेन साधुना,— "एवमस्तु" इति कथिते स मन्त्री चिरादपास्तशयनो निशां तामनैषीत्।

अथान्येद्युस्तेन वणिजा सार्द्धं वारिधिं गत्वा तद्भाण्ड-

शिवमन्दिर में प्रवेश करके उसके आँगन में बैठ गया। वहाँ देवता की पूजा के लिए आये हुए निधिदत्त नामक किसी बनियाँ ने उसको सूर्य की किरणों से तपे हुए तथा दूरमार्ग-भ्रमण से धूसरित देखा। उसने उस प्रकार उसको देखकर यज्ञोपवीत तथा अच्छे लक्षणों से श्रेष्ठ ब्राह्मण समझ कर अतिथि-सत्कार के लिये अपने घर ले आया और स्नान-भोजन आदि से उसका सम्मान किया तथा विश्राम करने पर पूछा कि—"आप कौन हैं? कहाँ से आये हैं? कहाँ जायेंगे?"। उसने कहा—"मैं दीर्घदर्शी नाम का ब्राह्मण हूँ, तीर्थयात्रा के लिये अङ्गदेश से यहाँ आया हूँ"। तब उस महावणिक् निधिदत्त ने उसको कहा—"मैं व्यापार के लिये सुवर्णद्वीप जाने के लिये उद्यत हूँ, जब तक मैं लौट आता हूँ तब तक आप हमारे घर में ठहरिये। आप तीर्थ-यात्रा से थके हुए हैं, कुछ समय यहाँ विश्राम करके तब जाइयेगा"। यह सुनकर उस दीर्घदर्शी ने कहा—"मेरा यहाँ रहना व्यर्थ है, तुम्हारे साथ मैं भी वहाँ जाना चाहता हूँ"। तब उस महाजन के द्वारा—"तो ऐसा ही होवे" यह कहे जाने पर उस मन्त्री ने प्रभात होने से बहुत पहले ही बिस्तरा त्याग किये हुए उस रात को बिताया।

उसके बाद दूसरे दिन उस बनिये के साथ समुद्र में जाकर उसने उसके मूलधन से भरे हुए जलपोत पर आरोहण किया। उस जलयान से जाते हुए

प्राप्तां दृष्ट्वा यथावृत्तं पृष्ट्वा विचिन्त्य च क्षणमब्रवीत्,—"सुन्दरि! सत्येन ते तुष्टोऽस्मि, त्वया परस्त्रिया मे नास्ति प्रयोजनं, यावत् त्वां कश्चिन्नेक्षते, तावत् यथाऽऽगतं गम्यताम्" इति तेन त्यक्ता सा "तथा" इति तद्गेहात् प्रत्यागमत्।

अथ पथि चौरस्य प्रतिपालयतो निकटं प्राप्य,—"ब्रूहि कस्ते वृत्तान्तस्तत्र गतायाः?" इति पृच्छते तस्मै सा तेन वणिजा यथोक्तं, तत् सर्वमाख्यातवती। ततः चौरस्तामवादीत्,—"यद्येवं, तत् मयाऽपि सत्यतुष्टेन विमुक्ताऽसि, साम्प्रतं साभरणा गृहं व्रज" इति। एवं तेनापि सन्त्यक्ता रक्षिता अनृणा अलुप्तशीलमुदिता पत्युरन्तिकमाययौ। तत्र गुप्तं प्रविष्टा प्रहृष्टैवाऽऽगता पृष्टा तस्मै पत्ये तत् सर्वं यथावद्-वर्णयत। सोऽपि अम्लानमुखकान्तिन्तामसम्भोगलक्षणाम् अनष्टचारित्रां सत्यपालनगताम् अदुष्टमानसां सम्भाव्य अभिनन्द्य च तया सह यथासुखं तस्थौ"।

कर सब वृत्तान्त पूछ कर कुछ देर सोच कर कहा—"हे सुन्दरी! तुम्हारे सत्य से मैं सन्तुष्ट हूँ, तुझ परस्त्री से मेरा कोई प्रयोजन नहीं है, जब तक तुम को कोई नहीं देखता है, तब तक जैसे आयी हो, उसी प्रकार चली जाओ"। इस प्रकार उसके द्वारा त्याग की हुई वह "वैसा ही करूँगी" यह कह कर उसके घर से वापस लौट चली।

इसके बाद रास्ते में प्रतीक्षा करने वाले चोर के पास पहुँच कर—"कहो, वहाँ जाने पर तुम्हारा क्या वृत्तान्त हुआ?" यह पूछने वाले उस चोर को उसने उन बनिये के द्वारा जो कुछ कहा गया था वह सब कह दिया। तब चोर ने उसको कहा—"यदि ऐसी बात है तो सत्य से सन्तुष्ट होने वाले मेरे द्वारा भी तुम छोड़ दी गयी हो, इस समय आभरण-सहित तुम घर जाओ"। इस प्रकार उसके द्वारा भी सन्त्यक्त और सुरक्षित होकर, सत्य से उऋण तथा चरित्र नष्ट न होने से प्रसन्न होकर वह मदनसेना अपने पति के पास आ गयी। वहाँ गुप्तरूप से प्रवेश करके प्रसन्न होती हुई आई और पूछी गयी तब उस पति को वह सब वृत्तान्त उसने सही-सही सुना दिया। वह समुद्रदत्त भी उस मदनसेना को प्रसन्नमुखकान्तिवाली, बिना सम्भोग के चिह्नवाली, सुरक्षितचरित्रवाली, सत्यपालन के लिये गयी हुई, पवित्रमनवाली होने की सम्भावना करके इस विषय की प्रशंसा करके उसके साथ सुखपूर्वक रहने लगा"।

पूर्णं प्रवहणं समारुरोह। तेन प्रवहणेन गच्छन् अद्भुतभीषणाम् अम्भोधिं विलोकयन् क्रमेण तत् स्वर्णद्वीपमुपाययौ। तत्र च द्वीपे तेन क्रयविक्रयौ कुर्वता वणिजा निधिदत्तेन सह कञ्चित् कालमुवास। ततश्च तेन सह प्रत्यागच्छन् प्रवहणेन, तस्मात् सागरात् सहसा समुत्थितं प्रबालैः शाखासुभगैः जाम्बूनदोज्ज्वलैः काण्डैः मणिमयैः फलैः कान्तैश्च कुसुमैः सुशोभितं कल्पवृक्षमद्राक्षीत्; तस्य च स्कन्धे सद्रत्नपर्य्यङ्कोपरिस्थिताम् अत्यद्भुताकारां कमनीयां कामपि कन्यकामैक्षत। "अहो! किमेतत्!!" इति स मन्त्री यावत् ध्यायति स्म, तावत् सा कन्या वीणापाणिः गातुमुपचक्रमे,—"येन यत् कर्मबीजमुप्तं, स निश्चितं तत्फलं भुङ्क्ते, पूर्वकृतं हि कर्म विधिनाऽपि अन्यथा कर्त्तुं न शक्यते"। इति सङ्गीतार्थं प्रकटय्य क्षणादेव सा दिव्यकन्या कल्पद्रुमपर्य्यङ्कसहिता तत्रैव ममज्ज। किमप्येतदपूर्वमद्य मयेह दृष्टं, क्व अब्धिः? क्व च दृष्टनष्टोऽयं दिव्याङ्गनासहितस्तरुः? यदि च अब्धेरीदृश एव शश्वदाकारः, तदा लक्ष्मीन्दुपारिजाताद्याः अस्मात् न किमुद्गताः?" इति सञ्चिन्तयन्तं दीर्घदर्शिनं विलोक्य विस्मयाऽऽविष्टं कर्णधारादयोऽ-

---

आश्चर्यजनक तथा भयंकर समुद्र को देखते हुए वह क्रमशः उस सुवर्ण द्वीप में पहुँचा। और वहाँ उस द्वीप में खरीद-विक्री करते हुए उस बनियाँ निधिदत्त के साथ कुछ समय तक रहा। इसके बाद उसी के साथ जलयान के द्वारा लौटते हुए उसने उस समुद्र में से एकाएक निकले हुए नवीन पल्लव तथा सुन्दर डालियों से और सोने से चमकते हुए तने से मणिमय फलों से तथा सुन्दर फूलों से सुशोभित कल्पवृक्ष को देखा। फिर उसके कन्धे पर उत्तम रत्नों के पलंग के ऊपर बैठी हुई अत्यद्भुत आकृतिवाली किसी सुन्दरी कन्या को देखा। जब तक वह मन्त्री—"अरे! यह क्या!" इस प्रकार सोचता था तब तक वीणा हाथ में लिये हुए उस कन्या ने गाना प्रारम्भ किया—"जिसने जो कर्मबीज बोया है वह निश्चित रूप से उसका फल भोग करता है, पूर्व का किया हुआ कर्म विधाता के द्वारा भी हटाया नहीं जा सकता है" यह सङ्गीत का अर्थ प्रकट करके कुछ क्षण में वह दिव्यकन्या कल्पवृक्ष और पलङ्ग के साथ वहीं समुद्र में डूब गयी। यह तो कुछ अपूर्व ही आज मैंने यहाँ देखा है, कहाँ तो समुद्र? और कहाँ दिखाई देकर अलक्षित होनेवाला सुन्दरी कन्या से युक्त यह वृक्ष? यदि हमेशा समुद्र का यही स्वरूप है तो क्या लक्ष्मी, चन्द्रमा, पारिजात आदि इसमें से नहीं निकले हैं? इस प्रकार आश्चर्य से भरे हुए तथा सोचते हुए दीर्घदर्शी को देखकर नाविक

इति कथामुक्त्वा स वेतालस्तं भूपं पृच्छति स्म,—"राजन्! पूर्वोक्तं शापमनुस्मृत्य ब्रूहि, एषां चौरवणिजां मध्यात् कः त्यागी ?" इति। तदाकर्ण्य स राजा मौनं विहाय तं वेतालमाह स्म,—"एषां चौरस्त्यागी, न पुनरुभौ तौ वणिजौ। यो हि पतिस्ताम् अत्याज्यां विवाह्यापि अजहात्, स कुलजः सन् अन्याऽऽसक्तां भार्य्यां जानन् कथं वहति ?। योऽपि अपरः, स भयात्। अथवा कालेन जीर्णाऽऽसक्तिवेगात् तामत्याक्षीत् चौरस्तु गूढचारी निरपेक्षः पापी, प्राप्तं साभरणं स्त्रीरत्नं यदमुञ्चत्, तेन स एव त्यागी" इति। एतदाकर्ण्यैव स वेतालः पूर्ववत् स्वं पदमगात्, राजाऽपि पुनस्तमानेतुं सयत्नोऽभवत्।

यह कथा कह कर उस वेताल ने उस राजा को पूछा—"महाराज! पहले के कहे हुए शाप का स्मरण करके कहो कि इन चोर तथा दोनों बनियों में कौन अधिक त्यागी है ?"। यह सुन कर उस राजा ने मौन त्याग कर उस वेताल को कहा—"इन तीनों में चोर ही सबसे बड़ा त्यागी है, वे दोनों वणिक् नहीं। जो कि पति था उसने जो विवाह करके भी न त्याग करने योग्य उस पत्नी को दूसरे के पास जाने के लिये छोड़ दिया, सो तो वह अच्छे कुल का पुत्र था दूसरे के ऊपर आसक्त पत्नी को जानते हुए भी कैसे ग्रहण करे ? जो कि दूसरा वणिक् था उसने भय से अथवा कुछ समय बीत जाने के कारण आसक्ति के वेग के क्षीण होने से उसे छोड़ दिया। चोर तो गुप्त रूप से विचरण करने वाला, किसी की अपेक्षा नहीं रखने वाला पापी था, उसने जो मिले हुए आभरण-सहित स्त्री-रत्न को छोड़ दिया, इस से वही सबसे बड़ा त्यागी था"। यह सुनते ही वह वेताल पहले की तरह अपने स्थान पर चला गया। राजा भी फिर उसको लाने के लिये प्रयत्न करने के लिये गया।

ब्रुवन्,—"भद्र ! एवमेषा वरकन्यका सदैव इह दृश्यते, निमज्जति च क्षणेन, तव तु अस्या नवं दर्शनम्" इति तैरुक्तः स मन्त्री सविस्मयस्तेन निधिदत्तेन समं पोतात् सागरतीरमाससाद। तत्र उत्तारितभाण्डेन तेन वणिजा हृष्टभृत्येन सह स मन्त्री तद्गृहं गत्वा बहून् दिवसान् तत्र सुखेन स्थित्वा तं निधिदत्तमुवाच,—"सार्थवाह ! भवद्गेहे अहं चिरं सुखेन विश्रान्तः, इदानीं स्वदेशं गन्तुमिच्छामि, भद्रमस्तु ते" इत्युक्त्वा तमनिच्छन्तमपि वणिक्पतिमामन्त्र्य स दीर्घदर्शी सत्त्वमात्रसहायस्ततः प्रतस्थे।

क्रमेण नानादेशानतिक्रमन् निजम् अङ्गविषयं प्रायात्। तत्र यशःकेतुना राज्ञा तदन्वेषणाय नियुक्ताः चारा बहिर्नगरमागतं तं ददृशुः। ततस्तैर्विज्ञप्तो राजा तद्विश्लेषसुदुःखितः स्वयं नगरात् निर्गत्य तमभ्यगात्। ततश्चोपेत्य परिष्वज्य अभिनन्द्य च अध्वश्रमक्षामधूसरं तम् अभ्यन्तरमनयत् अब्रवीच्च तं विश्रान्तं,—"मन्त्रिन् ! अस्मान् त्यक्त्वा त्वया किमर्थं यावच्छरीरं

आदिकों ने कहा—"महाशय ! इसी प्रकार यह सुन्दरी कन्या बराबर यहाँ दिखाई देती है, और क्षण भर में डूब जाती है, आप को तो इसका नवीन दर्शन हुआ है" यह उनके द्वारा कहे जाने पर विस्मित होते हुए वह मन्त्री उस निधिदत्त के साथ जहाज से समुद्र के किनारे पहुँचा। वहाँ अपना सामान उतारे हुए प्रसन्न नौकर वाले उस वणिक् के साथ उस मन्त्री ने उसके घर जाकर बहुत दिनों तक वहाँ सुख से रहकर उस निधिदत्त को कहा—"सेठ जी ! आप के घर में मैंने बहुत दिनों तक सुख से विश्राम किया, अब अपने देश को जाना चाहता हूं, आपका भला होवे" यह कहकर न चाहते भी उस सेठ को निवेदन करके केवल अपने साहस को साथी बनाकर वह दीर्घदर्शी वहाँ से प्रस्थान कर दिया।

क्रमशः अनेक देशों को पार करते हुए वह मन्त्री अपने अङ्गदेश में पहुँचा। वहाँ यशःकेतु राजा के द्वारा उसके अन्वेषण के लिये नियुक्त किये हुए गुप्तचरों ने नगर के बाहर आये हुए उसको देखा। तब उन लोगों के द्वारा निवेदन किये हुए तथा उसके वियोग के दुःख से दुखी वह राजा स्वयं नगर से बाहर आकर उसके पास गया। तब उसके पास जाकर आलिङ्गन तथा स्वागत करके मार्गश्रम से थके हुए तथा धूलि से धूसरित उस मन्त्री को राजा ने महल के अन्दर लाकर विश्राम करने के बाद कहा—"हे मन्त्री ! हम लोगों को छोड़कर क्यों तुमने शरीरसहित मन को इस

अथ एकादश कथा

ततः स राजा शिंशपासकाशं गत्वा तं वेतालं पुनः स्कन्धमधिरोप्य तं भिक्षुं प्रति आगन्तुमारेभे। गच्छन्तञ्च तं स्कन्धस्थितः स वेतालः प्राब्रवीत्,—"राजन्! विचित्रमेकां श्रमापहां कथां ते निवेदयामि, शृणु,—

पूर्वमासीत् उज्जयिन्यां धर्मध्वजो नाम नृपतिः। तिस्रः राजकन्यास्तस्यातिवल्लभा भार्य्या आसन्। तासामेका इन्दुलेखा, द्वितीया तारावली, तृतीया मृगाङ्कवती। ताभिः राज्ञीभिः सह विहरन् राजा जिताशेषरिपुः सुखमासाञ्चक्रे।

एकदा तत्र वसन्तोत्सवे समुपस्थिते ताभिः प्रियाभिः सह स राजा क्रीडितुम् उद्यानमगात्। तत्र अलिमालामौर्वीकाः पुष्पाऽऽनता लताः अनङ्गस्य सज्जिताश्चापयष्टीरिव पश्यन्, तत्रत्यतरूपरि वर्त्तमानानां कोकिलानां गिरं सम्भोगैकरसस्य मनोजस्य आज्ञामिव शृण्वन्,

---

ग्यारहवीं कथा—

इसके बाद उस राजा ने शीशम के पास जाकर उस वेताल को फिर कन्धे पर उठा कर उस संन्यासी के प्रति आना प्रारम्भ किया और जाते हुए उसको कन्धे पर स्थित वेताल ने कहा—"महाराज! परिश्रम दूर करने वाली एक विचित्र कथा तुम्हें निवेदन करता हूँ, सुनो—

पहले उज्जयिनी में धर्मध्वज नाम का एक राजा था। तीन राजकुमारियाँ उसकी अत्यन्त प्रिया पत्नी थीं। उनमें एक इन्दुलेखा, दूसरी तारावली, तीसरी मृगाङ्कवती थी। उन रानियों के साथ विहार करता हुआ, समस्त शत्रुओं का जीतने वाला वह राजा सुख से रहता था।

एक बार वहाँ वसन्तोत्सव आने पर उन प्रियतमाओं के साथ वह राजा विहार करने के लिये वाटिका में गया। वहाँ प्रत्यञ्चा के सदृश भ्रमरों की पंक्तिवाली फूलों से झुकी हुई लताओं को कामदेव के सुसज्जित धनुषदण्ड के समान देखते हुए, वहाँ के पेड़ों के ऊपर रहने वाली कोयलों की वाणी एकसम्भोग ही के प्रेमी कामदेव की आज्ञा के सदृश सुनते हुए, इन्द्र के समान

निःस्नेहपरुषामिमां दशां मानसं नीतम् ? अथवा भगवती भवितव्यस्य गतिं विचित्रां को विज्ञातुमर्हति ? येन अकस्मात् ते तीर्थादिभ्रमणे मतिरेषाऽभवत्; तद् ब्रूहीदानीं के त्वया देशा भ्रान्ताः ? किञ्च नवं वस्तु दृष्टम् ?" इति। ततः स क्रमाद् वर्णयन् सुवर्णद्वीपान्तम् अध्वानम्, अब्धौ समुत्थितां गायन्तीं त्रिजगत्सारभूतां कल्पतरुस्थितां तां दिव्यकन्यकां तस्मै यथावदकथयत्।

राजा तु तत् श्रुत्वैव तथा स्मरवशोऽभवत्, यथा तया विना राज्यजीविते निष्फले अमन्यत; अवदच्च तं मन्त्रिणम् एकान्ते नीत्वा,—"मन्त्रिन्! मयाऽवश्यमेव सा द्रष्टव्या, नो चेद् मे जीवितं नास्तीत्यवधारय; भवितव्यतां प्रणम्य त्वदुक्तेन पथा गच्छामि, अहं ते न निवारणीयः, नानुगम्यश्च; गुप्तमेकाकी गच्छामि, राज्यन्तु मे त्वया रक्ष्यम्, इदञ्च मद्वचो नान्यथा कार्य्यं, मया असुभिः शापितोऽसि" इत्युक्त्वा तत्प्रतिवादं निरस्य तं मन्त्रिणं विससर्ज्ज। तदा स दीर्घदर्शी अनल्पोत्सवेऽपि विमना इव आसीत्; स्वामिनि असाध्यव्यसनासक्ते सन्मन्त्रिणां कुतः सुखम् ?।

स्नेहरहित कठोर दशा को प्राप्त कराया ? अथवा भगवती भवितव्यता की गति विचित्र है उसे कौन जान सकता है ? जिससे एकाएक तीर्थादिभ्रमण में तुम्हारी इस प्रकार की बुद्धि हो गयी। तो कहो इस समय कि किस-किस देश में तुमने भ्रमण किया ? और कौन सी नवीन वस्तु देखी ?"। तब उसने क्रमशः वर्णन करते हुए सुवर्णद्वीप-पर्यन्त रास्ता, समुद्र में बाहर निकली हुई, गीत गाती हुई, कल्पवृक्ष पर बैठी हुई, तीनों भुवनों के सारभूत उस उस दिव्य कन्या को भी उसे यथार्थ रूप में कह दिया।

राजा तो वह सुनते ही उस प्रकार कामाधीन हो गया जिससे उसके बिना राज्य और जीवन को निष्फल मानने लगा और उस मन्त्री को एकान्त में ले जाकर कहा—"हे मन्त्री! मैं अवश्य उसको देखूँगा, नहीं तो 'मैं नहीं जीऊँगा' यह समझ लो। भवितव्यता को प्रणाम करके तुम्हारे कहे हुए मार्ग से जाऊँगा। तुम मुझे मत रोको; न तो मेरा अनुसरण करो। गुप्त रूप से अकेला ही जाऊँगा। मेरे राज्य का पालन तो तुम करना। इस मेरे वचन के विपरीत कार्य मत करो, मैं अपने प्राणों का शपथ तुम्हें दे रहा हूँ" यह कहकर उसके प्रत्युत्तर का खण्डन करके उस मन्त्री को वहाँ से विदा किया। व वह दीर्घदर्शी विशाल उत्सव होने पर भी उदास ही रहता था। स्वामी के असाध्य दुर्व्यसन में आसक्त होने पर अच्छे मन्त्रियों को सुख कहाँ मिलता है।

अथान्येद्युः स राजा तस्मिन् मन्त्रिणां वरे न्यस्तराज्यभारः निशि तापसरूपधरः यशःकेतुः स्वात् नगरात् प्रतस्थे। गच्छंश्च स पथि कुशं नाम मुनिमपश्यत्। सोऽपि तं प्रणतं तापसकल्पं समादिशत्,—"वत्स! लक्ष्मीदत्तेन वणिजा साकं पोतेन वारिधौ गत्वा अभीष्टां कन्यां प्राप्स्यसि, निराकुलो व्रज"। इति तद्वचनं श्रुत्वा हृष्टः प्रणम्य च तं राजा गच्छन् देशान् नदीः अद्रींश्चातिक्रम्य तमम्बुधिमाससाद; तस्य च तीरे मुनिप्रोक्तेन तेन लक्ष्मीदत्तेन स्वर्णद्वीपं यियासुना वणिजा सहसा अस्य सङ्गतिरजायत; तेन च चक्राङ्कपादमुद्रादिदर्शनात् प्रह्वेन सह स नृपः प्रवहणमारुह्य अम्बुधौ प्रतस्थे। सम्प्राप्ते मध्यमब्धेस्तस्मिन् प्रवहणे, सहसा कल्पविटपि-स्कन्धाधिरूढा सा कन्यका उदगात्। यावत् राजा चकोरश्चन्द्रिकामिव तां पश्यति, तावत् सा तथैव वल्लकीवाद्यसङ्गतं गायति स्म,—"यत् कर्मबीजं येन प्रागुप्तं, तत्फलं तेन निश्चितं भोक्तव्यं, पूर्वकृतं हि विधिरपि नान्यथा कर्त्तुं प्रभवति; तस्मात् यत्र यथावत् यस्य यत्

इसके बाद किसी दिन राजा यशःकेतु ने उस श्रेष्ठ मन्त्री के ऊपर राज्य का भार सौंप कर रात में तपस्वी का वेश धारण करके अपने नगर से प्रस्थान किया। जाते हुए उसने रास्ते में कुश नामक मुनि को देखा। उसने भी तपस्वी के समान प्रणाम करते हुए उसको आदेश दिया—"वत्स! लक्ष्मी-दत्त बनियाँ के साथ जहाज के द्वारा समुद्र में जाकर उस ईप्सित कन्या को प्राप्त करोगे, शान्त होकर जाओ"। यह उसका वचन सुनकर प्रसन्न होकर और उसे प्रणाम करके जाते हुए उस राजा ने देशों को, नदियों को और पहाड़ों को पार करते हुए उस समुद्र को प्राप्त किया। उसके तीर में मुनि के बताये हुए सुवर्णद्वीप जाने वाले उस लक्ष्मीदत्त बनिये के साथ इसकी सङ्गति हो गयी। चक्र के चिह्न से अङ्कित पैरों के चिह्न आदि के देखने से विनीत बने हुए उस बनिये के साथ उस राजा ने जलयान पर चढ़कर समुद्र में प्रस्थान किया। उस जहाज के समुद्र के मध्य में पहुँचने पर एकाएक कल्पवृक्ष के कन्धे पर बैठी हुई वह कन्या बाहर निकली। जब तक चन्द्रमा को चकोर के समान वह राजा उसको देखता है तब तक उसने उसी प्रकार वीणा के शब्द से मिश्रित संगीत गाना प्रारम्भ किया—"जो कर्मबीज जिसने पहले बोया है, उसका फल उसको अवश्य भोग करना है। पूर्व के किये हुए का परिवर्तन विधाता भी नहीं कर सकते हैं। इसलिये जहाँ पर जिस प्रकार का जिसका दैवयोग से जो भवितव्य है, वहाँ उस भवितव्य के द्वारा वह

अथ त्रयोदशकथा।

अथ राजा पुनः शिंशपामूलं गत्वा तं वेतालं स्कन्धमारोप्य पूर्ववत् प्रातिष्ठत। गच्छन्तञ्च तं पुनर्वेतालः प्राब्रवीत्,—"राजन्! शृणु संक्षिप्तामेकां कथाम्,—

अस्ति वाराणसी नाम पुरी। तत्र देवस्वामीति राजमान्यो द्विजः कश्चित् प्रतिवसति स्म। तस्य महाधनस्य हरिस्वामीति सुतोऽभवत्। तस्य लावण्यवती नाम उत्तमा पत्नी आसीत्, यां तिलोत्तमादिसुराङ्गनानिर्माणेन शिक्षितकौशलो विधिरनर्घरूपलावण्यैर्विनिर्ममे। कदाचित् स हरिस्वामी तया कान्तया चन्द्रांशुशीतले हर्म्ये रतिश्रान्तो निद्रां ययौ। तस्मिंश्च काले कामचारी मदनवेगो नाम विद्याधरकुमारः तेन पथा नभसि सञ्चरन् तत्र समायात्, अपश्यच्च तां लावण्यवतीं पत्युः पार्श्वे सुप्ताम्। स तु दृष्ट्वैव तां सुप्तामेव गृहीत्वा नभोमार्गेण प्रायात्।

तेरहवीं कथा—

इसके बाद राजा फिर शीशम की जड़ में जाकर उस वेताल को कन्धे पर उठाकर पहले के समान चल दिये। तब जाते हुए उसको फिर वेताल ने कहा—

"महाराज! एक छोटी सी कहानी सुनो—

वाराणसी नाम की नगरी है। वहाँ राजा से सम्मानित देवस्वामी नाम का कोई ब्राह्मण रहता था। महाधनी उस देवस्वामी ब्राह्मण का हरिस्वामी नाम का पुत्र था। उसकी लावण्यवती नाम की सुन्दरी पत्नी थी, तिलोत्तमा आदि अप्सराओं के निर्माण करने से कौशल सीखने वाले विधाता ने अपरिमित सौन्दर्य तथा लावण्यों से जिसका निर्माण किया था। किसी दिन वह हरिस्वामी उस प्रियतमा के साथ चन्द्रमा की किरणों से शीतल महल के छत पर सम्भोग से थककर निद्रित हो गया। उसी समय में स्वेच्छा से विचरण करने वाला मदनवेग नाम का विद्याधर-कुमार उसी रास्ते से आकाश में विचरण करता हुआ वहां आया और पति के बगल में सोयी हुई उस लावण्यवती को उसने देखा। वह तो देखते ही सोयी रहने पर ही उसको पकड़ कर आकाश-मार्ग से चला गया।

दैवयोगेन भवितव्यं, तत्र तेन भवितव्येनासौ जन्तुर्विवशो नीयते" इति सूचितभाव्यर्थां गीतिकां गायन्तीं तां पश्यन् राजा तत्क्षणं स्मरशराहतः निस्पन्द एवातिष्ठत्। "हे रत्नाकर! तुभ्यं नमोऽस्तु, येन त्वया इमां प्रच्छाद्य श्रिया हरिर्विप्रलब्धः, तत् त्वां शरणं प्रपन्नोऽस्मि, त्वं मे इष्टसिद्धिं विधत्स्व"। यावदित्थं स राजा समुद्रं स्तौति स्म, तावत् सा कन्यका सपादपा तत्र न्यमज्जत्। तदवलोक्यैव स राजा तामनु आत्मानं सिन्धौ प्राक्षिपत्। तद्वीक्ष्य स सज्जनः लक्ष्मीदत्तः तं विनष्टं मत्वा दुःखात् देहं त्यक्तुं समुद्यतोऽभवत्। 'मा तावत् साहसं कार्षीः, मग्नस्यास्य अम्बुधौ भयं नास्ति, एष राजा यशःकेतुर्नाम तापसरूपभृत्, अस्या एव कन्याया अर्थे समायातः, इयं हि अस्य पूर्वभार्य्या, एतां प्राप्य पुनरसौ अङ्गराज्यं गमिष्यति" इति गगनादुद्गतया वाचा समाश्वासितोऽसौ सार्थवाहः यथाकाममिष्टं देशं स्वार्थसिद्धये जगाम।

राजा यशःकेतुश्च अम्बुधौ मग्नः अकस्मात् दिव्यमेकं नगरमद्राक्षीत्। सविस्मयश्च तत् नगरं भास्वन्मणिमयस्तम्भैः काञ्चनो-

---

प्राणी विवश करके लाया जाता है" इस भवितव्य अर्थ की सूचना देने वाला गीत गाने वाली उस कन्या को देखता हुआ वह राजा निश्चेष्ट होकर खड़ा रह गया। "हे रत्नों के खजाना समुद्र! तुम्हें नमस्कार करता हूँ, जिस तुमने इस कन्या को छिपाकर लक्ष्मी के द्वारा विष्णु भगवान् को ठग लिया। इसलिये तुम्हारी शरण में पहुँचा हूँ, तुम मेरी ईप्सित की सिद्धि करो"। इस प्रकार जब तक वह राजा समुद्र की स्तुति कर रहा था तब तक वृक्षसहित वह कन्या वहीं समुद्र में डूब गयी। यह देखते ही उस राजा ने उसके पीछे अपने को समुद्र में डाल दिया। यह देखकर वह सज्जन लक्ष्मीदत्त उसको विनष्ट हुआ समझ कर दुःख से शरीरत्याग करने के लिये उद्यत हो गया।" "साहस मत करना, इसके समुद्र में डूबने पर भी कोई भय नहीं है। यह तपस्वी का रूप धारण करने वाला यशःकेतु नाम का राजा है, इसी कन्या के लिए यह आया है; क्योंकि यह इसके पूर्व जन्म की पत्नी है। इसे प्राप्त करके फिर यह अपने अङ्ग देश के राज्य में जायगा" आकाश से उत्पन्न इस वाणी के द्वारा आश्वासित होकर वह सेठ अपनी इच्छा के अनुसार अपने इच्छित देश को स्वार्थ-सिद्धि के लिये गया।

समुद्र में डूबे हुए राजा यशःकेतु ने अकस्मात् एक दिव्य नगर देखा। आश्चर्यित होकर चमकते हुए मणिमय खम्भों वाले, सुवर्ण से दीप्यमान

क्षणेन च प्रबुद्धो हरिस्वामी तां प्राणेश्वरीमपश्यन् ससम्भ्रमं शयनादुदतिष्ठत्,—"अहो! सा मम कान्ता क्व गता? कुपिता किं मयि? आहोस्वित् प्रच्छन्ना मच्चित्तं जिज्ञासुः क्वापि स्थिता परिहसति?" इत्येवं बहु वितर्कयन् व्याकुलः समन्तात् हर्म्यप्रासादवलभीषु अन्विष्यन् निशि अभ्रमत्, परम् आगृहोद्यानात् सर्वत्र चिन्वन् कुतोऽपि तां न प्राप। ततः शोकाग्निसन्तप्तः स सगद्गदं विललाप,—"हा! चन्द्रमुखि! हा! ज्योत्स्नासिताङ्गि! हा! प्रिये लावण्यवति! रात्र्या तुल्यगुणद्वेषात् अनया न सोढाऽसि?। त्वया कान्त्या जितो योऽयं चन्द्रः चन्दनशीतलैः करैः मामसुखयत्, सोऽयं त्वया विना लब्धान्तर इव तैरेव ज्वलद्भिरङ्गारैरिव विषदिग्धैराशुगैरिव मां तुदति"। इत्येवं विलपतस्तस्य हरिस्वामिनः सा निशा कृच्छ्रेण व्यरंसीत्, न तु विरहव्यथा। अथ प्रातः भास्वान् करैः विश्वस्य सन्तमसं बिभेद, परं तस्य हरिस्वामिनो मोहान्धतमसं न भेत्तुं चक्रमे। तीर्णनिशैश्चक्राह्वैरिव वितीर्णस्तस्य करुणाक्रऽऽन्दितध्वनिः शतगुणत्वं

कुछ ही देर में जागकर हरिस्वामी उस प्रियतमा को न देखकर घबड़ाहट के साथ बिस्तरे से उठा। "अरे! वह मेरी प्रिया कहाँ गयी? क्या मेरे ऊपर क्रोधित हो गयी है? अथवा मेरे मन को समझने के लिए छिपकर कहीं बैठी हुई उपहास कर रही है?" इस प्रकार बहुत वितर्क करते हुए व्याकुल होकर सब जगह अटारी, छत तथा छत पर की कोठरियों में खोजते हुए रात में भ्रमण किया, किन्तु घर के पास के बगीचे तक सब जगह खोजते हुए कहीं भी उसे नहीं प्राप्त किया। तब शोकानल से सन्तप्त होकर वह गद्गद स्वर से विलाप करने लगा—"हा! चन्द्रमा के समान मुख वाली! हा! चन्द्रिका के समान श्वेत अङ्गवाली! हा! प्रिये! लावण्यवती! क्या? बराबर गुण होने के द्वेष से इस रात्रि के द्वारा तुम नहीं सहन की जा सकी? तुम्हारे साथ रहने से तुम्हारी कान्ति से विजित जो यह चन्द्रमा चन्दन के समान शीतल किरणों से मुझे सुख पहुँचाता था, वही यह तुम्हारे न रहने से अवसर पाये हुए के सदृश जलते हुए अङ्गारों के समान, विष से भरे हुए मुखवाले बाणों के समान उन्हीं किरणों से मुझे पीड़ित कर रहा है"। इस प्रकार विलाप करते हुए उस हरिस्वामी की वह रात तो बड़ी कठिनाई से बीती, किन्तु विरह की व्यथा नहीं समाप्त हुई। इसके बाद प्रातःकाल होने पर सूर्य भगवान् अपनी किरणों से संसार का अन्धकार दूर किये किन्तु उस हरिस्वामी के मोहान्धकार को दूर करने में समर्थ नहीं हुए। रात बिताने वाले चक्रवाकों के द्वारा दिये हुए के समान उसका करुणरोदनध्वनि सौ

ज्ज्वलभित्तिभिः मुक्ताजालगवाक्षकैः प्रासादैः विराजमानं, नानारत्न-शिलाबद्धसोपानवापिकैः कामदैः कल्पवृक्षाढ्यै रुद्यानैरुपशोभितं दृष्ट्वा समृद्धेऽपि तत्र पुरे निर्जने गृहं गृहं प्रविश्य यदा तां प्रियां क्वापि न दृष्ट-वान्, तदा विचिन्वन् उत्तुङ्गमेकं मणिमन्दिरमारुह्य तद्द्वारमुद्घाट्य तत्र प्रविवेश। प्रविश्य च तत्र सद्रत्नपर्य्यङ्कस्थितां वस्त्राऽऽच्छादितस-र्वाङ्गां शयानाम् एककामैक्षिष्ट,—"किं स्यात् सैवेयम् ?" इति सोत्कण्ठं यावत् तन्मुखमुद्घाटयति, तावत् तामेव ईप्सितां कन्यकाम-द्राक्षीत्। तद्दर्शनेन चास्य तदा काऽपि अवस्था ग्रीष्मर्त्तुमरुपान्थस्य सरिद्दर्शनेनेवाभवत्। साऽपि उन्मीलितलोचना तं कल्याणाकृतिलक्षणं काम्यं प्राप्तं वीक्ष्य सम्भ्रमात् शयनमजहात्। ततश्च कृताऽऽतिथ्या आनतमुखी फुल्लेक्षणोत्पलन्यासैः पादयोः पूजयन्ती शनैरभ्यधात्,—"महाभाग! को भवान्? कथमिदमगम्यं रसातलं प्रविष्टोऽसि? राजलक्षणाङ्किततनोस्ते तापसव्रतं किमिदम्? महाभाग! यदि ते मयि प्रसादस्तदा एतदाख्याहि"।

दीवार वाले, मोतियों के जाल की खिड़की वाले महलों से सुशोभित, अनेक रत्न की शिलाओं से बनायी हुई सीढ़ियों से युक्त तालाबों वाले, सभी मनोरथ पूरा करने वाले, कल्पवृक्षों से भरे हुए उद्यानों से सुशोभित उस नगर को देखकर, सभी समृद्धियों से भरे हुए उस जनशून्य नगर में घर-घर में प्रवेश करके जब उस प्रियतमा को कहीं नहीं देखा तब खोजते हुए एक बहुत ऊँचे मणि के बने हुए भवन पर चढ़कर उसका दरवाजा खोलकर उसमें प्रवेश किया। उसमें प्रवेश करके अच्छे रत्नों के पलङ्ग पर स्थित, वस्त्र से सम्पूर्ण शरीर ढककर सोई हुई एक को देखा। "क्या यह वही होगी ?" इस रूप में उत्कण्ठित होकर जब उसने उसका मुंह खोला तब उस अपनी अभीष्ट कन्या को देखा। उसके दर्शन से ग्रीष्म ऋतु में मरुभूमि के पथिक को सरो-वर दिखाई पड़ने के सदृश उस समय इसकी कोई अनिर्वचनीय हर्ष की अवस्था हो गयी। उसने भी आँख खोलते ही सुन्दर स्वरूप तथा लक्षण वाले उस मनोहर पुरुष को आये हुए देखकर शीघ्रता से शय्या त्याग दिया। तब अतिथिसत्कार करके नम्रमुखी होकर नयनरूपी विकसित कमलों से उसके पैरों की पूजा करती हुई वह धीरे-धीरे कहने लगी—'महाशय! आप कौन हैं? इस अगम्य पाताल लोक में आप कैसे प्रवेश किये हैं? राजा के लक्षणों से चिह्नित शरीर वाले आप का यह तपस्वी व्रत कैसा है? महानुभाव! यदि मेरे ऊपर आप की कृपा हो तो यह कहिये"।

भेजे। स स्वजनैः सान्त्व्यमानोऽपि वियोगानलदीपितः तां प्रेयसीं विना धृतिं न लेभे; "इहानया स्थितम्, इह स्नातम्, इह प्रसाधनं कृतम्, इह च विहृतम्" इति इतस्ततः रुरोद। बन्धवः सुहृदश्च तमेवं प्राबोधयन्,—"न तावत् सा मृता, कथं वा त्वया आत्मा हन्यते? तदवश्यं तामवाप्स्यसि, धैर्य्यमवलम्बस्व, तां गवेषय च धीरस्य उद्योगिनोऽप्राप्यमिह नास्ति" इति। इत्येवं बोधितः स हरिस्वामी कृच्छ्रेण कैश्चित् दिनैः धृतिं बबन्ध, अचिन्तयच्च,—"सर्वस्वं ब्राह्मणसात् कृत्वा तीर्थानि तावत् भ्रमामि, पापसञ्चयञ्च क्षपयामि, पापक्षये जाते जातु तां प्रियां भ्राम्यन्नवाप्नुयाम्"। इत्यालोच्य स समुत्थाय स्नानादिकमकरोत्।

अन्येद्युश्च सत्रे विविधान्नपानानि कृत्वा अवारितं द्विजन्मनामभ्यवहारमकारयत्, धनानि च तेभ्यः सर्वाणि प्रादात्। ब्रह्मण्यमात्रवित्तश्च स्वदेशान्निर्गत्य प्रियां प्राप्तुं तीर्थानि भ्रमितुमगात्। भ्राम्यतश्च तस्य भीमो ग्रीष्मर्त्तुकेशरी प्रचण्डादित्यवदनो दीप्ततद्रश्मिकेशरः समाज-

---

गुणा बढ़ गया। वियोगानल से सन्तप्त उसने स्वजनों के द्वारा सान्त्वना दिये जाने पर भी उस प्रियतमा के बिना धैर्य नहीं प्राप्त किया। "यहाँ उसके साथ बैठे थे, यहाँ स्नान किये थे, यहाँ शृङ्गार किये थे, यहाँ विहार किये थे" यह कह कर यहाँ वहाँ रोता रहा। भाई बन्धु तथा मित्र लोग उसको इस प्रकार समझाने लगे—"क्यों तुम अपनी हत्या करते हो? "वह मरी नहीं है, तो अवश्य उसको प्राप्त करोगे, धैर्य धारण करो और उसको खोजो। इस संसार में धैर्यशाली उद्योगियों का अप्राप्य कुछ भी नहीं है"। इस प्रकार समझाये जाने पर उस हरिस्वामी ने कुछ दिनों के पश्चात् बड़ी कठिनाई से धैर्य धारण किया, और सोचा कि—"ब्राह्मणों को सर्वस्व देकर तीर्थों में भ्रमण करूँ, पाप समूहों को नष्ट करूँ। पापों का विनाश हो जाने पर घूमते हुए कदाचित् उस प्रियतमा को प्राप्त कर सकूँगा"। यह सोच कर उसने उठ कर स्नान आदि किया।

दूसरे दिन उसने सदाव्रत करके उसमें अनेक प्रकार के अन्न और पानक बनवा कर अवारितद्वार होकर ब्राह्मणों को भोजन कराया और उन लोगों को सम्पूर्ण धन दे दिया। ब्राह्मणों में साधुभाव मात्र धन लेकर अपने देश से निकल कर प्रियतमा को प्राप्त करने के लिये तीर्थों में भ्रमण करने के लिये चला गया। उसके घूमते रहने पर प्रचण्ड सूर्य रूपी मुख वाला, उसकी प्रदीप्त किरणरूपी केशर वाला भयङ्कर ग्रीष्म ऋतु रूपी सिंह आ-

एवं तस्या वचः श्रुत्वा स राजा तां प्रत्युवाच,—"सुन्दरि ! अहमङ्गराजः यशःकेतुर्नाम, आप्ताज्जनादिहाम्बुधौ दृश्यां त्वामश्रौषं, ततस्त्वदर्थम् इमं वेशं कृत्वा राज्यं विमुच्य आगत्य च अनुमार्गेण इह प्रविष्टोऽस्मि, तन्मे काऽसि त्वं कथय"। इति तेनोक्ता सा सलज्जा सानुरागा च तमभ्यधात्,—"महाभाग ! मृगाङ्कसेन इति श्रीमानस्ति विद्याधराधिपः, मां मृगाङ्कवतीं नाम तस्याऽऽत्मजां विद्धि। स पिता मामस्मिन् नगरे एकाकिनीं विमुच्य केन हेतुना सपौरजनः क्वापि गतः इत्यहं न जाने; तेनाहं शून्यवसतेरस्मात् वारिधौ उन्मज्जय कल्पद्रुमाऽऽरूढा भवितव्यतां गायामि"। एवमुक्तवती सा तस्य मुनेर्वचस्सरता तेन राज्ञा पेशलैः सुवचोभिः तथा अरज्यत, यथा अनुरागविवशा तत्क्षणं तस्य वीरस्य भार्य्यात्वम् अङ्गीकृत्य समयमेकमभ्यधात्,—"आर्य्यपुत्र ! प्रतिमासं शुक्लकृष्णचतुर्दश्याम् अष्टम्याञ्च अनायत्ता चतुरो दिवसान् यत्र क्वापि गच्छन्ती अहं त्वया न निवार्य्या, नापि द्रष्टव्या; अत्र हि कारणं विद्यते" इति। ततः "तथा"

इस प्रकार उसका वचन सुनकर उस राजा ने उसको जवाब दिया—"हे सुन्दरी ! मैं अङ्गदेश का राजा यशःकेतु नामवाला हूँ, विश्वासी व्यक्ति के मुख से दर्शन करने योग्य तुमको मैंने सुना, तब तुम्हारे लिये यह वेश बनाकर राज्य त्याग करके आकर अनुसरण करते हुए यहाँ तक पहुँचा हूँ। अतः तुम कहो कि—कौन हो तुम ?"। यह उसके द्वारा कही हुई उसने लज्जित तथा अनुरक्त होकर उसको कहा—"महानुभाव ! सभी सम्पत्ति से युक्त विद्याधरों के राजा मृगाङ्कसेन नामके हैं, मुझ मृगाङ्कवती को उसीकी पुत्री समझिये। वह पिता मुझे इस नगरी में अकेली छोड़कर किस कारण से पुरवासियों के साथ कहीं चले गये, यह तो मैं नहीं जानती हूँ। इसी से मैं इस शून्य नगर से समुद्र में बाहर निकल कर कल्पवृक्ष पर आरूढ़ होकर भवितव्यता का गान करती हूँ"। ऐसा कहने वाली वह उस मुनि का वचन स्मरण करने वाले उस राजा के द्वारा मनोहर वचनों से उस प्रकार अनुरक्त हुई कि अनुराग से विवश होकर उसी समय उस वीर की पत्नी होना स्वीकार करके एक नियम करने के लिए कहा—"हे पतिदेव ! प्रति मास के शुक्ल पक्ष तथा कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी तथा अष्टमी तिथि में चार दिन अस्वाधीन होकर जहाँ कहीं जाती हुई मैं तुम्हारे द्वारा रोकी न जाऊँ, न देखी जाऊँ; इसमें कुछ कारण है"। तब "वैसा ही करूँगा" इस प्रकार स्वीकार करके

गाम। समीरणाश्च प्रियाविरहसन्तप्तानां पान्थानां निःश्वासमारुतैः न्यस्तोष्मा इव अत्युष्णो वहति स्म। जलाशयाश्च शुष्यद्विपाण्डुपङ्काः घर्मलुप्ताम्बुसम्पदः स्फुटितहृदया इव दृश्यन्ते स्म। पादपाश्च पक्षिणां चीत्कारमुखरास्तापम्लानदलाधराः मधुश्रीविरहिण इव समदृश्यन्त।

तस्मिंश्च काले अर्कतापेन कान्तावियोगेन क्षुधया तृषया अध्वश्रमेण चातीव क्लान्तो हरिस्वामी भोजनार्थी भ्रमन् कञ्चित् ग्राममाससाद। तत्र च पद्मनाभनाम्नः विप्रस्य गृहे बहून् विप्रान् भुञ्जानान् दृष्ट्वा द्वारशाखां समालम्ब्य निःशब्दनिश्चलस्तस्थौ। तथा स्थितं तमालोक्य तस्य याज्ञिकस्य विप्रस्य गृहिणी साध्वी सञ्जातदया व्यचिन्तयत्,—"अहो! क्षुत् नाम गुर्वी कस्य लाघवं न कुर्य्यात्? यदेष कोऽपि अन्नार्थी द्वारि अधोमुखस्तिष्ठति; दृश्यते चासौ दूरादभ्यागत इव स्नातः क्षीणेन्द्रियः; तदेषः अन्नदानपात्रम्" इत्यवधार्य्य सा साध्वी परमान्नभृतं सघृतशर्करं पात्रमुत्क्षिप्य पाणिभ्यामानीय प्रश्रयवती तस्मै ददौ, जगाद च एनं,—"भुङ्क्ष्व इह क्वचित् वापीतटे

गया। पवन भी प्रियतमा के विरह से सन्तप्त पथिकों के निःश्वास वायु से गर्मी पहुँचाये हुए के समान अत्यन्त गर्म होकर बहने लगा। सरोवर सूखी हुई अतएव सफेद कीचड़ वाले, धूप से विनष्ट की हुई जलसम्पत्ति वाले, हृदय फटे हुए के सदृश दिखाई देने लगे। पक्षियों के चीत्कारों से शब्दायमान वृक्ष भी सन्ताप से मलिन नव किसलय रूपी अधर वाले वसन्तश्री के विरही के सदृश दिखाई देने लगे।

उस समय में सूर्य के सन्ताप से, प्रियतमा के वियोग से, भूख से, प्यास से और मार्ग के परिश्रम से अत्यन्त थका हुआ हरिस्वामी भोजन के लिये घूमता हुआ किसी गाँव में पहुँचा। वहाँ पद्मनाभ नामक ब्राह्मण के घर में बहुतों ब्राह्मणों को भोजन करते हुए देख कर निःशब्द तथा निश्चल होकर दरवाजे का चौकट पकड़ कर खड़ा हो गया। उस प्रकार खड़े हुए उसको देखकर उस याज्ञिक ब्राह्मण की पतिव्रता पत्नी ने दयालु होकर सोचा—"अरे! भूख बहुत बड़ी वस्तु है, यह किसकी लघुता नहीं पैदा कर देती है? जिससे यह कोई अन्न चाहने वाला द्वार पर अधोमुख होकर खड़ा है। मालूम होता है कि यह दूर से आया हुआ है, स्नान किया है, दुर्बल है; तो यह अन्नदान का पात्र है" यह निश्चय करके उस पतिव्रता ने घी और चीनी से युक्त पायस से भरा हुआ पात्र उठा कर दोनों हाथों से लाकर आदर के साथ उसको दे दिया, और इसको कहा—"यहीं कहीं तालाब के किनारे

इति प्रतिपद्य स राजा गान्धर्वेण विधिना तां परिणीय तत्र तया सह दिव्यं भोगसुखं बुभुजे।

एकदा सा मृगाङ्कवती दिव्यसम्भोगसुखावस्थितं तं भूपं प्राह स्म,—"नाथ! त्वमिहैव प्रतीक्षस्व, कार्य्यार्थं क्वापि अहं यामि, अद्य सा कृष्णचतुर्दशी मम सम्प्राप्ता। आर्य्यपुत्र! इहस्थश्च असुं (न) स्फाटिकं गृहं मास्म गमः, मा अत्र वाप्यां निपतितो भव, भूलोकं त्वं तत्क्षणं गमिष्यसि" इत्युक्त्वा तमामन्त्रय तस्मात् पुरात् सा बहिरगात्। राजाऽपि गृहीतखड्गस्तां (प) जिज्ञासुरन्वगमत्, अद्राक्षीच्च तमःश्याम०व्यात्तवक्त्रबिलं साकारमिव पातालमागच्छन्तं कमपि राक्षसम्। स च राक्षसः निपत्यैव घोरं रवं कुर्वन् तां मृगाङ्कवतीं वक्त्रे निक्षिप्य निगीर्णवान्। तदवलोक्यैव स राजा अतिकोपेन सहसा ज्वलन् निर्मोकमुक्तभुजगश्यामलेन महाऽसिना क्रोधाऽऽकृष्टेन धावित्वा रक्षसस्तस्य सन्दष्टोष्ठपुटं शिरश्चिच्छेद।

ततो मोहनिशाऽन्धे विनष्टगतिके कान्तावियोगार्त्ते नृपे अक-

वह राजा गान्धर्व विधान से उससे विवाह करके वहाँ उसके साथ दिव्य भोग का सुख भोगने लगा।

एक दिन उस मृगाङ्कवती ने दिव्यसम्भोग सुख में लगे हुए उस राजा को कहा—"नाथ! तुम यहीं प्रतीक्षा करो, किसी कार्य के लिये मैं कहीं जाऊँगी, आज मेरी वह कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी तिथि आ गयी है। हे पतिदेव! यहाँ रहकर तुम इस स्फटिक के घर में मत जाना तथा इस तालाब में मत प्रवेश करना, यदि प्रवेश करोगे तो उसी समय तुम भूलोक में चले जाओगे"। यह कहकर और उसको पूछकर वह उस नगर से बाहर चली गयी। राजा ने भी जानने का इच्छुक होकर तलवार लेकर अनुसरण किया और देखा अन्धकार से काले फैलाये हुए मुखरूपी गह्वरवाले, शरीरधारी पातालभुवनके समान आते हुए किसी राक्षस को। और उस राक्षस ने आते ही भयंकर शब्द करते हुए उस मृगाङ्कवती को मुह में डालकर निगल गया। वह देखते ही उस राजा ने सहसा अत्यन्त क्रोध से प्रज्वलित होकर केंचुली से मुक्त सर्प के सदृश काली क्रोध से खींची हुई बड़ी तलवार से दौड़कर उस राक्षस का दाँतों से ओठ दबाता हुआ शिर काट डाला।

तब राजा के मोहरूपी रात से अन्धे, गतिहीन तथा पत्नी के वियोगव्यथा

गत्वा"। सोऽपि "तथा" इति तदन्नपात्रं गृहीत्वा नातिदूरतो गत्वा क्वापि वापीतटे वटतरोरधः स्थापितवान्।

ततः स तत्र वाप्यां पाणिपादं प्रक्षाल्य आचम्य च यावत् भक्षयितुं सहर्षः परमान्नमुपैति, तावत् कश्चित् श्येनः कुतश्चित् चञ्च्वा पादद्वयेन च एकं कृष्णसर्पं गृहीत्वा तस्मिन् तरावुपाविशत्। तेन पक्षिणा आक्रम्य उह्यमानस्य उत्क्रान्तजीवितस्य सर्पस्य आस्यात् विषलाला विनिर्ययौ; सा अधःस्थिते तस्मिन्नन्नपात्रे तदाऽपतत्। हरिस्वामी तु तददृष्ट्वा क्षुधार्त्तः आगत्यैव तत् सर्वं भुक्तवान्। अथ तस्य भुक्तवत एव तीव्रा विषज्वाला प्रादुरभवत्। "अहो! विधौ विपर्य्यस्ते किमिव न विपर्य्येति? तत् सक्षीरघृतशर्करम् अन्नं मे विषीभूतम्" इति जल्पन् हरिस्वामी परिस्खलन् तां सत्रिणस्तस्य विप्रस्य गेहिनीं गत्वा प्राब्रवीत्,—"ब्राह्मणि! त्वद्दत्तात् अन्नात् मे विषं जातं, तत् क्षिप्रं कञ्चित् विषमन्त्रिणम् आनय, नो चेत् तव ब्रह्महत्या भविता"। इत्याकर्ण्य सा साध्वी "किमेतत्" इति विह्वला यावत् विषमन्त्रिण-

---

जाकर खाओ"। उसने भी "वैसा ही" यह स्वीकार करके उस अन्नपात्र को लेकर थोड़ी ही दूर जाकर कहीं सरोवर के किनारे बरगद के पेड़ के नीचे उसे रख दिया।

तब वह उस तालाब में हाथ-पैर धोकर कुल्ला करके जब तक भोजन करने के लिये प्रसन्न होकर पायस के पास आता है तब तक कोई बाज कहीं से चोंच और दोनों पैरों से एक काले सांप को पकड़ कर उसी पेड़ पर बैठ गया। उस पक्षी के द्वारा दबा कर उठाये हुए अतएव मरे हुए उस साँप के मुख से विष की लार निकली और वह उस समय नीचे स्थित उस अन्नपात्र में गिर गयी। हरिस्वामी तो उसको बिना देखे ही भूखपीड़ित होकर आते ही वह सम्पूर्ण अन्न खा गया। इसके बाद उसके खाते ही शरीर में विष की तीव्र जलन उत्पन्न हो गयी। "अरे! विधाता के प्रतिकूल होने से क्या नहीं प्रतिकूल होता है? वह दूध, घी, चीनी से युक्त अन्न मेरे लिए विष हो गया"। यह कहते हुए लड़खड़ाता हुआ हरिस्वामी ने यज्ञ करने वाले उस ब्राह्मण की उस पत्नी के पास जाकर कहा—"हे ब्राह्मणी! तुम्हारे दिये हुए अन्न से मेरे लिये विष उत्पन्न हो गया है, तो जल्दी से किसी विष के मन्त्र जानने वाले को बुलाओ, नहीं तो तुम्हें ब्रह्महत्या लगेगी"। यह सुनकर उस पतिव्रता ने "यह क्या हुआ?" यह सोचकर व्याकुल होकर जब तक विष-

स्मात् मेघमलिनस्य तस्य रक्षसः अङ्गं भित्त्वा उद्योतितदिक्चक्रा विमला चन्द्रमूर्त्तिरिव सा मृगाङ्कवती जीवन्ती अक्षताङ्गी विनिर्ययौ। तां तथा सङ्कटोत्तीर्णां कान्तां दृष्ट्वा राजा,—"एहि एहि" इति वदन् प्रधाव्यैव आलिलिङ्ग। "प्रिये! किमेतत्? स्वप्नोऽयमुत माया?"। इति तेन पृष्टा सा संस्मृत्य विद्याधरी प्रत्यभाषत,—"आर्य्यपुत्र! शृणु,—

नायं स्वप्नः, नापि माया; अयं हि विद्याधरेन्द्रात् स्वपितुर्मम शापोऽभूत्। स मे पिता बहुपुत्रोऽपि इह वसन् वात्सल्यात् मया विना आहारं नाकरोत्। अहञ्च सर्वदा इह निर्जने शर्वपूजाऽऽसक्ता चतुर्दश्याञ्च द्वयोरेव पक्षयोरागच्छम्। एकदा चतुर्दश्यामिहाऽऽगत्य चिरं गौरीं समर्चयन्त्या मे दैवात् समस्तं दिनमवसितम्। तस्मिन् दिने स मम पिता मत्प्रतीक्षः क्षुधितोऽपि मां प्रति कुपितः किञ्चिदपि नाभुङ्क्त, नापि अपिबत्। ततो रात्र्याम् उपेतायां सापराधां मामधोमुखीं भवितव्यताबलात् अस्नेहः शपति स्म,—"यथा त्वं मामवज्ञाय क्षुधार्त्तं सर्वं दिनं विस्मृतवत्यसि, तस्मात् मासि मासि अष्टम्योश्चतुर्दश्योश्च

से पीड़ित हो जाने पर एकाएक मेघ के समान मलिन उस राक्षस का शरीर फाड़ कर दिशाओं को प्रकाशित करती हुई स्वच्छ चन्द्रमा की मूर्ति के समान अक्षतअङ्ग वाली जीवित होकर वह मृगांकवती निकल पड़ी। उस प्रकार के संकट से उत्तीर्ण हुई उस प्रियतमा को देखकर राजा ने "आओ आओ" यह कहकर दौड़कर आलिङ्गन किया। "प्रिये! यह क्या था? स्वप्न था या माया?" यह उसके द्वारा पूछी हुई उस विद्याधारी ने स्मरण करके उत्तर दिया—"पतिदेव! सुनो, न तो यह स्वप्न था और न माया थी; यह तो विद्याधरों के राजा मेरे पिता से मुझे शाप मिला था। यहाँ रहते हुए वह मेरे पिता बहुत पुत्र रहने पर भी स्नेह के कारण मेरे बिना भोजन नहीं करते थे और मैं सदा शंकर जी की पूजा में आसक्त होकर दोनों पक्षों की चतुर्दशी तिथि को इस निर्जन स्थान में आती थी। एक बार चतुर्दशी तिथि में यहाँ आकर बहुत देर तक गौरी की पूजा करते रहने पर दैवयोग से मेरा सम्पूर्ण दिन बीत गया। उस दिन वह मेरे पिता मेरी प्रतीक्षा करते हुए भूखे रहने पर भी मेरे ऊपर क्रोधित होकर कुछ भी नहीं खाये न पिये। तब रात होने पर शिर झुकाये हुए मुझ अपराधिनी को भवितव्यता के कारण निःस्नेह होकर उन्होंने शाप दे दिया कि—"तुम अनादर करके मुझ भूखे को पूरे दिन भर भूल गयी हो, इसलिए प्रतिमास दोनों अष्टमी तथा दोनों चतु-

मानाययितुं चेष्टते स्म, तावत् स हरिस्वामी परावृत्तनेत्रः प्राणौर्व्य-युज्यत। ततः सा निर्दोषाऽपि आतिथेयी अपि सत्त्रिणा तेन विप्रेण मिथ्याऽतिथिवधजनितकोपेन भार्या निष्कासिता, शुभादपि कर्मणः समुत्पन्नमृषापवादा जातावमाना च तपसे तीर्थमशिश्रियत्"।

इति कथामाख्याय वेतालः पृच्छति स्म,—"राजन्! एषां सर्प-श्येनान्नदातॄणां मध्ये कस्य विप्रवधोऽभूत्? अस्य वादो धर्मराजस-काशे अपि अभवत्, परं न कोऽपि निर्णयः समजनि; तत् राजेन्द्र! त्वमेव ब्रूहि, कस्य ब्रह्महत्या जाता? मिथ्या ब्रुवतो जानतस्ते स एव शापः स्मर्त्तव्यः" इति। तदाकर्ण्य राजा समुज्झितमौनस्तं वेतालम-ब्रवीत्,—"कस्य तत् पातकम्? सर्पस्य तावदवशस्य शत्रुणा भक्ष्य-माणस्य कोऽत्रापराधः? श्येनेनापि क्षुधितात्मना न किमपि दृष्टं, तस्या-स्यापि नात्रापराधः। अकस्मात् प्राप्तमतिथिं भक्ष्येण भोजयतोर्दम्पत्यो-रपि द्वयोर्वाऽन्यतरस्य वा कथं दोषः? यतस्तौ धर्मैकप्रवृत्तौ नेमम-पराधमर्हतः। अहं तावत् तस्यैवैषा ब्रह्महत्या इति मन्ये, योऽविचार्यैव

मन्त्र वाले को बुलाने का प्रयत्न किया, तब तक वह हरिस्वामी आँख उलटा कर मर गया। तब उस याज्ञिक ब्राह्मण के द्वारा मिथ्या अतिथि-वध से उत्पन्न क्रोध से निर्दोष रहने पर भी अतिथि-सेवापरायण रहने पर भी वह पत्नी घर से निकाल दी गयी। अच्छे कार्य से भी उत्पन्न झूठ अपवाद वाली अपमानित हुई उसने तपस्या करने के लिये तीर्थ का आश्रय ले लिया"।

यह कथा कह कर वेताल ने पूछा—"महाराज! इन सर्प, बाज तथा अन्न देने वाली किसको ब्रह्महत्या लगी? इसका विवाद धर्मराज के पास भी हुआ था, लेकिन कोई निर्णय नहीं हो सका। तो राजेन्द्र! तूँ ही कहो कि किसको ब्रह्महत्या लगी? जानते हुए भी झूठ कहने पर तुम्हारा वही शाप है, याद रखना"। यह सुनकर मौन त्याग कर राजा ने उस वेताल को कहा—"किसको वह पाप लगेगा? साँप तो पराधीन था शत्रु से खाया जा रहा था तो इसमें उसका कौन अपराध है? भूख से व्याकुल बाज ने भी कुछ देखा नहीं, इसलिये उसका भी इसमें अपराध है। एकाएक पहुँचे हुए अतिथि को अन्न से भोजन कराने वाले दोनों दम्पतियों का अथवा दोनों में से एक का कैसे दोष हो सकता है? क्योंकि वे दोनों केवल धर्म करने में लगे हुए थे, अतः अपराध के योग्य नहीं हैं। मैं तो सोचता हूँ कि उसको यह ब्रह्महत्या लगेगी जो विना विचारे हुए इन तीनों में से किसी एक को

हराच्चर्चनरसात् पुरात् बहिर्यान्तीं त्वां कृतान्तसन्त्रासो नाम राक्षसो निगरिष्यति, ततश्चास्य हृदयं भित्त्वा भित्त्वा निरेष्यसि, शापं ताञ्च निगरणव्यथां न स्मरिष्यसि, एकाकिनी च अत्र स्थास्यसि" इति शापं ददत् स मयाऽनुनीतः ध्यात्वा शापान्तमकरोत्,—"यदाऽङ्गपतिः यशःकेतुस्तव भर्त्ता भूत्वा राक्षसेन निगीर्णां त्वां दृष्ट्वा तं राक्षसं निहनिष्यति, तदा त्वं तस्य हृदयान्निर्गता शापात् मोक्ष्यसे, संस्मरिष्यसि च शापादिसर्वा निजा विद्याः"। इति शापान्तमुक्त्वा इह मामेकाकिनीं मुक्त्वा सपरिच्छदो निषधाद्रिं गतः; अहं तदादेशेन शापमोहादिहावसम्। स शापश्चास्य मे क्षीणः, जाता च सर्वत्र स्मृतिः; तदद्य तातपार्श्वगमनाय निषधाद्रिं व्रजामि, शापान्ते स्वगतिं प्राप्स्यामि इत्येष मे नियमः। त्वमिह आस्स्व, व्रज वा स्वराष्ट्रम्, अत्र ते स्वातन्त्र्यम्"।

एवं तयोक्तो नृपतिर्दुःखितस्ताम् अभ्यर्थयामास,—"सुन्दरि! सप्ताहानि त्वया न गन्तव्यं, सुमुखि! प्रसीद, इह उद्याने त्वया सह

दशी तिथियों में शिव की पूजा के अनुराग से नगर से बाहर जाती हुई कृतान्तसन्त्रास नाम का राक्षस निगल जायगा; तब उसका हृदय फाड़-फाड़ कर निकलोगी। यह शाप तथा निगलने की व्यथा भूल जाओगी और अकेली यहाँ रहोगी" यह शाप देते हुए वह मेरे द्वारा अनुनय-विनय किये गये। तब कुछ सोचकर उन्होंने शाप का अन्त बताया कि—"जब अङ्ग देश का राजा यशःकेतु तुम्हारा पति होकर राक्षस के द्वारा निगले हुए तुम्हें देखकर उस राक्षस को मार डालेगा तब तुम उसके हृदय से निकल कर शाप से मुक्त हो जाओगी और शाप से लेकर अपनी सभी विद्या तक सभी बातें स्मरण हो जायँगी"। यह शाप का अन्त कहकर यहाँ मुझे अकेली छोड़कर निषध नामक पर्वत पर चले गये। मैं उनके आदेश से शाप के मोह में पड़ी हुई यहाँ निवास कर रही हूँ। मेरे विषय में उनका वह शाप समाप्त हो गया और सभी विषय स्मरण हो गये हैं। तो आज पिता के पास जाने के लिए निषध पर्वत पर जाऊँगी। शाप का अन्त होने पर मैं अपनी परिस्थिति को प्राप्त करूँगी, यही मेरे लिए नियम था। तुम यहाँ रहो अथवा अपने देश को चले जाओ, इस विषय में तुम्हारी स्वतन्त्रता है"।

उसके द्वारा इस प्रकार कहे हुए उस राजा ने दुःखी होकर उससे प्रार्थना की कि—"हे सुन्दरी! सात दिनों तक तुम मत जाओ, हे सुमुखी! कृपा

एषामन्यतरस्य तां ब्रूयात्" इति। इतिवादिनो नृपस्य स्कन्धात् स वेतालस्तत्क्षणादलक्षितः तमेव शिंशपातरुमवललम्ब। राजाऽपि तमानेतुं समुद्योगी तथैव अन्वधावत्।

ब्रह्म हत्या लगने की बात कहेगा"। यह कहनेवाले उस राजा के कन्धे पर से वह वेताल उसी समय अलक्षित होकर उसी शीशम के पेड़ के आश्रय में चला गया। राजा ने भी उसको लाने के लिये उद्योग करते हुए उसी प्रकार अनुगमन किया।



क्रीडन् औत्सुक्यं विनोदयामि। ततस्त्वं पितुः स्थानं गमिष्यसि, अहञ्च स्वस्थानं यास्यामि"।

ततः सः "तथा" इति प्रतिपन्नया तया कान्तया तस्मिन्नुद्याने सजलोत्पलनेत्रासु "मा स्म याहि अस्मान् विहाय" इति हंससारसनिचयैः रुवन्तीष्विव उत्क्षिप्तवीचिहस्तासु वापीषु षडहं रेमे। ततः सप्तमेऽहनि स राजा युक्त्या यत्र भूलोकप्रापिणी द्वारवापिकाऽस्ति, तत्र गृहे तां कान्तामनयत्; तत्र चाऽऽगत्य तां कण्ठे गृहीत्वा तस्यां वाप्यां निपत्य सहसा तया सह स्वपुरोद्याने वापीमध्यादुत्तस्थौ।

तत्र कान्तासमेतं प्राप्तं तं भूपं दृष्ट्वा उद्यानपालकाः प्रहृष्टा गत्वा मन्त्रिणं दीर्घदर्शिनं जगदुः। सोऽपि आगत्य पादयोः पतित्वा तम् आनीतेप्सिताङ्गनं सपौरोऽभ्यन्तरं प्रावेशयत्। "अहो! कथं सैषा दिव्याङ्गना अनेन राज्ञा प्राप्ता? या व्योम्नि विद्युदिव क्षणदृश्या मया दृष्टा; धात्रा ललाटाक्षरपङ्क्तिषु यस्य यल्लिखितं, तत्तस्य असम्भाव्यमपि अवश्यम् उपतिष्ठते"। इति तस्मिन् मन्त्रिमुख्ये अन्यस्मिंश्च जने

करो, इस वाटिका में तुम्हारे साथ रमण करते हुए उत्कण्ठा का बहलाव करूँगा। इदके बाद तुम पिता के स्थान में चली जाओगी और मैं अपने स्थान पर चला जाऊँगा"। तब उसने "वैसा ही करूँगी" इस प्रकार स्वीकार करने वाली उस प्रियतमा के साथ इस उद्यान में सजलकमल नयन वाले "हम लोगों को छोड़कर मत जाओ" इस रूप में हंस-सारस समूहों के द्वारा रोते हुए के समान अपनी लहरों के हाथ उठाये हुए के समान तालावों में ६ दिनों तक रमण किया। तब सातवें दिन वह राजा जहाँ पर भूलोक पहुँचाने का रास्ता वाला तालाब था वहाँ के घर में युक्ति से उस प्रियतमा को ले गया और वहाँ आकर उसको गले में लगाकर पकड़ कर एकाएक उस तालाब में गिर गया और उसके साथ ही अपने नगर के उद्यान के तालाब के मध्य से बाहर निकला।

वहाँ प्रियतमा सहित पहुंचे हुए उस राजा को देखकर प्रसन्न हुए उद्यानपालकों ने जाकर उस दीर्घदर्शी मन्त्री को कहा। उसने भी पुरजनों के साथ आकर उसके पैरों पर गिरकर लाये हुए अभीष्ट प्रियतमा वाले उस राजा को महल के अन्दर प्रवेश कराया। "अरे! कैसे वहाँ यह दिव्य सुन्दरी इस राजा को प्राप्त हुई? जो आकाश में बिजली की तरह एक क्षण के लिए दृश्य होकर मेरे द्वारा देखी गयी थी। विधाता ने ललाट की अक्षरपंक्तियों में जिसका जो लिखा है वह असम्भव होने पर भी उसको अवश्य मिलता है"। यह उस प्रधान मन्त्री के तथा अन्य लोगों के सोचते रहने पर उस

अथ चतुर्दशकथा।

ततो नृपः पुनः शिंशपामूलं, गत्वा तं वेतालं प्राग्वत् स्कन्धमारोप्य गन्तुमारेभे। वेतालोऽपि यान्तं तं नृपमकथयत्—महाराज, श्रमम-पनेतुमहं ते एकां कथां कथयामि, शृणु—

अस्ति अयोध्या नाम नगरी, या रक्षःकुलकृतान्तस्य रामस्य राज-धानी आसीत्। तस्यां वीरकेतुर्नाम राजा महाबाहुः वसन् प्राकारो नगरीमिव इमां क्षोणिं ररक्ष। तस्मिन् महीपतौ शासति महीम् अस्यां पुर्य्यां रत्नदत्तो नाम कश्चित् महावणिक् प्रतिवसति स्म। तस्य नन्द-यन्तीति समाख्यायां पत्न्यां रत्नवती नाम देवाराधनलब्धा सुता समजायत। सा पितृवेश्मनि रूपलावण्यविनयैः सहजैः गुणैः सह दिने दिने वृद्धिमवाप। ताञ्च यौवनशालिनीं वीक्ष्य केवलं महान्तो वणिजो न, राजानोऽपि तत्पितरं ययाचिरे। सा तु मनस्विनी पुरुषद्वेषिणी वासवमपि भर्त्तारं न कामयते स्म, विवाहकथामपि श्रुत्वा प्राणान्

चौदहवीं कथा

इसके बाद उस राजा ने फिर शीशम की जड़ में जाकर उस वेताल को पूर्ववत् कन्धे पर उठा कर चलना प्रारम्भ किया। और वेताल ने भी जाते हुये उस राजा से कहने लगा—"महाराज! थकावट दूर करने के लिये फिर मैं एक कहानी कहता हूँ, सुनो—

अयोध्या नाम की नगरी है। जो राक्षसों के कुल के लिये यमराज भग-वान् राम की राजधानी थी। महाबलवान् वीरकेतु नाम का राजा उसमें निवास करता हुआ जैसे प्राकार नगरी की रक्षा करता है, उसी प्रकार इस सम्पूर्ण पृथ्वी की रक्षा करता था। उस राजा के पृथ्वी का शासन करते रहने पर उसी नगरी में रत्नदत्त नाम का कोई बहुत बड़ा सेठ निवास करता था। उसकी नन्दयन्ती नाम की पत्नी में देवता की आराधना से प्राप्त हुई रत्नवती नाम की कन्या उत्पन्न हुई। वह रूपलावण्य, विनय आदि स्वाभा-विक गुणों के साथ पिता के घर में बढ़ने लगी। युवती हुई उसको देख कर केवल बड़े बड़े सेठ ही नहीं, बल्कि राजा लोग भी उसके पिता से याचना करना प्रारम्भ कर दिये। वह बुद्धिमती तो पुरुष से द्वेष रखती थी। अतः इन्द्र को भी पति बनाना नहीं चाहती थी। विवाह की बात भी सुन कर प्राण-

ध्यायति, सा मृगाङ्कवती तं भूपतिं स्वदेशाऽऽगतं दृष्ट्वा पूर्णसप्ताहा वैद्याधरीं गतिं गन्तुमियेष, परं तदा उत्पतनी विद्या स्मृतौ नाविरासीत्। ततः सा मुषितेव परं विषादमगमत्।

"कथमेवं विषण्णाऽसि ? प्रिये! वद" इति राज्ञाऽभिहिता सा विद्याधरी तमब्रवीत्,—"अहं शापमुक्तापि यत् इयच्चिरं त्वत्स्नेहपाशसंयमिता स्थिता, तेन मम विद्या दिव्या गतिश्च नष्टा"। तदाकर्ण्य राजा,—"ममेयं विद्याधरी सिद्धा" इति प्रहृष्टः महान्तमुत्सवं चकार। तदवलोक्य स दीर्घदर्शी मन्त्री निशि गृहं गत्वा शयनीयं प्राप्य च सहसा हृत्स्फोटेन व्यपद्यत। ततो राजा स्वयं धृतराज्यभारः तया मृगाङ्कवत्या सह चिरं स्वर्गसुखमनुभवन् तस्थौ"।

इति कथामाख्याय स वेतालः पर्य्यपृच्छत्,—"राजन्! स्वामिनस्तथा अभ्युदये सम्पन्ने तस्य महामन्त्रिणः हृदयं यत् स्फुटितं, तस्य को हेतुः ? किं दिव्याङ्गना मया नाऽऽप्ता इति शुचा ? वा राज्यार्थिनः पुनः राजाऽऽगमनजेन दुःखेन ? यदि जानन्नपि एतत् मह्यं न वक्ष्यसि,

---

मृगाङ्कवती ने उस राजा को अपने देश आये हुए देखकर सप्ताह पूरा होने से अपनी विद्याधर जाति की परिस्थिति प्राप्त करने की इच्छा की, किन्तु उस समय ऊपर उड़ने की विद्या स्मरण में उपस्थित नहीं हुई। तब उस ने कुछ चुरायी गयी के समान अत्यन्त विषाद को प्राप्त किया।

"इस प्रकार क्यों उदास हो गयी हो ? प्रिये! कहो" यह राजा के द्वारा कही हुई उस विद्याधरी ने कहा कि—"मैं शाप से मुक्त होने पर भी जो कि इतने दिनों तक तुम्हारे स्नेहपाश से बान्धी हुई रह गयी, इसीसे मेरी विद्या और उड़ने की शक्ति नष्ट हो गयी"। यह सुनकर उस राजा ने—"मेरी यह विद्याधरी सिद्ध हो गयी" यह सोचकर अत्यन्त प्रसन्न होकर बहुत बड़ा उत्सव किया। यह देखकर वह दीर्घदर्शी मन्त्री रात में घर जाकर बिस्तरे पर पहुँच कर एकाएक हृदय फट जाने से मर गया। तब उस राजा ने स्वयं राज्य का भार धारण करके उस मृगाङ्कवती के साथ स्वर्ग का सुख अनुभव करते हुए बहुत दिनों तक राज्य किया।

यह कथा कहकर उस वेताल ने पूछा—"महाराज! स्वामी के उस प्रकार अभ्युदय से संयुक्त होने पर उस महामन्त्री का जो हृदय फट गया, उसमें क्या कारण है ? क्या यह दिव्यसुन्दरी मुझे नहीं मिली, इस शोक से ? अथवा उसके राज्य के इच्छुक होने के कारण फिर राजा के आ जाने के दुःख से ? यदि जानते हुए भी यह मुझे नहीं कहोगे तो तुम्हारा धर्म नष्ट हो

त्यक्तुं यतते स्म। तेन तस्य पिता वात्सल्यदुःखितस्तूष्णीं तस्थौ। स च प्रवादस्तस्यामयोध्यायां सर्वत्र पप्रथे।

अत्रान्तरे चौरैर्मुष्यमाणाः समस्ताः पौराः सम्भूय तं नृपं वीरकेतुं व्यजिज्ञपन्,—"प्रभो! प्रतिरात्रं चौरैरिह वयं मुष्यामहे, ते तु नास्माभिर्लक्ष्यन्ते, तदिदानीं देवः प्रमाणम्"। इति पौरैर्विज्ञप्तो राजा तां पुरीमभितः तस्कराणामनुसन्धानाय छन्नान् रात्रिरक्षकान् आदिशत्। ते च यदा समन्विष्य न तान् चौरानवापुः तदा राजा स्वयं निशि एकाकी गृहीतशस्त्रो भ्रमन् एकतः एकं, प्राकारपृष्ठेन यान्तं, निःशब्दपदसञ्चारविचित्रगतिकौशलं, सशङ्कलोलनयनं, मुहुः पृष्ठतः पश्यन्तं, कमपि पुरुषमपश्यत्। "अयं स चौरो मे पुरीं मुष्णाति एकचरः" इति मत्वा स नृपस्तस्यान्तिकमुपययौ। ततः स चौरस्तं नृपं दृष्ट्वा,—"कोऽसि?" इति पप्रच्छ। राजाऽपि,—"चौरोऽहम्" इति तं चौरं प्रत्यवादीत्। तदाकर्ण्य स चौरः सानन्दं तम् अभ्यधात्,—"तर्हि दिष्ट्या त्वं मे सुहृत्, तत् एहि मम गृहं, मित्राऽऽचारं तावत्

त्याग करने को तैयार हो जाती थी। इसी से उसका पिता स्नेह से दुखी होकर चुप ही रहता था।

इसी बीच में चोरों से धन चुराये जाते हुए सभी पुरवासियों ने इकट्ठा होकर वीरकेतु राजा को निवेदन किया—"प्रभो! प्रति रात्रि यहाँ चोरों के द्वारा हम लोगों के धन चुराये जाते हैं। वे चोर हम लोगों के द्वारा देखे नहीं जाते हैं, तो इस समय आप ही इस का निर्णेता हैं"। इस प्रकार पुरवासियों के द्वारा निवेदन किये हुए उस राजा ने उस नगरी के चारों ओर चोरों का अनुसन्धान करने के लिये छिप कर खड़े रहने वाले रात्रिरक्षकों को आदेश दिया। उन लोगों ने अन्वेषण करके जब चोरों को नहीं प्राप्त किया तब राजा ने स्वयं रात में शस्त्र-धारण करके अकेले घूमते हुए एक स्थान में चहारदिवारी के ऊपर से जाते हुए निःशब्द चरण-सञ्चार से विचित्र गति तथा कौशल वाले, शङ्कित तथा चञ्चल नेत्र वाले, बार बार पीछे की ओर देखने वाले एक किसी पुरुष को देखा। "यह वही चोर है जो मेरी नगरी में अकेला ही चोरी करता है" यह समझ कर वह राजा उसके पास चला गया। तब उस चोर ने उस राजा को देखकर "तुम कौन हो" यह पूछा। राजा ने भी "मैं चोर हूँ" यह उस चोर को जवाब दिया। यह सुनकर उस चोर ने आनन्द के साथ उसको कहा—"तो भाग्य से तुम मेरे मित्र हो, इसलिये चलो मेरे घर कुछ मित्र का व्यवहार तो करूँ"। यह सुनकर राजा "ऐसा

तदा ते धर्मो विनंक्ष्यति, यास्यति च ते शिरः शतधा खण्डितम्"। इत्याकर्ण्य राजा तं वेतालम् अवादीत्,—"योगीश्वर! नैतत् द्वयमपि शुभचरिते मन्त्रितरे सम्भवति, किन्तु 'येन भूभुजा स्त्रीमात्रानुरागात् राज्यमुपेक्षितम्, अधुना तु दिव्यस्त्रीरक्तस्य तस्य अत्र का वार्त्ता? तन्मे कष्टे कृतेऽपि प्रत्युत दोष एव समधिको जातः' इति विभावयतस्तस्य मन्त्रिणो हृदयं स्फुटितमिति मन्ये"। इत्यभिहितो वेतालः स मायी तत्क्षणात् निजमेव निलयं जगाम। राजाऽपि तमवाप्तुं पुनरुद्यतः तमेव शिंशपातरुमाससाद।

जायगा और तुम्हारा सिर सैकड़ों टुकड़ों में फट जायगा"। यह सुनकर राजा ने उस वेताल को कहा—"हे योगीश्वर! अच्छे आचरण वाले श्रेष्ठ मन्त्री के विषय में इन दोनों में से एक का भी सम्भव नहीं है, किन्तु जिस राजा ने साधारण स्त्री के अनुराग से राज्य की उपेक्षा कर दी थी उस राजा के इस समय दिव्यसुन्दरी में अनुरक्त रहने पर इस विषय में बात ही कैसी? तो मेरे कष्ट सहने पर भी राज्यभार कम नहीं हुआ उलटे और अधिक दोष उत्पन्न हो गया" यह सोचते हुए उस मन्त्री का हृदय फट गया, ऐसा मैं सोचता हूँ"। ऐसा कहा हुआ वह मायावी वेताल उसी समय अपने ही स्थान पर चला गया। राजा भी उसे प्राप्त करने के लिए फिर उद्यत होकर उसी शीशम के पेड़ के पास पहुँचे।

करोमि" इति। तदाकर्ण्य स राजा,—"तथा" इत्युक्त्वा, तेनैव चौरेण सह वनान्तः प्राकारवेष्टितम् अशेषभोगशोभाऽऽढ्यं भास्वद्रत्नविराजितं नवीनं बलिराजानधिष्ठितं पातालमिव तद्गृहं ययौ। तत्र प्रविष्टे तस्मिन् कृतासनपरिग्रहे राजनि स तस्करः गृहाभ्यन्तरं प्रविवेश। क्षणे च तस्मिन् काऽपि दासी समेत्य तं नृपमवादीत्,—"महाभाग! कथं त्वमिह मृत्युमुखे प्रविष्टः? एकचौरोऽसौ निर्गत्य त्वयि पापमाचरिष्यति, ध्रुवमयं विश्वासघाती, तदितस्त्वरितं व्रज"।

इत्युक्तस्तया स राजा द्रुतं निर्गत्य राजधानीञ्च गत्वा निशि सैन्यानि असज्जयत्; ससैन्यश्चागत्य तस्य दस्योः तत् भूगृहं तैर्बलैररुणत्। अथ गृहं रुद्धं दृष्ट्वा स चौरः वृत्तं प्रति भेदमवगत्य, मरणे निश्चितमतिः शूरो युद्धाय निर्ययौ; निर्गतश्च रणे अमानुषं विक्रमं कुर्वन् करिणां करान्, वाजिनां जङ्घान्, भटानाञ्च शिरांसि एक एव खड्गचर्मभृत् चिच्छेद। ततः तं क्षपितानीकं नृपः स्वयमभ्यधावत्।

ही करूँगा" यह कहकर उसी चोर के साथ वन के अन्दर चहारदिवारी से घिरे हुए, सभी भोग तथा शोभा से भरे हुए, चमकीले रत्नों से सुशोभित, बलिराजा से अनधिकृत नवीन पाताल लोक के समान उसके घर गया। वहाँ प्रवेश करके आसन पर उस राजा के बैठ जाने पर उस चोर ने घर के अन्दर प्रवेश किया। उसी समय किसी दासी ने आकर उस राजा को कहा—"महाशय! क्यों तुम यहाँ मृत्यु के मुख में प्रवेश किये हो? यहाँ यह अकेला चोर है यह घर से निकल कर तुम्हारे ऊपर पाप का आचरण करेगा (तुम्हारी हत्या करेगा), निश्चित यह विश्वासघाती है, इसलिए यहाँ से शीघ्र चले जाओ"।

उसके द्वारा यह कहे जाने पर उस राजा ने शीघ्रता से निकल कर और राजधानी पहुँच कर रात ही में सैन्यों को सुसज्जित किया और सेना सहित आकर उस चोर का वह सुरङ्गगृह उन सैनिकों के द्वारा घेर लिया। तब अपना घर घिरा हुआ देखकर बीती हुई घटना से भेद खुला हुआ जानकर मरने का निश्चय विचार करके वह वीर चोर युद्ध के लिए निकल पड़ा। और निकलने पर ढाल-तलवार लिए हुए युद्ध में अमानुषिक पराक्रम दिखलाते हुए हाथियों की सूंड घोड़ों की टांगें और सैनिकों के शिर उसने काट डाले। तब सैनिकों का विनाश किये हुए उस वीर चोर के ऊपर राजा ने स्वयं आक्रमण किया। तलवार की विद्या में निपुण उस राजा ने हस्त-

स राजा खड्गविद्याऽभिज्ञः करयुक्तिमवलम्ब्य तस्य हस्तात् निस्त्रिंशं छुरिकाञ्च जहार। ततोऽशस्त्रं तं मुक्तशस्त्रो नृपो बाहुयुद्धेन चौरं धरण्यां जीवग्राहमग्रहीत्। प्रातश्च नीयमानं शूलाऽऽरोपणाय वध्य-भूमिं तं सडिण्डिमं चौरं सा वणिक्कन्या हर्म्यपृष्ठतः रत्नवती ददर्श। तञ्च वणितं धूलिलिप्ताङ्गमपि दृष्ट्वा सा काममोहिता तत्क्षणं पितरमुपेत्य प्रोवाच,—"तात! योऽयं वध्यभूमिं नीयते चौरः, अयमेव मया भर्त्ता वृतः, तदेनं नृपात् रक्ष, नो चेदहं एतमनुम्रिये"।

तदाकर्ण्य पिता तामवादीत्,—"पुत्रि! किमिदं भाषसे? चौरोऽयं पौराणां सर्वस्वहृत् राजपुरुषैः वधार्थं नीयते, कथम् एनमहं नृपतेः मोक्षयामि? कीदृशी च ते प्रवृत्तिरियम्?" इति निर्भर्त्स्यमानाऽपि यदा सा निर्बन्धं न तत्याज, तदाऽसौ वणिक् दुहितृवत्सलः राजानं समुपेत्य सर्वस्वेनापि तं चौरं वधमोक्षमयाचत। राजा तु हेमकोटि-शतैः प्रलोभ्यमानोऽपि तं स्वशरीरपणाऽऽनीतं सर्वापहारिणं चौरं न तत्याज।

कौशल का आश्रय लेकर उसके हाथ से तलवार और छूरा छीन लिया। तब निःशस्त्र किये हुए उस चोर को शस्त्र-त्याग किये हुए उस राजा ने मल्ल-युद्ध में पृथ्वी पर गिराकर जीवित ही पकड़ लिया और प्रातःकाल डुग्गी बजाकर शूलीपर चढ़ाने के लिये वध्यभूमि की ओर लिये जाते हुए उस, चोर को वणिक्पुत्री उस रत्नवती ने महल के छत पर से देखा। शरीर में घाव लगे हुए तथा धूली से धूसरित अङ्ग रहने पर भी उस चोर को देखकर वह काममोहित हो गयी और उसी समय पिता के पास पहुँच कर उसने कहा—"हे पिता जी! जो कि यह वध्यभूमि की ओर ले जाया जाता है चोर यही मेरे द्वारा पति के रूप में वरण किया गया है, तो इसको राजा से बचाइये, नहीं तो इसके पीछे अनुमरण करूँगी"।

यह सुनकर पिता ने उसको कहा—"हे पुत्री! यह क्या कहती हो? पुरवासियों का सर्वस्व हरनेवाला यह चोर है, राजपुरुषों के द्वारा वध करने के लिए यह ले जाया जाता है, कैसे मैं इसको राजा से बचाऊँगा? यह तुम्हारी कैसी प्रवृत्ति हो गयी है?" इस प्रकार भर्त्सना किये जाने पर भी जब उसने हठ नहीं छोड़ा तब पुत्री से स्नेह करनेवाले उस सेठ ने राजा के पास पहुँच कर अपने सर्वस्व धन के द्वारा भी उस चोर को वधदण्ड से मुक्त करने की याचना की। सैकड़ों करोड़ सुवर्ण से लुभाये जाने पर भी उस राजा ने अपने शरीर को दाव पर चढ़ाकर पकड़े हुए तथा जनता का सर्वस्व हरण करने वाले उस चोर को नहीं मुक्त किया।

प्रज्ञासागरः पिता द्रुतं तत्रोपागमत् तेन च पित्रा आश्वास्यमानः स मोहात् प्रबुध्य प्रलपन्निव सोन्मादं मनोगतमुज्जगार। तच्च पराधीनं मत्वा तत्पितरि नितरां व्याकुले, विदितवृत्तान्तो राजा तत्रैवाऽऽययौ। स राजा तं तथाविधं दृष्ट्वा सप्तमीं मदनावस्थां गतोऽसिति मन्यमानो जगाद,—"कथं ब्राह्मणनिक्षेपः कन्याऽस्मै दीयते ? तया च विना नियतमसौ पश्चिमां दशां यास्यति, अस्मिंश्च विनष्टे अस्य पिता महामन्त्री अपि विनश्यति, अस्य च नाशे मे राज्यनाशः, तदत्र का गतिः ?"।

इत्युक्ताः सर्वास्ताः प्रकृतयः प्राब्रुवन्,—"राजन् ! प्रजानां धर्मरक्षणं राज्ञां परमो धर्मः, तस्य मूलं मन्त्रं विदुः, स च मन्त्रिष्ववस्थितः, मन्त्रिनाशे मूलनाशात् कथं धर्मरक्षा ? अस्य च सपुत्रस्य मन्त्रिणो द्विजस्य वधात् पापञ्च स्यात्, तस्मादासन्नोऽयं धर्मविप्लवः भवता अवश्यं परिहर्त्तव्यः। सा विप्रन्यस्तकुमारिका मन्त्रिपुत्राय

घबड़ाये हुए नौकरों के उत्सव त्याग कर देने पर वह पिता प्रज्ञासागर शीघ्र वहाँ पहुँचे, उस पिता के द्वारा आश्वासित किये जाते हुए उसने बेहोशी से होश में आकर प्रलाप करते हुए के समान उन्माद से युक्त होकर अपने मन की सभी बातें कह दीं। यह विषय पराधीन समझ कर उसके पिता के अत्यन्त व्याकुल हो जाने पर, यह समाचार जानकर राजा भी वहीं आ गया। उस राजा ने उसको उस प्रकार देखकर 'उन्माद नामक सातवीं कामावस्था को इसने प्राप्त कर ली है' यह समझ कर कहा—"एक ब्राह्मण की धरोहर कन्या कैसे इसको दी जाय ? और उसके बिना निश्चित ही यह काम की अन्तिम दशा अर्थात् मृत्यु को प्राप्त करेगा। इसके मर जाने पर इसके पिता महामन्त्री भी मर जायँगे। उसके मरने पर मेरे राज्य का विनाश हो जायगा। तो अब क्या उपाय है ?"।

यह कहे हुए उन सभी पुरवासियों ने कहा—"महाराज ! प्रजाओं के धर्म की रक्षा करना राजाओं का परम कर्तव्य है। उसका मूल मन्त्रणा को ही समझा गया है। वह मन्त्रणा मन्त्रियों पर ही आधारित रहती है। मन्त्री के नाश होने से मूल का नाश होता है, फिर धर्म की रक्षा कैसे होगी ? पुत्रसहित इस ब्राह्मण-मन्त्री के वध से पाप भी होगा। इसलिये यह जो धर्म विप्लव सामने में है इसका निवारण आप को अवश्य करना चाहिये। वह ब्राह्मण की धरोहर कन्या मन्त्रिकुमार को दे दी जाय। इसके बाद यदि

ततः पितरि विमुखे प्रत्यावृत्ते सा वणिक्सुता बन्धुभिर्वार्य्यमाणाऽपि अनुमर्त्तुं कृतस्नाना शिविकामारुह्य तस्य दस्योर्वध्यभूमिमगात्; पितरौ बान्धवाश्च रुदन्तस्तामन्वगच्छन्। तस्मिंश्च समये वधकैः स चौरः शूलमधिरोपितः गलत्प्राणस्तथाऽऽगतां स्वजनान्वितां दृष्ट्वा, कथयतो जनात् वृत्तान्तं शृण्वन्, क्षणमश्रूणि मुक्त्वा हसन् प्राणान् जहौ। ततः शूलादवतारितं चौरकलेवरमादाय सा साध्वी वणिक्सुता चितामारुरोह।

तस्मिंश्च क्षणे श्मशाने कृतनिवासः भगवान् भैरवः अदृश्यः अन्तरीक्षात् वाचमिमामुवाच,—"पतिव्रते! अस्मिन् स्वयंवरपतौ तव अनया भक्त्या तुष्टोऽस्मि, तत् मत्तो वरं प्रार्थयस्व"। तन्निशम्य सा वरदं देवं प्रणम्य वरं वव्रे,—"भगवन्! अपुत्रस्य मे पितुः पुत्रशतं भूयात्, येनानन्यसुतोऽयं मा विना प्राणान् न जह्यात्"। इतिवादिनीं तां साध्वीं देवः पुनरन्तरीक्षात् अब्रवीत्—"साध्वि! पितुस्ते पुत्रशतं भवतु, अन्यञ्च वरं वृणीष्व, त्वादृशी दृढसत्त्वा एतावन्मात्रं नार्हति"।

तब पिता के असफल होकर लौट आने पर वह वणिक्पुत्री बन्धुओं से रोके जाने पर भी अनुमरण करने के लिये (सती होने के लिये) स्नान करके पालकी पर चढ़कर उस चोर की वध्यभूमि में पहुँची। उसके रोते हुए माता-पिता तथा बन्धु लोग उसके पीछे-पीछे गये। उस समय में वध करने वालों के द्वारा वह चोर शूली पर चढ़ाया गया प्राण निकलते-निकलते उस प्रकार आई हुई तथा स्वजनों से घिरी हुई उस कन्या को देखकर और कहने वाले मनुष्य से उसका वृत्तान्त सुनते हुए उस चोर ने कुछ देर आँसू गिराकर फिर हँसते हुए प्राणों को त्याग दिया। तब शूल से उतारा हुआ चोर का शरीर लेकर वह पतिव्रता वणिक्कन्या चिता पर चढ़ गयी।

उस समय श्मशान में निवास करने वाले भगवान् शङ्कर जी ने अदृश्य होकर आकाश से यह वचन कहा—"हे पतिव्रता! इस स्वयंवर पति में तुम्हारी इस भक्ति से मैं सन्तुष्ट हूँ, तो मुझ से वरदान मांगो"। यह सुन कर उसने प्रणाम करके वरदान देने वाले देवता से वरदान मांगा—"भगवन्! मेरे निपुत्र पिता को सौ पुत्र होवे, जिससे अन्य सन्तान न रहने के कारण वह मेरे विना प्राण त्याग न करें"। यह कहने वाली उस पतिव्रता को उस देवता ने फिर आकाश से कहा—"हे पतिव्रता! तुम्हारे पिता को सौ पुत्र होवे, और कोई अन्य वरदान भी मांगो, तुम्हारी जैसी दृढ़ साहस वाली इतने मात्र ही वरदान के योग्य नहीं होती है"। यह सुन कर उसने

दातव्या, अथ कालान्तरे विप्रः आगमिष्यति, तदा तस्य प्रतिविधानं भविता" इति । एवं प्रकृतिभिरुक्तो नृपतिः "तथा" इति तां कूटकन्यां मन्त्रिपुत्राय दातुं प्रत्यपद्यत ।

अथ लग्नं निश्चित्य राजसुतागृहात् आनीतः कन्यारूपः स मनःस्वामी तं महीपतिं जगाद,—"राजन् ! अन्येन अन्यार्थमानीतां मां यदि अन्यस्मै ददासि, कामं तदस्तु, त्वं हि राजा, धर्माधर्मौ तवोचितौ ; अहन्तु ईदृशेन समयेन विवाहमिच्छामि, तावदहं बलात् पत्या एकशय्यां न नेतव्या; यावदसौ षण्मासान् तीर्थानि परिभ्रम्य न समायाति ; नो चेत् दन्तैः कृत्तजिह्वां मामवधारय" ।

इति तेन समये उक्ते, राज्ञा सम्बोधितः स मन्त्रिपुत्रः प्राप्तनिर्वृतिः "तथा" इति प्रतिपद्य आशु तं परिणीय एकस्मिन् वासके वेत्रिरक्षिते तां मृगाङ्कदत्तां ताञ्च कूटवधूं स्थापयित्वा तीर्थयात्रायै प्रतस्थे । स च मनःस्वामी स्त्रीरूपस्तया मृगाङ्कदत्तया सह एकगृहे समानशयनाशनस्तस्थौ । तथास्थितं तं कदाचित् सा मृगाङ्कदत्ता निशि बहिः-

---

कालान्तर में ब्राह्मण आवेंगे तो तब उसका प्रतिकार होगा" । इस प्रकार प्रजाजनों से कहे हुए उस राजा ने वैसा ही करूँगा" । इस रूप में उस कपट-कन्या को मन्त्रिपुत्र को देना स्वीकार कर लिया ।

तब लग्न निश्चय करके राजकुमारी के घर से लाया हुआ उस कन्या-रूपी मनःस्वामी ने राजा को कहा—"महाराज ! अन्य के द्वारा अन्य के लिए लायी हुइ मुझे यदि अन्य को दे रहे हो तो भले ही वही होवे, तुम राजा हो, धर्म और अधर्म का विचार करना तुम्हारे लिये उचित है । मैं तो इस प्रकार के नियम से विवाह करना चाहती हूँ कि तब तक मैं बलपूर्वक पति के द्वारा एकशय्या पर नहीं लायी जाऊँ, जब तक वह छ महीनों तक तीर्थों का भ्रमण करके न लौट आवे ; नहीं तो दाँतों से जीभ कटी हुई मुझे समझ लो" ।

इस प्रकार उसके द्वारा नियम कहे जाने पर राजा द्वारा समझाये गये हुए उस मन्त्रिपुत्र ने शान्ति प्राप्त करके 'वैसा ही करूँगा" यह स्वीकार करके शीघ्र ही उससे विवाह करके पहरेदारों से सुरक्षित एक ही निवासगृह में उस मृगाङ्कदत्ता को तथा उस कपटवधू को रखकर तीर्थयात्रा के लिए प्रस्थान कर दिया । और स्त्रीरूपधारी वह मनःस्वामी उस मृगाङ्कदत्ता के साथ एक ही घर में एक ही विस्तरे पर तथा एक साथ भोजन करते हुए रहने लगा । उस प्रकार रहने वाले उसको उस मृगाङ्कदत्ता ने रात में बाहर नौकरों के

तदाकर्ण्य सा अवादीत्,—"देव! यदि मयि प्रसन्नोऽसि, तदैष मे भर्त्ता जीवतु, धार्मिकश्च सदा भवतु" इति। "एवमस्तु, अक्षतशरीरस्तव पतिः उत्तिष्ठतु, धार्मिकश्च भवतु, राजा वीरकेतुश्चास्य तुष्यतु"। इति उक्तवति अदृश्यमूर्त्तौ शर्वे नभसि स्थिते सहसा स चौरो जीवन्नक्षतशरीरः समुत्तस्थौ। ततो विस्मितहृष्टो रत्नदत्तो वणिक् तां रत्नवतीं चौरं जामातरञ्चादाय प्रहृष्टैर्बान्धवैः सार्द्धं निजमन्दिरं प्रविश्य लब्धपुत्रवरः स्वाऽऽनन्दोचितमुत्सवमकरोत्। ज्ञातवृत्तान्ततुष्टश्च राजा तदैव तं चौरमेकवीरमानाय्य सेनापतिं व्यधात्। स च चौर्य्यात् निवृत्य तां वणिक्सुतां परिणीय धर्मरतः तया साकं सुखेन कालं निनाय"।

इति कथामाख्याय वेतालो दत्तपूर्वशापभयं तं भूपं पप्रच्छ,—"राजेन्द्र! ब्रूहि, सपितृकां समुपागतां तां वणिक्सुतां दृष्ट्वा चौरेण शूलपृष्ठवर्त्तिना रुदितं हसितञ्च किम्?"! राजा प्रत्यवदत्,—"चौरेण अस्य अकारणबन्धोः वणिजः नाऽऽनृण्यं लब्धमिति दुःखात् रुदितम्; 'किमियं कन्या नृपानपि विहाय चौरे मयि अनुरक्ता!! अहो! स्त्री-

---

कहा—"हे देव! यदि मेरे ऊपर आप प्रसन्न हैं तो यह मेरा पति जी जाय और सदा धार्मिक होवे"। "ऐसा ही होवे, बिना कटे हुए शरीर वाला होकर तुम्हारा पति उठ जाय, और धार्मिक हो जाय तथा राजा वीरकेतु इसके ऊपर प्रसन्न होवें"। आकाश में स्थित अदृश्य स्वरूप वाले शङ्कर जी के ऐसा कहने पर एकाएक वह चोर बिना कटे हुए शरीर वाला तथा जीवित होकर उठ गया। तब आश्चर्यित और प्रसन्न होकर पुत्र का वरदान प्राप्त करनेवाला रत्नदत्त बनियाँ उस रत्नवती को तथा चोर दामाद को लेकर प्रसन्न हुए बन्धुओं के साथ अपने मकान में जाकर अपने आनन्द के अनुसार उत्सव करवाया। समाचार जानकर सन्तुष्ट हुए उस राजा ने उसी समय उस श्रेष्ठ वीर चोर को मँगवा कर सेनापति बना लिया और वह चोरी करना छोड़कर उस वणिक्पुत्री से विवाह करके धर्म में रत होकर उस रत्नवती के साथ सुख से समय बिताने लगा"।

यह कथा कहकर वेताल ने पहले दिये हुए शाप का भय दिखलाकर उस राजा को पूछा—"राजेन्द्र! कहो, पिता के सहित आई हुई उस वणिक्पुत्री को देखकर शूल पर चढ़े हुए उस चोर ने जो रोदन किया और हँसा यह क्यों?" राजा ने जवाब दिया—"चोर ने इस अकारण बन्धु बनिये से उऋणता नहीं प्राप्त की, इस दुःख से रोदन किया। क्यों यह कन्या राजाओं को भी छोड़कर मुझ चोर के ऊपर अनुरक्त हुई! अरे! स्त्रियों का मन कैसे

सुप्तपरिजने शय्यागृहे रहसि प्राब्रवीत्,—"सखि ! कामपि कथामाख्याहि, मे निद्रा नास्ति"। तदाकर्ण्य स स्त्रीरूपो युवा अस्यै कथामेकामकथयत्,—"सखि ! पूर्वमासीत् इला नाम राजा सूर्य्यवंशभवः। गौरीशापेन स्त्रीत्वं प्राप्तस्य तस्य विश्वैकमोहनं रूपमासीत्; तदवलोक्य देवोद्यानगतश्चन्द्रतनयो बुधस्तां चकमे, तयोश्च सङ्गात् पुरूरवाः समजायत"। इति कथां सङ्क्षेपेणोक्त्वा स धूर्त्तः पुनरुवाच,—"सखि ! इत्थं देवताऽऽदेशात् मन्त्रौषधिबलाच्च कदाचित् पुरुषः स्त्री, कदाचन स्त्री च पुमान् स्यात्; तदेवं महतामपि कामजाः संयोगा जायन्ते"। श्रुत्वैतत् सा मुग्धा तरुणी मृगाङ्कदत्ता सहवासविस्रम्भात् प्राह,—"सखि ! श्रुत्वा ते इमां कथां मे अङ्गं सिमिसिमायते, हृदयञ्चेदं सीदतीव, तदेतत् किम् ? ब्रूहि"। तदाकर्ण्य अङ्गनारूपः सः युवा तां प्रत्यवादीत्,—"सखि ! एतानि ते अपूर्वाणि कामचिह्नानि, मया एतानि अनुभूतानि, अहं तव न निगुह्ये"। इति तेनोक्ता सा पुनरवादीत्,—"सखि ! त्वं मे प्राणसमा, तदहं त्वां किं न वच्मि ? अपि केनापि उपायेन इह पुंसः प्रवेशः स्यात् ?"। एव-

---

सोये रहने पर शय्यागृह में एकान्त में कहा—"हे सखी ! कोई कथा कहो, मुझे नींद नहीं आती है"। यह सुनकर वह स्त्रीरूपधारी युवक उसको कहानी कहने लगा—"हे सखी ! प्राचीन काल में सूर्य वंश में उत्पन्न इला नाम का राजा था। पार्वती के शाप से स्त्री बन जाने पर उसका संसार वालों को मोहित कर देने वाला सौन्दर्य था। वह देखकर नन्दन वन में रहने वाले चन्द्रमा के पुत्र बुध उस पर कामासक्त हो गये। उन दोनों के सङ्गम से पुरूरवा नामक राजा उत्पन्न हुए"। यह कथा संक्षेप ही में कहकर उस धूर्त ने फिर कहा—"हे सखी ! इस प्रकार देवता के आदेश से और मन्त्र या औषधि के बल से कभी-कभी पुरुष स्त्री और कभी स्त्री पुरुष हो जाती है। तो इस प्रकार बड़े लोगों के काम-सम्बन्धी संयोग होते रहते हैं"। यह सुन कर वह भोली भाली तरुणी मृगाङ्कदत्ता सहवास के विश्वास से कहने लगी—"हे सखी ! तुम्हारी यह कथा सुनकर मेरा शरीर सिमसिमा गया है और यह हृदय कुछ व्यथित हो रहा है, तो यह क्यों हुआ ? कहो"। यह सुनकर स्त्रीरूपी उस युवक ने उत्तर दिया—"हे सखी ! ये तुम्हारे प्रथम-प्रथम उत्पन्न हुए काम-विकार के चिह्न हैं, मैंने इन्हें समझ लिया है। मैं तुम्हारे लिये कुछ छिपाने योग्य नहीं हूँ"। यह उसके द्वारा कही हुई उसने फिर कहा—"हे सखी ! तुम मेरे प्राण समान हो, तो मैं तुमको क्यों न कह दूँ ? क्या किसी उपाय से यहाँ पुरुष का प्रवेश हो सकता है ?" ऐसा कहती हुई

चित्तमतिविचित्रम्' इति सविस्मयेन हसितञ्च"। इतिवादिनस्तस्य महीपतेरंसात् स वेतालस्तत्क्षणमलक्षितः स्वं निलयं प्रत्यपद्यत। राजाऽपि अविलुप्तधैर्य्यस्तमनुसरन् तं शिंशपातरुमाजगाम।

विचित्र होता है, यह सोचते हुए आश्चर्यित होकर हँसा"। यह कहने वाले उस राजा के कन्धे से वह बेताल उसी समय अलक्षित होकर अपने निवास-स्थान पर पहुँच गया। धैर्य से बिना स्खलित हुए वह राजा भी उसका अनु-सरण करते हुए फिर उस शीशम के पेड़ के पास आया।

मुक्तवतीं तां स धूर्त्तपतेः शिष्यो युवा विप्रः प्राह,—"यद्येवं तत्ते वदामि सखि ! अस्ति मे वैष्णवः प्रसादः, येनाहं स्वेच्छया निशि पुरुषः स्यां, तदेषः अद्य त्वत्कृते पुमान् भवामि"। इत्युक्त्वा स मनःस्वामी मुखात् गुलिकामवतार्य्य परमसुन्दरस्वरूपं तस्यै अदर्शयत्। ततस्तयोस्तत्कालोचितरसः कोऽपि रतोत्सवः प्रावर्त्तत। ततश्च स तया मन्त्रिसुतभार्य्यया साकं दिवा नारी, रात्रौ पुमान् भूत्वा कञ्चित् कालमनयत्।

अथ तं मन्त्रिसुतम् आसन्नाऽऽगमनकालं बुध्वा तां तद्भार्य्यामादाय निशि स्वैरं पलाय्य क्वापि प्रायात्। ततश्च तं वृत्तान्तं विदित्वा स मूलदेवः पुनः वृद्धद्विजाऽऽकृतिः शशिना मित्रेण सम्भूय तं यशःकेतुमुपेत्य सविनयमब्रवीत्,—"देव ! आनीतोऽयं मया पुत्रः, तद्देहि मे तां स्नुषाम्" इति। ततः स नृपः सम्मन्त्र्य शापभीतः समभ्यधात्,—"ब्रह्मन् ! न जाने सा ते स्नुषा क्व गता, तत् क्षमस्व, अस्माच्चापराधात् स्वसुतां तव सुताय ददामि"। इत्युक्त्वा तं धूर्त्तराजं क्रोधनिष्ठुरं विब्रुवाणं जरद्विप्ररूपं कथञ्चिदनुनीय तत्सख्ये कृततत्पुत्रव्य-

---

उसको धूर्तपति के शिष्य उस युवक ब्राह्मण ने कहा—"यदि ऐसी बात है तो तुमको कहती हूँ, हे सखी ! मुझे विष्णु का वरदान मिला है, जिससे मैं स्वेच्छा से रात में पुरुष बन सकती हूँ, तो यह मैं आज तुम्हारे लिये पुरुष बनती हूँ"। यह कहकर उस मनःस्वामी ने मुख से गोली बाहर करके अपना अत्यन्त सुन्दर स्वरूप उसको दिखलाया। तब उन दोनों का उस समय के योग्य आनन्द के साथ कोई अनिर्वचनीय सम्भोग उत्सव होने लगा। इसके बाद उसने उस मन्त्रिकुमार की पत्नी के साथ दिन में स्त्री तथा रात में पुरुष बनकर थोड़ा सा समय बिताया।

इसके बाद वह उस मन्त्रिपुत्र को थोड़े ही समय में आने वाला समझकर उसकी उस पत्नी को लेकर रात में स्वेच्छापूर्वक भागकर कहीं चला गया। इसके पश्चात् उस समाचार को जानकर वह मूलदेव फिर वृद्ध ब्राह्मण का रूप धरकर अपने शशी नामक मित्र से मिलकर उस यशःकेतु राजा के पास जाकर विनय के साथ कहने लगा—"महाराज ! मैं अपने इस पुत्र को खोज लाया हूँ, तो अब हमारी वह पुत्रवधू दे दो"। तब वह राजा मन्त्रणा करके शाप देने के भय से भीत होकर कहने लगा—"हे ब्राह्मण ! पता नहीं, वह तुम्हारी पतोहू कहाँ चली गयी, तो क्षमा करो, इस अपराध से अपनी पुत्री तुम्हारे पुत्र को देता हूँ"। यह कहकर उस राजा ने क्रोध से कठोर बने हुए, अप्रिय बोलते हुए वृद्ध ब्राह्मणरूपी उस धूर्तराज का किसी

अथ पञ्चदशकथा

ततो नृपः पुनस्तथैव गत्वा शिंशपामूलं, तं वेतालं प्राग्वत् स्कन्धमारोप्य गन्तव्याभिमुखं गन्तुमारेभे। वेतालोऽपि यान्तं तं नृपं कथाम् एतामाचचक्षे,—

"आसीत् नेपालराज्ये शिवपुरं नाम नगरम्। तत्र पुरा यशःकेतुर्नाम नृपः यथार्थनामा प्रतिवसति स्म। स मन्त्रिणि प्रज्ञासागरनामके राज्यभारं निवेश्य चन्द्रप्रभानाम्न्या महादेव्या समं भोगानसेवत। कालेन गच्छता तस्य तस्यां देव्यां शशिप्रभा नाम जगन्नेत्रशशिप्रभा कन्या समुदपद्यत। क्रमेण सा यौवनस्था कदाचित् मधुमासे सपरिच्छदा उद्याने यात्रोत्सवं द्रष्टुमगमत्। अत्रान्तरे कश्चित् आढ्यपुत्रो मनःस्वामी नाम द्विजयुवा यात्रादर्शनार्थमागतः तां कुसुमावचयोद्यताम् उत्क्षिप्तबाहुलतिकां लक्षितैकपयोधरां दृष्ट्वा मदनमोहितः तया हृदया सद्योहृतस्य मनसः स्वामी नैवाभवत्। "किमियं मनोभुवो रतिः

पन्द्रहवीं कथा—

तब राजा उसी प्रकार फिर शीशम की जड़ में जाकर उस वेताल को उसी प्रकार कन्धे पर उठाकर गन्तव्य स्थान की ओर जाना आरम्भ किया। वेताल ने भी जाते हुए उस राजा को यह कथा कहने लगा,—

"नेपाल राज्य में शिवपुर नाम का नगर था। वहाँ प्राचीन काल में सार्थक नाम वाला यशःकेतु नाम का राजा निवास करता था। वह प्रज्ञासागर नाम के मन्त्री के ऊपर राज्य का भार रखकर चन्द्रप्रभा नाम की महारानी के साथ भोग-विलास करने लगा। कुछ समय बीतने पर उसकी उस महारानी के गर्भ से संसार वालों की आँखों की चाँदनी शशिप्रभा नाम की कन्या उत्पन्न हुई। क्रमशः जब वह युवती हुई तब किसी समय वसन्त ऋतु में अपनी सखियों के परिवार के साथ देवपूजा का उत्सव देखने के लिए गई। इसी बीच किसी धनी का पुत्र मनःस्वामी नाम का कोई ब्राह्मण-युवक देवपूजा दर्शन के लिये आया। वह फूल तोड़ने के लिये उद्यत, भुजा उठायी हुई एक स्तन लक्षित होने वाली उसको देखकर काम से मोहित होकर उस प्रबल कन्या के द्वारा उसी समय हरण किये हुए मन का अधिकारी नहीं रह गया। "क्या यह कामदेव की रति वसन्त के द्वारा

पदेशाय शशिने तां तनयां शशिप्रभां यथाविधि प्रादात्। ततः स मूलदेवः तथाभूतौ वधूवरौ नीत्वा स्वं निलयं प्रायात्। ततस्तस्मिन् मनःस्वामिनि उपस्थिते तस्य मूलदेवस्य अग्रतः तस्य शशिनश्च महान् विवादः समजायत। मनःस्वामी अब्रवीत्,—"एषा शशिप्रभा मह्यं दीयतां, कन्यैवासौ मया गुरोरनुग्रहात् प्राक् परिणीता" इति। शशी प्रोवाच,—"मूर्ख! कोऽस्यास्त्वम्? ममैवैषा भार्य्या, अग्निसाक्षिकमेषा पित्रा मह्यं दत्ता"। इत्थं मायाबलप्राप्तराजपुत्रीनिमित्तं विवदमानयोस्तयोः कोऽपि निर्णयः नाऽऽसीत्।

तद्राजन्! त्वं मम ब्रूहि, कस्येयं भार्य्या उपपद्यते? एतं मे संशयं छिन्धि, समयश्च त्वया मम स्मर्य्यताम्" इति। इति वेतालवचः श्रुत्वा राजा तं प्रत्यभाषत,—"मन्येऽहं शशिन एवासौ न्याय्या भार्य्या, यस्मै तत्पित्रा सर्वजनसमक्षम् अग्निसाक्षिकञ्च धर्म्येण वर्त्मना दत्ता। मनःस्वामी तां चौर्य्येण गान्धर्वधर्मतो भेजे; चौरस्य परस्वेषु स्वत्वं नैव कदाचित् न्याय्यम्" इति। एतत् राज्ञो

प्रकार अनुनय-विनय करके उसके पुत्र का बहाना करने वाले उसके मित्र शशि को अपनी उस पुत्री शशिप्रभा का विधिपूर्वक दान दे दिया। तब वह मूलदेव उस प्रकार विवाहित वर और वधू को लेकर अपने घर को चला गया। इसके बाद उस मनःस्वामी के उपस्थित होने पर उस मूलदेव के आगे उस शशी का बहुत बड़ा झगड़ा होने लगा। मनःस्वामी ने कहा—"यह शशिप्रभा मुझे दे दो, पहले ही जब यह कुमारी थी उसी समय मैंने गुरु के अनुग्रह से गान्धर्व विवाह के नियम से इससे विवाह किया था"। शशी ने कहा—"रे मूर्ख! इसका तुम कौन होते हो? यह तो मेरी पत्नी है, अग्नि को साक्षी बनाकर पिता के द्वारा यह मुझे दी गयी है?"। इस प्रकार कपट के बल से प्राप्त की हुई राजकुमारी के कारण झगड़ा करते हुए उन दोनों का कोई निर्णय नहीं हुआ।

तो हे महाराज! तुम मुझे कहो कि किसकी यह पत्नी होनी चाहिये? मेरा यह सन्देह दूर करो। और तुम मेरा नियम स्मरण करो"। यह वेताल का वचन सुनकर राजा ने उसको कहा—"मैं तो समझता हूँ कि शशी की ही यह न्याय-संगत पत्नी होनी चाहिये, जिसको उसके पिता ने सभी लोगों के सामने तथा अग्नि को साक्षी बनाकर धर्म के मार्ग से दी है। मनःस्वामी तो चोरी से गान्धर्व विधि से विवाह किये थे, चोर का दूसरे के धन पर अधिकार करना किसी प्रकार भी न्यायसंगत नहीं है"। यह राजा का वचन

वसन्तसम्भृतानि पुष्पाणि स्वयम् उच्चिनुते ? किं वा स्वयं वनदेवता माधवमर्च्चयितुमागता ?" इति चिन्तयन्तं तं सा नृपनन्दिनी समपश्यत्। सा च दृष्टमात्रे साङ्गे नव इव स्मरे तस्मिन् समुत्सुका पुष्पाणि च स्वाङ्गानि च नास्मरत्।

इत्येवं यावत् तौ अन्योऽन्यानुरक्तौ चित्रलिखिताविवाऽऽस्तां, तावत् सहसा "हा हा" इति रवः समुदभूत्। "किमेतत् ?" इति समुत्क्षिप्तकन्धरं पश्यतोस्तयोः उपलब्धान्यमदगन्धोत्थया रुषा भग्नाऽऽलानो मत्तो द्विपः निर्गत्य मार्गद्रुमान् रुजन् पातिताधोरणो लम्बमानाङ्कुशस्तत्राऽऽगात्। ततश्च परिजने सन्त्रस्तविद्रुते स मनःस्वामी युवा ससम्भ्रमं प्रधाव्य तां राजपुत्रीम् अङ्गैः किञ्चित् कृताश्लेषां भयप्रेमत्रपाऽऽकुलां दोर्भ्यामादाय गजगोचरात् सुदूरमनयत्। अथ कथमपि प्राप्त-परिजना तं युवानं पश्यन्ती माराग्निपुटपाकपच्यमाना सत्वरं राजभवनमगात्।

स तु युवा उद्यानात् तस्मात् स्वान्तःपुरप्रविष्टां तां दृष्ट्वा समुत्सुको व्यचिन्तयत्,—"एतां विना नाहं क्षणमपि स्थातुं जीवितुं वा समुत्सहे,

---

दिये हुए फूलों का स्वयं चयन कर रही है ? अथवा स्वयं वनदेवता वसन्त ऋतु की पूजा करने के लिए आई है ?" ऐसा सोचते हुए उसको उस राजकुमारी ने भी देखा। और वह शरीरधारी नवीन कामदेव के समान उसके देखने मात्र से उत्कण्ठित होकर फूलों को तथा अपने अङ्गों को भी भूल गयी।

इस प्रकार जब तक वे दोनों परस्पर अनुरक्त होकर चित्र में लिखे हुए के समान खड़े थे, तब तक एकाएक 'हा ! हा !' यह शब्द उत्पन्न हुआ। "यह क्या हुआ ?" इस उत्सुकता से गरदन ऊँचा करके उन दोनों के देखते रहने पर अन्य हाथी के मद का गन्ध सूँघ कर उत्पन्न हुए क्रोध से बन्धन तोड़कर, महावत को गिराकर, लटके हुए अंकुश वाला मतवाला हाथी निकलकर रास्ते के वृक्षों को तोड़ता हुआ वहाँ आ गया। तब नौकर लोगों के डरकर भाग जाने पर वह युवक मनःस्वामी शीघ्रता से दौड़कर अपने अङ्गों से थोड़ा सटाकर भय, प्रेम तथा लज्जा से भरी हुई उस राजकुमारी को लेकर हाथी के सामने से दूर ले गया। इसके बाद किसी प्रकार अपने नौकरों के पास पहुंचकर उस युवक को देखती हुई कामानल के पुटपाक में पकायी जाती हुई शीघ्र ही राजभवन में चली गयी।

उस उद्यान से अपने अन्तःपुर में प्रवेश किये हुए उसको देखकर उत्कण्ठित होकर उस युवक ने सोचा—"इसके बिना क्षण भर भी रहने का या

वचनं निशम्य स वेतालः पुनस्तथैव स्वं निलयं प्राप। राजाऽपि दृढ-प्रयत्नः पुनस्तत्र गत्वा तं स्कन्धमधिरोप्य गन्तुं प्रववृते।

सुनकर वह वेताल फिर उसी प्रकार अपने निवासस्थान पर चला गया। दृढप्रयत्न वाला वह राजा भी फिर वहाँ जाकर उसको कन्धे पर उठाकर चलना प्रारम्भ कर दिया।

तन्मम श्रीमूलदेवो नामात्र सिद्धो धूर्त्तो गुरुर्गतिः" इति सञ्चिन्त्य कथमपि अवसिते तस्मिन् दिने प्रातस्तस्य गुरोर्मूलदेवस्यान्तिकमगात्; अपश्यच्च तं मित्रेण शशिना नित्यसङ्गतम्। ततश्च समुपेत्य तस्मै प्रणम्य तत् स्वमनीषितं न्यवेदयत्। सोऽपि विहस्य तत् साधयितुं प्रत्यपद्यत।

ततः स धूर्त्तपतिः मुखे योगगुलिकां निक्षिप्य आत्मानं वृद्धब्राह्मणरूपमकरोत्, द्वितीयां गुलिकां तस्य मनःस्वामिनो मुखे निक्षिप्य तं सुकान्तकन्यकारूपं व्यधाच्च। अथ स धूर्त्तराजः तद्रूपं तं समादाय तं राजानमुपेत्य सभायां व्यजिज्ञपत्,—"राजन्! एक एवास्ति मे पुत्रः, तत्कृते दूरात् इयं कन्या याचित्वा आनीता, परं स मे पुत्रः क्वापि गतः, तमन्वेष्टुमहं यामि, तदेषा कन्या त्वया रक्ष्यतां, यावदहं सुतम् अन्विष्यामि, त्वं हि विश्वास्यः रक्षिता" इति। तच्छ्रुत्वा शापभयेन स भूपतिः "तथा" इति प्रतिपद्य सुतां शशिप्रभामानाययामास, जगाद च तां,—"पुत्रि! कन्यामिमां स्वमन्दिरे रक्ष, स्वपार्श्वमेवास्याः शय्यां

जीने का साहस मैं नहीं कर सकता हूँ, तो मेरे लिए इस विषय में श्री मूलदेव नामक गुटिका में सिद्ध धूर्त गुरु ही उपाय हैं" यह सोचकर किसी प्रकार उस दिन के बीत जाने पर प्रातःकाल उस गुरु मूलदेव के समीप वह गया और सर्वदा अपने शशी नामक मित्र के साथ रहने वाले उस मूलदेव को उसने देखा। इसके बाद उसके पास जाकर उसको प्रणाम करके उसने अपना वह मनोरथ निवेदन किया। उसने भी हँसकर वह कार्य पूरा करने के लिए स्वीकार कर लिया।

तब उस धूर्तपति ने अपने मुख में मन्त्रसिद्ध गोली डालकर अपने को वृद्ध ब्राह्मण के रूप में बना लिया और दूसरी गोली उस मनःस्वामी के मुख में डालकर उसको सुन्दरी कन्या के रूप में बना लिया। इसके बाद उस धूर्तराज ने कन्या के रूप में उसको लेकर उस राजा के पास पहुंच कर सभा में निवेदन किया—"महाराज! मेरा एक ही पुत्र है, उसके लिये दूर से यह कन्या माँगकर लाया हूँ, लेकिन वह मेरा पुत्र कहीं चला गया है। उसको खोजने के लिये मैं जा रहा हूँ, तो जब तक मैं पुत्र को खोजता हूँ तब तक इस कन्या को तुम रक्खो; क्योंकि तुम विश्वासपात्र हो, रक्षा करोगे"। यह सुनकर शाप के भय से उस राजा ने "वैसा ही करूँगा" इस प्रकार स्वीकार करके अपनी पुत्री शशिप्रभा को बुलवाया और उसको कहा—"हे पुत्री! इस कन्या को अपने भवन में ही रक्खो और अपने बगल में ही इसका बिस्तर लगवाना"। इस प्रकार पिता से आदेश प्राप्त की हुई उस

अथ षोडशकथा।

अथ राजा तं वेतालं नीत्वा गच्छति स्म। वेतालश्च तमब्रवीत्,—"राजन्! शृणु अपूर्वामेकां कथाम्,—

अस्ति हिमवान् नाम सर्वरत्नभूमिर्नगेन्द्रः, यो हि गौरीगङ्गयोः हरभार्य्ययोस्तुल्यप्रभवः, यश्च कुलभूभृताम् अग्रणीः सूर्य्येणाप्यदृष्ट-पृष्ठदेशः अभिमानोन्नतः सर्वत्र गीयते। तस्य सानोरुपरि काञ्चनपुरं नाम पुरं रविणा न्यासीकृतं रश्मिवृन्दमिव विभाति। तत्र जीमूतकेतुरिति श्रीमान् विद्याधरपतिः पुरन्दर इव मेरौ समध्युवास। तस्य गृहोद्याने कुलक्रमाऽऽगतः कल्पतरुः स्थितः। स राजा जीमूतकेतुः तं देवस्वरूपं कल्पतरुमाराध्य तत्प्रसादात् जातिस्मरं बोधिसत्त्वांशसम्भवं दानवीरं महासत्त्वं सर्वभूतानुकम्पिनं गुरुशुश्रूषणपरं जीमूतवाहनं नाम पुत्रं प्राप।

कालेन सम्प्राप्तयौवनं तं स राजा सद्भिस्तद्गुणैः सचिवैश्च प्रेरितः

सोलहवीं कथा—

इसके बाद वह राजा उस वेताल को लेकर विदा हुआ और वेताल ने भी उसको कहा—महाराज! एक अपूर्व कहानी सुनो—

सभी रत्नों का आश्रय हिमालय नाम का गिरिराज है। जो कि शङ्कर जी की दोनों पत्नी पार्वती और गङ्गा का समान उत्पत्तिस्थान है। जो सभी कुलपर्वतों का अग्रेसर सूर्य के द्वारा भी अदृष्ट पीठ भागवाला, अभिमान से ऊँचा सब जगह वर्णन किया जाता है। उसकी चोटी के ऊपर सूर्य के द्वारा धरोहर रक्खे हुए किरणसमूह के समान काञ्चनपुर नाम का नगर शोभा पाता है। वहाँ जीमूतकेतु नाम का बहुत धनी विद्याधरों का राजा सुमेरु पर्वत पर इन्द्र के सदृश निवास करता था। उसके घर के बगीचे में वंश के क्रम से आया हुआ कल्पवृक्ष था। उस राजा जीमूतकेतु ने उस देवस्वरूप कल्पवृक्ष की उपासना करके उसके प्रसाद से पूर्वजन्म का स्मरण करने वाला बोधिसत्त्व के अंश से उत्पन्न, दानवीर, महासाहसी, सभी प्राणियों पर दया करने वाला, गुरुओं की शुश्रूषा करने वाला जीमूतवाहन नाम का पुत्र प्राप्त किया।

कुछ समय में यौवन प्राप्त किये हुए उस पुत्र को अच्छे गुण वाले सज्जन

प्रकल्पय" इति पित्राऽऽदिष्टया तया स कन्यारूपः द्विजयुवा मनःस्वामी निजमन्तःपुरं नीतः ।

अथ तस्मिन् मूलदेवे यथारुचि प्रयाते कन्यारूपः स मनःस्वामी प्रियाऽन्तिके अहर्निशं तिष्ठन् कतिपयैः दिवसैः सखीमिव प्रीति-विस्रम्भशालिनीं विदित्वा, एकदा विरहक्षामां शयनीयलुठत्तनुं तां राजसुतां रात्रौ आसनशयनस्थितः पप्रच्छ,—"सखि ! किं त्वं दिने दिने पाण्डुरकान्तिः क्षीयमाणा कान्तवियुक्तेव दुःखिता तिष्ठसि ? ब्रूहि, स्निग्धमुग्धे सखीजने मयि कोऽविश्वासः ? न चेत् मम वदिष्यसि, तदाऽहं न भोक्ष्ये" । तदाकर्ण्य सा विनिश्वस्य शनैरब्रवीत्,—"सखि ! किं मे त्वयि अविश्वासः ? शृणु, कथयामि,—

एकदाऽहं यात्रां द्रष्टुं मधूद्यानं गताऽभूवम्, अपश्यञ्च तत्र कञ्चित् सुभगं हिममुक्तेन्दुसश्रीकं दर्शनोद्दीपितस्मरं मधुमासमिवालङ्कृत-काननं ब्राह्मणपुत्रम् । यावत् इमे समुत्सुके तन्मुखेन्दुद्युतिसुधापायिनी लोचने मे चकोरायितुं प्रवृत्ते, तावत् मदस्रावी निरर्गलः अकाल-

---

राजकुमारी के द्वारा वह कन्यारूपी ब्राह्मण-युवक मनःस्वामी अपने अन्तःपुर में लाया गया ।

इसके बाद उस मूलदेव के अभिलषित स्थान पर चले जाने पर कन्या-रूपी उस मनःस्वामी ने प्रियतमा के समीप रात-दिन रहते हुए कुछ ही दिनों में सखी के समान प्रेम तथा विश्वास से युक्त समझ कर एक दिन विरह से सूखी हुई, विस्तरे पर शरीर गिरायी हुई उस राजकुमारी को रात में नजदीक के विस्तरे पर स्थित होकर पूछा—"हे सखी ! क्यों तुम दिन प्रतिदिन पाण्डुकान्ति तथा क्षीण शरीर होती हुई प्रियतम-वियोगिनी के समान दुखी हो रही हो ? कहो, स्नेही तथा भोली भाली मुझ सखी के ऊपर कैसा अविश्वास ? यदि मुझे नहीं कहोगी तो मैं खाऊँगी नहीं" । यह सुनकर उसने लम्बी साँस लेकर धीरे धीरे कहा—"हे सखी ! क्यों मेरा तुम्हारे ऊपर अविश्वास होगा" ? सुनो, कहती हूँ—

एकबार मैं देवपूजा देखने के लिये वसन्त ऋतु के उद्यान में गयी हुई थी, वहाँ मैंने अत्यन्त सुन्दर, कुहरे से मुक्त चन्द्रमा के समान शोभमान, अपने दर्शन से कामोद्दीपित करनेवाले वसन्त ऋतु के समान उपवन की शोभा बढ़ाने वाले किसी ब्राह्मण-कुमार को देखा । जब तक उत्सुक होकर उसके मुखचन्द्र की कान्तिरूपी अमृत को पीती हुई मेरी ये आँखें चकोर के समान आचरण करने लगीं, तबतक अकालिक काले बादल के समान बन्धन

यौवराज्ये अभिषिक्तवान्। कदाचित् यौवराज्यस्थितः स जीमूतवाहनः हितैषिभिः पितृमन्त्रिभिरुपेत्य जगदे,—"युवराज! योऽयं कल्पतरुः सर्वकामदः सर्वभूतानामधृष्यश्च तवोद्याने तिष्ठति, अयं तव सदा पूज्यः; अस्मिन् अनुकूले स्थिते शक्रोऽपि नास्मान् बाधितुं शक्नुयात्, किमुतापरः?"। एतदाकर्ण्य स जीमूतवाहनः अन्तरचिन्तयत्,—'अहो बत! ईदृशममरपादपं प्राप्यापि पूर्वैः पुरुषैरस्माकं तादृशं फलं किमपि नासादितं, केवलं कैश्चिदपि कृपणैस्तैः कश्चिदपि अर्थः अर्थितः, तेन चात्मा च महात्मा चैषः उभौ लाघवं नीतौ, तदहमस्मात् मनोरथमभीष्टं साधयामि' इत्यालोच्य स महात्मा पितुरन्तिकमाजगाम। आगत्य च विहिताशेषशुश्रूषया परितोषितं सुखमासीनं पितरमेकान्ते व्यजिज्ञपत्,—"तात! त्वमेव जानासि यदेतस्मिन् संसारसागरे आशरीरमिदं सर्वं धनं वीचिविभ्रमचञ्चलं, विशेषेण अचिरस्थायिनी प्रकाशपलायिनी सन्ध्याविद्युदिव चला लक्ष्मीः न कुत्रापि कदाऽपि स्थिरा, एकः परोपकार एवास्मिन् संसारे अनश्वरः युगान्तशतसाक्षिणी धर्म-

---

मन्त्रियों से प्रेरित होकर उस राजा ने युवराज के पद पर अभिषिक्त किया। किसी समय युवराज के पद पर स्थित वह जीमूतवाहन हित चाहने वाले पिता के मन्त्रियों के द्वारा आकर कहा गया—"हे युवराज! जो कि यह सभी प्राणियों से अनभिभवनीय और सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाला कल्पवृक्ष तुम्हारे बगीचे में है, यह तुम्हारे लिये सदा पूजनीय है। इसके अनुकूल रहने पर इन्द्र भी हम लोगों को कष्ट नहीं दे सकते हैं; दूसरे की बात ही क्या?" यह सुनकर उस जीमूतवाहन ने मनही मन सोचा—"अरे! खेद है! कि इस प्रकार के देववृक्ष को प्राप्त करके भी हमारे पूर्व पुरुषों ने कुछ उस प्रकार का फल नहीं प्राप्त किया, उन लोगों में कुछ कंजूस लोगों ने केवल धन माँगा। उससे अपने को और इस महात्मा कल्पवृक्ष को उन लोगों ने लघुता प्राप्त करा दी। इससे मैं अपना अभीष्ट मनोरथ सिद्ध करूँ" यह सोचकर वह महापुरुष अपने पिता के पास आया। और आकर सभी प्रकार की शुश्रूषा से परितुष्ट किये हुए तथा सुख से बैठे हुए पिता को उसने निवेदन किया—"पिता जी! आप तो जानते ही हैं जो कि इस संसार समुद्र में केवल शरीर पर्यन्त रहने वाला यह सम्पूर्ण धन लहरों के समान चञ्चल है, विशेष रूप से तो अत्यल्प काल तक रहने वाली, प्रकाश मिलते ही दूर भागने वाली सन्ध्या काल की विद्युल्लता के समान चञ्चल यह लक्ष्मी कभी भी कहीं भी स्थिर होकर नहीं रहती है। इस संसार में अनश्वर एक परोपकार ही सैकड़ों

कालमेघनिभः महागजो गर्जन् अकस्मात् तत्राऽऽगात् तत्सम्भ्रमाच्च परिजने भयविद्रुते भयविह्वला अहं तेन विप्रपुत्रेण दोर्भ्यामुत्क्षिप्य दूरतो नीता ; तदा श्रीखण्डलिप्तेव सुधासिक्तेव न जाने, कामपि तदङ्गस्पर्शेन दशामन्वभवम् । क्षणेन च परिजनेन मिलितेन अवशाऽहमिहाऽऽनीता स्वर्गादिव भुवस्तले निक्षिप्ताऽस्मि । तदा प्रभृति तैस्तैः सङ्कल्पैः कल्पितसङ्गमं तं प्राणदं प्रियं पार्श्वस्थमिव सदा पश्यामि, सुप्ताऽपि तमेव आश्लिष्यामि, किं बहुना, तमेव सततं चिन्तयन्ती कालं हरामीति । तदेष मां प्राणेश्वरविरहानलः दिवानिशं दहति" ।

इति तस्या वाक्सुधया पूरितश्रवणविवरः स मनःस्वामी सानन्दः आत्मानं कृतार्थं मन्यमानः आत्मप्रकाशनावसरोऽयमिति विनिश्चय मुखात् गुलिकां निष्कास्य स्वं रूपं प्रकटीचक्रे, जगाद च,—"सुन्दरि ! स एवाहं, यस्त्वया उद्याने दर्शनक्रीतश्चिरदासतां नीतः । त्वद्विरहातुरोऽहमिदं कन्यारूपं गृहीत्वा त्वत्सकाशमागतोऽस्मि । तदिदानीं

से खुला हुआ मतवाला गजराज गरजते हुए वहाँ पहुँचा । उसकी घबड़ाहट से नौकरों के भय से भाग जाने पर भय से व्याकुल हुई मैं उस ब्राह्मण-कुमार के द्वारा दोनों भुजाओं से उठाकर दूर ले जायी गयी, तब उसके अङ्ग का स्पर्श होने से मैंने श्रीखण्ड चन्दन से लिपी हुई के समान, अमृत से सींची हुई के समान, पता नहीं, किसी अनिर्वचनीय दशा का अनुभव किया । फिर कुछ ही देर में मिले हुए नौकरों के द्वारा विवश बनी हुई मैं यहाँ लायी गयी । मानो स्वर्ग से मैं भूतल पर गिरा दी गयी । उस दिन से लेकर उन-उन मनोरथों से सङ्कल्पित सङ्गमवाले उस प्राण देने वाले प्रियतम को पास में स्थित होने के समान सदा देखती हूँ, सोने पर भी उसी का आलिङ्गन करती हूँ, बहुत क्या कहूँ ? सतत उसी का चिन्तन करती हुई समय बिताती हूँ । अतः वही यह प्राणेश्वर का वियोगानल मुझे दिन-रात जलाता रहता है" ।

उसके इस वचनरूपी अमृत से भरे हुए कर्णविवर वाले आनन्दित होकर अपने को पूर्ण मनोरथ मानते हुए 'अपने को प्रकट करने का यही अवसर है' यह सोच कर उस मनःस्वामी ने मुह से गोली निकाल कर अपना स्वरूप प्रकट किया और कहा—"हे सुन्दरी ! मैं वही हूँ जो तुम्हारे द्वारा वाटिका में दर्शन से खरीदा हुआ सदा के लिये दास बनाया गया है । तुम्हारे विरह से व्याकुल बना हुआ मैं इस कन्या रूप को धारण करके तुम्हारे पास आया हूँ । तो इस समय [illegible]

यशसी प्रसूते। तात! तत् क्षणिकेषु एषु सर्वेषु अस्माभिरीदृशः कल्पतरुः किमर्थं रक्ष्यते? यैश्च पूर्वैरयं 'मम मम' इति आग्रहेण रक्षितः, तैरिदानीं कुत्र गतम्? तेषां कस्यायम्? अस्य वा ते के? तस्मात् परोपकारैकफलसिद्धये त्वदाज्ञया इमं कामदं कल्पपादपम् आराधयामि"।

अथ पित्रा "तथा" इति अभ्यनुज्ञातः स जीमूतवाहनः कल्पतरुं गत्वा उवाच,—"देव! त्वया अस्मत्पूर्वेषामभीष्टाः कामाः पूरिताः, तन्ममैकमनन्यं कामं परिपूरय; यथा पृथ्वीमदरिद्रां पश्यामि, तथा करोतु देवः। भद्रमस्तु ते, व्रज, लोकाय अर्थिने त्वं मया दत्तोऽसि"। इतिवादिनि कृताञ्जलौ जीमूतवाहने "त्यक्तस्त्वया एषोऽहं यातोऽस्मि" इति वाक् तस्मात्तरोरुदभूत्। क्षणेन च स कल्पतरुः दिवः समुत्पत्य भुवि तथा वसूनि अवर्षत्, यथा न कोऽपि दुर्गत आसीत्। ततस्तस्य तया सर्वजीवानुकम्पया त्रैलोक्ये यशः पप्रथे।

अथ तद्गोत्रजाः सर्वे मात्सर्य्यात् असहिष्णवः कल्पपादपरहितं

युगान्त तक रहने वाले धर्म और यश को उत्पन्न करता है। पिता जी! तो इन सभी वस्तुओं के क्षणिक होने पर हम लोग इस प्रकार का कल्पवृक्ष क्यों रक्खे हुए हैं? जिन पूर्वजों के द्वारा यह 'मेरा है, मेरा है' यह कहकर आग्रह के साथ रक्खा गया था, वे लोग इस समय कहाँ गये? उन में से किसका यह है? और इसके वे लोग कौन हैं? इसलिए एक परोपकाररूपी फल की सिद्धि के लिए आप की आज्ञा से इस मनोरथपूर्ण करने वाले कल्पवृक्ष की उपासना करता हूँ।

इसके बाद पिता के द्वारा "वैसा ही करो" इस प्रकार आज्ञा प्राप्त किये हुए उस जीमूतवाहन ने कल्पवृक्ष के पास जाकर कहा—"हे देव! तुम हमारे पूर्वजों के अभीष्ट मनोरथ पूर्ण किये हो तो मेरा एक अद्वितीय मनोरथ पूर्ण करो। जिस प्रकार पूरी पृथ्वी को अदरिद्र बनी हुई (धनी बनी हुई) देखूँ, वैसा आप करें। तुम्हारा कल्याण होवे, तुम जाओ माँगने वाले लोगों के लिए तुम मेरे द्वारा दिये गये हो"। हाथ जोड़कर जीमूतवाहन के ऐसा कहने पर "तुम्हारे द्वारा परित्याग करने से यह मैं जा रहा हूँ" यह वाणी उस वृक्ष से उत्पन्न हुई। कुछ ही देर में वह कल्पवृक्ष आकाश में उड़कर पृथ्वी के ऊपर इस प्रकार धन बरसने लगा जिससे कोई भी दरिद्र नहीं रहा। तब उसका इन सभी जीवों पर दया से तीनों भुवन में यश फैल गया।

इसके बाद द्वेष से असहिष्णु सभी उसके दायादगण कल्पवृक्ष से रहित

कामसन्तप्तं मां प्रसाददृष्ट्या निर्वापय" इति। एवं वदन्तं तं प्राणेश्वरं प्राप्तं विलोक्य सा राजसुता क्षिप्रं स्नेहाऽऽश्चर्य्यत्रपाऽऽकुला सहसा किंकर्त्तव्यविमूढा समपद्यत। ततश्च गान्धर्वविवाहेन कृतमङ्गलौ तौ प्रेम्णा परमेण तत्र निभृतं तस्थतुः। ततः स मनःस्वामी तत्र द्विरूपभृत् तस्थौ, दिवा सगुलिकः कन्यारूपः, रात्रौ निष्कासितगुलिकः पुमान्।

अथ गच्छत्सु दिनेषु यशःकेतोर्नृपस्य श्यालको मृगाङ्कदत्तः मृगाङ्कदत्तां नाम निजां सुतां द्विजातये महामन्त्रिणः प्रज्ञासागरस्य सूनवे महाऽऽडम्बरपुरःसरं प्रददौ। तस्मिन् मातुलपुत्र्या विवाहे सा राजपुत्री शशिप्रभा निमन्त्रिता मातुलगृहं प्रायात् तया सह सोऽपि कन्यारूपी मनःस्वामी समायात्। तत्र तं कान्तं कन्यकारूपं मनःस्वामिनं दृष्ट्वा स मन्त्रिसुतः स्मरव्याधबाणैर्नितरां हतोऽभवत्। ततस्तया कपटकन्यया मुषितचित्तः स मन्त्रिसुतः स्ववधूसहितोऽपि शून्यमात्मानं मन्यमानः स्वगृहं जगाम; आगत्य च गृहं तन्मुखलावण्यध्यानासक्तो मोहमगात्। "किमेतत्?" इति सम्भ्रान्ते परिजने उत्सवोज्झिते स

दृष्टि से शीतल करो"। ऐसा कहते हुए उस प्राणपति को पहुँचे हुए देखकर वह राजकुमारी शीघ्र ही स्नेह, आश्चर्य तथा लज्जा से भरी हुई एका-एक कर्तव्य निर्णय करने में असमर्थ हो गयी। इसके बाद गान्धर्व-विवाह के द्वारा कल्याण मनाकर वे दोनों बहुत बड़े प्रेम से वहाँ गुप्तरूप से रहने लगे। तब वह मनःस्वामी वहाँ दो रूप धारण करके रहता था। दिन में गोली मुह में डालकर कन्या के स्वरूप में, और रात में गोली निकाल कर पुरुष के रूप में।

इसके बाद कुछ समय बीतने पर मृगाङ्कदत्त नाम के यशःकेतु राजा के शाले ने ब्राह्मण महामन्त्री प्रज्ञासागर के पुत्र को महा आडम्बर के साथ मृगाङ्कदत्ता नाम की अपनी पुत्री का प्रदान किया। मामा की पुत्री के उस विवाह में निमन्त्रित होकर वह राजकुमारी शशिप्रभा मामा के घर गयी। उसके साथ कन्यारूपी वह मनःस्वामी भी गया। वहाँ सुन्दरी कन्यारूपी उस मनःस्वामी को देखकर वह मन्त्रिकुमार कामदेवरूपी व्याध के बाणों से अत्यन्त ताड़ित हुआ। तब उस कपटकन्या के द्वारा हरण किये गये मन वाला वह मन्त्रिकुमार अपनी पत्नी के साथ रहने पर भी अपने को शून्य समझता हुआ अपने घर गया। और घर आकर उसके मुख के लावण्य के ध्यान में आसक्त होकर बेहोश हो गया। "यह क्या हुआ?" इस प्रकार

तं जीमूतवाहनं सपितृकं सुजयं मत्वा सम्भूय च तस्य राज्यापहरणाय समनह्यन्त। तदवलोक्य जीमूतवाहनः पितरमवादीत्—"तात! धृतायुधेन त्वया योद्धुं कस्य शक्तिरस्ति? किन्तु अस्य पापस्य विनाशिनः शरीरस्य कृते बन्धून् हत्वा कोऽकृपणो राज्यमाकाङ्क्षति? तत् किं नो राज्येन? अन्यत्र क्वचित् गत्वा वयं धर्ममेव आचरिष्यामः, येन लोकयोरुभयोः सद्गतिः स्यात्। कृपणा एते दायादा राज्यलोलुपा मोदन्ताम्"। इतिवादिनं तं जीमूतकेतुरब्रवीत्,—"पुत्र! अहं त्वदर्थं राज्यमिच्छामि, त्वञ्चेत् कृपया तत् जहासि, तदा वृद्धस्य मे तेन किम्?"। इत्थं कृताभ्यनुज्ञेन पित्रा मात्रा च समन्वितः स जीमूतवाहनः राज्यं विहाय मलयाचलमगात्, तत्र स रचिताऽऽश्रमः पितरौ शुश्रूषमाणस्तस्थौ।

एकदा स इतस्ततो भ्रमन् विश्वावसुनाम्नः सिद्धराजस्य तत्र निवासिनः पुत्रं मित्रावसुं नाम दृष्ट्वा सम्भाष्य च मित्रम् अकरोत्। ततश्चैकदा स जीमूतवाहनः उपवने स्थितं देव्या गौर्य्या आयतनं दृष्ट्वा प्रविवेश, ददर्श च तत्र उपवीणयन्तीं, सखीजनपरिवृतां, शैलबाला-

---

अतएव पिता सहित उस जीमूतवाहन को जीतना सरल मानकर इकठ्ठा होकर उसका राज्य अपहरण करने के उद्देश्य से युद्ध करने के लिये संनद्ध हो गये। यह देखकर जीमूतवाहन ने पिता को कहा—"पिता जी! आप हथियार धारण किये रहेंगे तो आप से युद्ध करने की किसकी शक्ति है? किन्तु इस विनाशी तुच्छ शरीर के लिये बन्धुओं को मारकर कौन उदारमन वाला राज्य चाहेगा? तो हम लोगों को राज्य से क्या प्रयोजन? अन्यत्र कहीं जाकर हम लोग धर्म का ही आचरण करेंगे, जिससे दोनों लोकों में सद्गति होवे। राज्य के लोभी ये नीच दायादगण प्रसन्न होवें"। ऐसा कहने वाले उस जीमूतवाहन को जीमूतकेतु ने कहा—"पुत्र! मैं तुम्हारे लिए राज्य चाहता हूँ, यदि तुम दया से युक्त होकर उसे छोड़ रहे हो, तो मुझ वृद्ध को उससे क्या प्रयोजन?" इस प्रकार आज्ञा देने वाले पिता और माता से युक्त होकर वह जीमूतवाहन राज्य छोड़कर मलय पर्वत पर चला गया। वहाँ वह आश्रम बनाकर माता-पिता की सेवा करते हुए रहने लगा।

एक बार इधर-उधर घूमते हुए उसने वहाँ निवास करने वाले विश्वावसु नामक सिद्धराज के पुत्र मित्रावसु को देखकर स्वागत करके उसको मित्र बना लिया। तब एक बार उस जीमूतवाहन ने वाटिका में स्थित पार्वती देवी का मन्दिर देखकर उसमें प्रवेश किया और वहाँ वीणा बजाकर गीत

ऽऽराधनार्थं स्थितां, लोचनलावण्यदर्शनेन लज्जितैरिव निश्चलैर्मृगैराकर्ण्यमानसङ्गीतवीणारवाम्, अञ्जनेन कृष्णां कर्णमूलं विमथ्नतीं पांडवचमूमिव तारकां बिभ्रतीं, परस्परोपमर्देन मुखेन्दोरिव दर्शनमतृप्तमभिवाञ्छन्तौ उन्मुखौ स्तनौ दधतीं, धातुः सृष्टवतो मुष्टिग्रहेणेव निपीडिते वलीमग्नाङ्गुलीमुद्रे मध्ये क्षाममनोरमां कामपि कन्यकाम्। तया च दृष्टया तन्व्या स जीमूतवाहनः सद्यः दृष्टिमार्गप्रविष्टया मुषितचित्तोऽभूत्। साऽपि तं भूषितोद्यानम् उत्कण्ठाविकारप्रदं कामाङ्गदाहवैराग्यात् वनमाश्रितं मधुमिव दृष्ट्वा अनुरागविवशा तथा विह्स्ततां भेजे, यथा सखीनां व्याकुलतामधात्। ततः स जीमूतवाहनस्तस्याः सखीमपृच्छत्,—"भद्रे! तव सख्याः किं धन्यं नाम? को वा वंशोऽनया अलङ्कृतः?"। तदाकर्ण्य सखी प्राब्रवीत्,—"महाभाग! इयं हि नाम्ना मलयवती, मित्रावसोः स्वसा, सिद्धराजस्य दुहिता"। एवमुक्त्वा सा सखी सहृदया तं जीमूतवाहनं, सहाऽऽगतं

गाती हुई, सखी लोगों से घिरी हुई, पार्वती जी की उपासना के लिए बैठी हुई, आँख का सौन्दर्य देखने से लज्जित हुए के समान निश्चल हरिणों के द्वारा सुने जाते हुए सङ्गीत तथा वीणा शब्दवाली, काजर से काली पाण्डवों की सेना के समान कर्णमूल का मथन करने वाली (कर्ण की सेना नष्ट करने वाली, दूसरे पक्ष में—कान की जड़ को दबाने वाली) नेत्रतारका धारण करने वाली, आपस में एक दूसरे को धक्का देते हुए अतृप्त होकर मुखरूपी चन्द्रमा का दर्शन चाहते हुए के समान ऊपर मुख किये हुए दोनों स्तनों को धारण करने वाली, बनाने वाले विधाता के मुट्ठी पकड़ने से दबाये हुए तथा बली में धँसी हुई अङ्गुलियों के चिह्नवाले मध्य भाग में कृशता से मनोहारिणी किसी कन्या को देखा। देखी हुई तथा दृष्टि के मार्ग से अन्दर में प्रवेश करने वाली उस सुकुमारी के द्वारा वह जीमूतवाहन उसी समय चुराये गये मनवाला हो गया। वह भी उद्यान की शोभा बढ़ाने वाले तथा उत्कण्ठा का विकार उत्पन्न करने वाले उस जीमूतवाहन को कामदेव का शरीर जल जाने से वैराग्य के कारण वन का आश्रय लिये हुए वसन्त के समान देखकर अनुराग से उस प्रकार की व्याकुलता से युक्त हुई कि जिससे सखियों को भी व्याकुलता उत्पन्न हो गयी। तब उस जीमूतवाहन ने उसकी सखी को पूछा—"हे भली स्त्री! तुम्हारी सखी का कौन सा धन्य नाम है? और कौन सा वंश इसके द्वारा अलंकृत हुआ है?"। यह सुनकर सखी ने उत्तर दिया—"महाभाग! इसका नाम मलयवती है, यह मित्रावसु की बहन है तथा सिद्धों के राजा विश्वावसु की पुत्री है"। उस जीमूतवाहन को यह कहकर उस

एतत् सर्वमाकर्ण्य बोधिसत्त्वांशसम्भवः स जीमूतवाहनो दृष्ट्वा च सर्वं गाढकरुणो व्यचिन्तयत्,—"हन्त ! अयं शङ्खचूडो नाम नागः वासुकिना आहाराय तार्क्ष्याय प्रहितः, इयञ्चास्य जननी स्नेहेनान्वागता एकसुता चेयं दुःखिनी नितान्तमार्त्ता विलपति, तदेनमेवमार्त्तम् एकान्तनाशिना देहेन यदि न रक्षामि साम्प्रतं, तन्मे निष्फलं जन्म धिक् !" इत्यालोच्य मुदा समुपगम्य जीमूतवाहनः वृद्धां तामुवाच,—"नागमातः ! अहं ते पुत्रं रक्षामि, मा रुद"। इति श्रुत्वा सा वृद्धा गरुडशङ्किनी सन्त्रस्ता,—"तार्क्ष्य ! मां भुङ्क्ष्व" इति जगाद। शङ्खचूडः प्राब्रवीत्,—"मातः ! नैषः तार्क्ष्यः, मा त्रासं कार्षीः क्वायं चन्द्र इव अन्तरिन्द्रियमाह्लादयति ! क्व चासौ तार्क्ष्यः भयमुत्पादयति !" इति शङ्खचूडेनोक्ते जीमूतवाहनोऽब्रवीत्,—"अम्ब ! अहं विद्याधरः ते सुतं रक्षितुमायातः स्वमेतत् शरीरं वस्त्रच्छन्नं गरुत्मते क्षुधिताय दास्यामि, त्वमेतं सुतं नीत्वा गृहं व्रज"। तदाकर्ण्य वृद्धा अवदत्,—"मा मैवं, त्वं मम अधिकः पुत्रः, यस्य ईदृशेषु अस्मासु ईदृशी कृपालुता"। एतदाकर्ण्य स जीमूतवाहनः पुनरब्रवीत्,—

यह बात सुनकर तथा सब कुछ देखकर बोधिसत्त्व के अंश से उत्पन्न हुए अत्यन्त दयालु उस जीमूतवाहन ने सोचा—"अरे ! यह शङ्खचूड़ नाम का नाग वासुकि के द्वारा गरुड़ के भोजन के लिये भेजा गया है। और यह इसकी माता स्नेह के कारण पीछे-पीछे आयी है, यह एक ही पुत्रवाली है अतएव दुखी और अत्यन्त आर्त होकर विलाप कर रही है। तो इस निश्चित नष्ट होने वाले शरीर से इस प्रकार आर्त बने हुए इसकी रक्षा यदि इस समय मैं नहीं करता हूँ तो मेरे निष्फल जन्म को धिक्कार होवे"। यह सोचकर प्रसन्नता के साथ पहुँच कर जीमूतवाहन ने उस वृद्धा को कहा—"हे नागमाता ! मैं तुम्हारे पुत्र की रक्षा करूँगा, तुम मत रोओ"। यह सुनकर गरुड़ की शंका करनेवाली सन्त्रस्त होकर उस वृद्धा ने—"गरुड़ ! मुझे खाओ, मुझे खाओ" यह कहा। तब शङ्खचूड़ ने कहा—"माता जी ! यह गरुड़ नहीं है, मत डरो ; कहाँ तो यह चन्द्रमा के समान आन्तरिक इन्द्रियों को आह्लादित करता है, और कहाँ वह भय उत्पन्न करने वाला गरुड़" यह शङ्खचूड़ के कहने पर जीमूतवाहन ने कहा—"माता जी ! मैं विद्याधर हूँ, तुम्हारे पुत्र की रक्षा करने के लिये आया हूँ, अपने इस शरीर को वस्त्र से ढककर भूखे गरुड़ को दूँगा, तुम अपने इस पुत्र को लेकर घर चली जाओ"। यह सुनकर वृद्धा ने कहा—"ऐसा नहीं, ऐसा नहीं, तुम तो मेरे विशेष पुत्र हो, जिसकी इस प्रकार के हमलोगों के ऊपर इस प्रकार की दया है"। यह सुनकर उस जीमू-

तं जीमूतवाहनं सपितृकं सुजयं मत्वा सम्भूय च तस्य राज्यापहरणाय समनह्यन्त । तदवलोक्य जीमूतवाहनः पितरमवादीत्—"तात ! धृतायुधेन त्वया योद्धुं कस्य शक्तिरस्ति ? किन्तु अस्य पापस्य विनाशिनः शरीरस्य कृते बन्धून् हत्वा कोऽकृपणो राज्यमाकाङ्क्षति ? तत् किं नो राज्येन ? अन्यत्र क्वचित् गत्वा वयं धर्ममेव आचरिष्यामः, येन लोकयोरुभयोः सद्गतिः स्यात्। कृपणा एते दायादा राज्यलोलुपा मोदन्ताम्" । इतिवादिनं तं जीमूतकेतुरब्रवीत्,—"पुत्र ! अहं त्वदर्थं राज्यमिच्छामि, त्वञ्चेत् कृपया तत् जहासि, तदा वृद्धस्य मे तेन किम् ?" । इत्थं कृताभ्यनुज्ञेन पित्रा मात्रा च समन्वितः स जीमूतवाहनः राज्यं विहाय मलयाचलमगात्, तत्र स रचिताऽऽश्रमः पितरौ शुश्रूषमाणस्तस्थौ ।

एकदा स इतस्ततो भ्रमन् विश्वावसुनाम्नः सिद्धराजस्य तत्र निवासिनः पुत्रं मित्रावसुं नाम दृष्ट्वा सम्भाष्य च मित्रम् अकरोत्। ततश्चैकदा स जीमूतवाहनः उपवने स्थितं देव्या गौर्या आयतनं दृष्ट्वा प्रविवेश, ददर्श च तत्र उपवीणयन्तीं, सखीजनपरिवृतां, शैलबाला-

---

अतएव पिता सहित उस जीमूतवाहन को जीतना सरल मानकर इकट्ठा होकर उसका राज्य अपहरण करने के उद्देश्य से युद्ध करने के लिये संनद्ध हो गये। यह देखकर जीमूतवाहन ने पिता को कहा—"पिता जी ! आप हथियार धारण किये रहेंगे तो आप से युद्ध करने की किसकी शक्ति है ? किन्तु इस विनाशी तुच्छ शरीर के लिये बन्धुओं को मारकर कौन उदारमन वाला राज्य चाहेगा ? तो हम लोगों को राज्य से क्या प्रयोजन ? अन्यत्र कहीं जाकर हम लोग धर्म का ही आचरण करेंगे, जिससे दोनों लोकों में सद्गति होवे। राज्य के लोभी ये नीच दायादगण प्रसन्न होवें" । ऐसा कहने वाले उस जीमूतवाहन को जीमूतकेतु ने कहा—"पुत्र ! मैं तुम्हारे लिए राज्य चाहता हूँ, यदि तुम दया से युक्त होकर उसे छोड़ रहे हो, तो मुझ वृद्ध को उससे क्या प्रयोजन ?" इस प्रकार आज्ञा देने वाले पिता और माता से युक्त होकर वह जीमूतवाहन राज्य छोड़कर मलय पर्वत पर चला गया। वहाँ वह आश्रम बनाकर माता-पिता की सेवा करते हुए रहने लगा।

एक बार इधर-उधर घूमते हुए उसने वहाँ निवास करने वाले विश्वावसु नामक सिद्धराज के पुत्र मित्रावसु को देखकर स्वागत करके उसको मित्र बना लिया। तब एक बार उस जीमूतवाहन ने वाटिका में स्थित पार्वती देवी का मन्दिर देखकर उसमें प्रवेश किया और वहाँ वीणा बजाकर गीत

"मातः ! न त्वमस्य मे मनोरथस्य भङ्गं कर्त्तुमर्हसि"। आग्रहेण एवं ब्रुवन्तं तं शङ्खचूडः अवादीत्,—"महासत्त्व ! त्वया सत्यं कृपालुता दर्शिता, नाहन्तु त्वच्छरीरेण स्वशरीरं रक्षितुमिच्छामि, रत्नव्ययेन को हि पाषाणं रक्षति ! मादृशैः स्वमात्रानुकम्पिभिर्विश्वम् आपूर्णं, येषां जगदनुकम्प्यं, तादृशा भवादृशा अतिविरलाः। हे साधो ! अहं कलङ्कः शशिबिम्बमिव शङ्खपालकुलं शुचि कलङ्कयितुं न च शक्नोमि" इति तं प्रतिषिध्यैव शङ्खचूडः मातरं पुनर्जगाद,—"अम्ब ! अस्मात् कान्तारात् निवर्त्तस्व, अत्रैतत् नागानामसृग्भिरुक्षितं कृतान्तलीला-पर्य्यन्तरौद्रं बध्यशिलातलं किं न पश्यसि ? अहमिदानीम् अब्धितटं गत्वा गोकर्णाऽऽख्यमीश्वरं नत्वा द्रुतमागच्छामि, यावत् तार्क्ष्यो नागच्छति" इत्युक्त्वा मातरम् आपृच्छ्य च स शङ्खचूडो गोकर्णप्रणा-मार्थमगात्।

"अस्मिंश्चेत् समये तार्क्ष्य आगच्छेत्, तदा मे मनोरथः सिद्धः स्यात्" इति जीमूतवाहनो यावत् मनस्यकरोत्, तावत् आसन्नपक्षी-न्द्रस्य पक्षपवनान्दोलितान् निवारणपरानिव तरून् वीक्ष्य, गरुडाऽऽ-

---

तवाहन ने फिर कहा—"माता जी ! तुम्हें मेरे इस मनोरथ का भङ्ग नहीं करना चाहिये"। आग्रह के साथ ऐसा कहते हुए उसको शङ्खचूड़ ने कहा—"हे महासाहसी ! तुमने तो सत्य ही कृपालुता दिखलाई है, किन्तु मैं तो तुम्हारे शरीर से अपने शरीर की रक्षा नहीं करना चाहता हूँ ; क्योंकि रत्न का व्यय करके कौन पत्थर की रक्षा करता है ? केवल अपने ऊपर दया करने वाले मेरे समान लोगों से संसार भरा हुआ है, किन्तु जिनके लिए संसार ही दयनीय है, उस प्रकार के तुम्हारे समान लोग अत्यन्त विरले ही होते हैं। हे सज्जन ! जैसे कलङ्क चन्द्रमण्डल को कलंकित करता है उस प्रकार मैं शङ्खपालके पवित्र कुल को कलङ्कित नहीं कर सकूँगा"। इस प्रकार उसको रोककर शङ्खचूड़ ने माता को फिर कहा—"अम्ब ! तुम इस दुरूह स्थान से लौट जाओ। क्या यहाँ यह अनेक नागों के शोणित से सींचा हुआ, यमराज के विलास की परिधि होने से भयंकर वध्य शिलातल नहीं देखती हो ? मैं इस समय समुद्र के तट में जाकर गोकर्ण नामक शिवजी को प्रणाम करके शीघ्र आता हूँ, जबतक गरुड़ नहीं आते हैं" यह कहकर और माता को पूछकर वह शंखचूड़ गोकर्ण को प्रणाम करने के लिए चला गया।

जब तक जीमूतवाहन—"यदि इस समय में गरुड़ आ जाते तो मेरा मनोरथ सिद्ध हो जाता" यह मन में सोचता है, तब तक समीप में आये हुए पक्षिराज के पंखों की हवा से हिलाये हुए अतएव निवारण करते हुए के सदृश वृक्षों को देखकर 'गरुड़ के आने का समय हो गया है' यह समझकर

ऽऽराधनार्थं स्थितां, लोचनलावण्यदर्शनेन लज्जितैरिव निश्चलैर्मृगैरा-कर्ण्यमानसङ्गीतवीणारवाम्, अञ्जनेन कृष्णां कर्णमूलं विमथ्नतीं पांडवचमूमिव तारकां बिभ्रतीं, परस्परोपमर्देन मुखेन्दोरिव दर्शनमतृप्तमभिवाञ्छन्तौ उन्मुखौ स्तनौ दधतीं, धातुः सृष्टवतो मुष्टिग्रहेणेव निपीडिते वलीमग्नाङ्गुलीमुद्रे मध्ये क्षाममनोरमां कामपि कन्यकाम्। तया च दृष्टया तन्व्या स जीमूतवाहनः सद्यः दृष्टिमार्गप्रविष्टया मुषितचित्तोऽभूत्। साऽपि तं भूषितोद्यानम् उत्कण्ठाविकारप्रदं कामाङ्गदाहवैराग्यात् वनमाश्रितं मधुमिव दृष्ट्वा अनुरागविवशा तथा विह्वलतां भेजे, यथा सखीनां व्याकुलतामधात्। ततः स जीमूतवाहनस्तस्याः सखीमपृच्छत्,—"भद्रे! तव सख्याः किं धन्यं नाम? को वा वंशोऽनया अलङ्कृतः?"। तदाकर्ण्य सखी प्राब्रवीत्,—"महाभाग! इयं हि नाम्ना मलयवती, मित्रावसोः स्वसा, सिद्धराजस्य दुहिता"। एवमुक्त्वा सा सखी सहृदया तं जीमूतवाहनं, सहाऽऽगतं

गाती हुई, सखी लोगों से घिरी हुई, पार्वती जी की उपासना के लिए बैठी हुई, आँख का सौन्दर्य देखने से लज्जित हुए के समान निश्चल हरिणों के द्वारा सुने जाते हुए सङ्गीत तथा वीणा शब्दवाली, काजर से काली पाण्डवों की सेना के समान कर्णमूल का मथन करने वाली (कर्ण की सेना नष्ट करने वाली, दूसरे पक्ष में—कान की जड़ को दबाने वाली) नेत्रतारका धारण करने वाली, आपस में एक दूसरे को धक्का देते हुए अतृप्त होकर मुखरूपी चन्द्रमा का दर्शन चाहते हुए के समान ऊपर मुख किये हुए दोनों स्तनों को धारण करने वाली, बनाने वाले विधाता के मुट्ठी पकड़ने से दबाये हुए तथा बली में धँसी हुई अङ्गुलियों के चिह्नवाले मध्य भाग में कृशता से मनोहारिणी किसी कन्या को देखा। देखी हुई तथा दृष्टि के मार्ग से अन्दर में प्रवेश करने वाली उस सुकुमारी के द्वारा वह जीमूतवाहन उसी समय चुराये गये मनवाला हो गया। वह भी उद्यान की शोभा बढ़ाने वाले तथा उत्कण्ठा का विकार उत्पन्न करने वाले उस जीमूतवाहन को कामदेव का शरीर जल जाने से वैराग्य के कारण वन का आश्रय लिये हुए वसन्त के समान देखकर अनुराग से उस प्रकार की व्याकुलता से युक्त हुई कि जिससे सखियों की भी व्याकुलता उत्पन्न हो गयी। तब उस जीमूतवाहन ने उसकी सखी को पूछा—"हे भली स्त्री! तुम्हारी सखी का कौन सा धन्य नाम है? और कौन सा वंश इसके द्वारा अलंकृत हुआ है?"। यह सुनकर सखी ने उत्तर दिया—"महाशय! इसका नाम मलयवती है, यह मित्रावसु की बहन है तथा सिद्धों के राजा विश्वावसु की पुत्री है"। उस जीमूतवाहन को यह कहकर उस

गमनवेलेयमिति मत्वा जीमूतवाहनः परार्थप्राणदित्सया तां बध्यशिलामारुरोह। आरूढमेव तं महासत्त्वं गरुडः सहसा निपत्य तस्मात् शिलातलात् चञ्च्वा जहार, जवाच्च स्रुतशोणितधारम् उत्खातशिरोरत्नं तं नीत्वा मलयाद्रेः शृङ्गे भक्षयितुमारेभे। "एवमेव प्रतिजन्म मे परार्थो देहः स्यात्, परोपकृतिरहितौ स्वर्गमोक्षौ मा भूताम्" इति तार्क्ष्येण भक्ष्यमाणस्य तस्यानुध्यायतः विद्याधरेन्द्रस्योपरि नभस्तलात् पुष्पवृष्टिः पपात।

अत्रान्तरे रक्तधाराक्तशिरोमणिः तत्पत्न्या मलयवत्याः पुरोऽपतत्। तत् चूडारत्नं दृष्ट्वा सुविह्वला श्वशुरयोरन्तिकस्था सास्रं ताभ्यामदर्शयत्। तौ च दम्पती सूनोस्तं चूडामणिं विलोक्य सहसा "किमेतत्?" इति सम्भ्रान्तौ बभूवतुः। ततः स्वविद्याऽनुभावात् यथावृत्तमवेत्य राजा जीमूतकेतुः राज्ञी च वध्वा सध्वा मलयवत्या सह द्रुतं तत्र यावत् गन्तुं प्रावर्त्तेतां, तावत् स शङ्खचूडस्तं गोकर्णशिवं प्रणम्य तत्राऽऽययौ, ददर्श च तत् शिलातलं रुधिरादार्द्रम्। दृष्ट्वैव "हा हतोऽस्मि महापापः, ध्रुवं तेन महात्मना कृपालुना मत्कृते गरुत्मते

जीमूतवाहन दूसरे के लिए प्राण देने की इच्छा से वध्यशिला पर चढ़ गया। आरोहण करते ही उस महासाहसी को गरुड़ एकाएक गिराकर उस शिलातल पर से चोंच से उठाकर और शोणित की धारा बहाते हुए और शिर का रत्न निकाले हुए उसको वेग से ले जाकर मलयाचल के शिखर पर खाना प्रारम्भ किये। "इसी प्रकार प्रति जन्म मेरा शरीर परोपकार के लिए होवे, परोपकार से रहित स्वर्ग और मोक्ष न होवे" यह सोचते हुए तथा गरुड़ के द्वारा खाये जाते हुए उस विद्याधरराज के ऊपर आकाशमण्डल से फूल की वृष्टि गिरने लगी।

इसी बीच में शोणित की धारा से भींगा हुआ वह शिरोमणि उसकी पत्नी मलयवती के सामने गिर गया। सास-श्वशुर के समीप में स्थित उसने उस शिरोरत्न को देखकर विह्वल होकर आँसू बहाती हुई उन दोनों को दिखलाया। वे दोनों दम्पती पुत्र का वह चूडामणि देखकर एकाएक—"यह क्या हुआ?" इस रूप में घबड़ा गये। तब अपनी विद्या के प्रभाव से सब वृत्तान्त समझकर राजा जीमूतकेतु और रानी पुत्रवधू मलयवती के साथ शीघ्र वहाँ जाने के लिये जब तक प्रवृत्त हुए, तब तक वह शंखचूड़ उस गोकर्ण शिव को प्रणाम करके वहाँ आया, और उसने शोणित से भींगे हुए उस वध्यशिला को देखा। देखते ही—"अरे! महापापी मैं मारा गया, निश्चय उस दयालु महात्मा ने मेरे लिये अपनी आत्मा गड़ड़ को दे दी है।

मुनिपुत्रम् अस्य नामान्वयौ पृष्ट्वा तां मलयवतीं स्मितमिताक्षरम् अवादीत्,—"सखि! विद्याधरेन्द्रस्यास्य किमातिथ्यं न करोषि? जगत्पूज्य एषः अतिथिः प्राप्तः"। इति तयोक्ते सा सिद्धराजसुता तूष्णीं लज्जाऽवनताऽऽनना अभूत्। ततः सखी,—"लज्जावतीयं, मत्तोऽर्घ्यो गृह्यताम्" इतिवादिनी तस्मै सार्घ्यां मालामुपानयत्। स च जीमूतवाहनः प्रेमनिर्भरः तां मालामादाय तस्या मलयवत्याः कण्ठे समर्पयत्। साऽपि तिर्य्यक्प्रसृतया स्निग्धया दृशा नीलोत्पलमयीमिव मालां तस्मै प्रत्यार्पयत्। इत्येवम् अन्योन्यकृताशब्दस्वयंवरयोस्तयोः एकां सिद्धराजसुतां काऽपि चेटी समागत्य जगाद,—"राजपुत्रि! जननी त्वां स्मरति, शीघ्रमागच्छ"। तदाकर्ण्य सा कामेषुकीलितामिव सोत्कां दृष्टिं प्रियमुखात् कथञ्चित् आकृष्य कृच्छ्रेण गृहमगात्, जीमूतवाहनोऽपि तद्गताऽऽत्मा स्वमाश्रममयासीत्। अथ सा प्राणेशविरहाऽऽतुरा स्वां जननीं दृष्ट्वा शयनीयं गत्वा आशु तत्र पपात।

अथ सा अन्तर्गतकामाग्निधूमेनेव आविलनेत्रा, सन्तापकथि-

सहृदय सखी ने साथ में आये हुए मुनिकुमार से इसके नाम और वंश पूछ कर उस मलयवती को मुस्कुरा कर थोड़े ही शब्दों में कहा—"हे सखी! इस विद्याधरराज का अतिथिसत्कार क्यों नहीं करती हो? संसार के लिये पूजनीय यह अतिथि तुम्हें प्राप्त हुए हैं"। उसके द्वारा यह कहे जाने पर वह सिद्धराजकुमारी लज्जा से शिर झुकाकर चुपचाप रह गयी। तब सखी ने "यह लजा रही है, मुझ से सत्कार ग्रहण करिये" यह कहती हुई अर्घ्य सहित माला का अर्पण किया। और उस जीमूतवाहन ने प्रेम में विभोर होकर उस माला को लेकर उस मलयवती के गले में डाल दिया। उसने भी टेढ़ी गति से फैली हुई स्नेह से भरी दृष्टि से मानो नील कमल की बनी हुई माला बदले में पहना दी। इस प्रकार निःशब्द होकर स्वयंवर किये हुए उन दोनों में से एक सिद्धराजकुमारी को किसी दासी ने आकर कहा—"हे राजकुमारी! माता जी तुम्हारी याद कर रही हैं, जल्दी चलो" यह सुनकर वह कामबाण से गड़ी हुई अपनी उत्कण्ठित दृष्टि को प्रियतम के मुख से किसी प्रकार खींच कर बड़ी कठिनाई से घर गयी। उसी में लगे हुए मनवाला जीमूतवाहन भी अपने आश्रम को गया। इसके बाद वह प्राणेश्वर के विरह से व्याकुल बनी हुई अपनी माता का दर्शन करके बिस्तरे पर जाकर शीघ्र उस पर गिर गयी।

इसके पश्चात् वह अन्तर्गत कामानल के धूएँ से ही मानो मलिन आँख-

आत्मा दत्तः, तदन्वेषामि स महात्मा शत्रुणा क्व नीतः, तञ्चेत् जीवन्तमाप्नुयां तदा अयशःपङ्के न मज्जेयम्" इति उदश्रुर्वदन् स निरन्तरं सान्द्रां पतितां रक्तधारामनुसरन् ययौ।

अत्रान्तरे तं जीमूतवाहनं भक्षयन् गरुडस्तं हृष्टं विलोक्य व्यचिन्तयत्,—"अहो! अपूर्वः कोऽपि अयं महासत्त्वः मया भक्ष्यमाणोऽपि प्रहृष्यति, न तु प्राणैर्वियुज्यते, बिभर्त्ति च लुप्तशेषेऽपि गात्रे रोमाञ्चकञ्चुकम्। किञ्चास्य उपकारिणीव दृष्टिर्मयि प्रसीदति; तदेषः न नागः, कोऽप्येष महापुरुषः, तदेनं पृच्छामि, न पुनर्भक्षयामि"। इति विमृशन्तं तं तार्क्ष्यं जीमूतवाहनः प्राह,—"पक्षिराज! किं निवृत्तोऽसि? अद्यापि मे देहे मांसशोणितं वर्त्तते, न च ते तृप्तिं पश्यामि, तत् पुनर्भुङ्क्ष्व"। एतदतिविचित्रमाकर्ण्य स पक्षिराट् तं पप्रच्छ,—"महात्मन्! नैव त्वं नागः, तत् ब्रूहि, को भवान्?" इति। "नाग एवास्मि, कोऽयं ते प्रश्नः? प्रकृतमनुसर, को हि बालिशः प्रस्तुतार्थविरुद्धमाचरेत्?"।

इत्थं जीमूतवाहने तार्क्ष्यं प्रेरयति, समुपेत्य स शङ्खचूडः दूरात्

तो खोजूँ, कि वह महात्मा शत्रु के द्वारा कहाँ ले जाया गया? उसको यदि जीवित ही प्राप्त कर लूँ तो अपयश के पङ्क में न डूबूँगा" आँसू बहाकर यह कहता हुआ वह लगातार सघनरूप से गिरी हुई रक्तधारा का अनुसरण करते हुए गया।

इस बीच में उस जीमूतवाहन को खाता हुआ गरुड़ उसको प्रसन्न हुए देखकर सोचने लगा—"अरे! यह तो कोई अपूर्व ही महासाहसी है, मेरे द्वारा खाये जाने पर भी प्रसन्न होता है, मरता नहीं, और खाये हुए से शेष बचे शरीर में रोमाञ्च धारण करता है। दूसरी बात यह है कि जैसे एक उपकारी के ऊपर लोगों की आँखें प्रसन्न होती हैं उसी प्रकार मेरे ऊपर इसकी दृष्टि प्रसन्न होती है। तो यह नाग नहीं है, यह कोई महापुरुष है। तो इसको पूछता हूँ, खाऊँगा नहीं" इस प्रकार विमर्श करते हुए उस गरुड़ को जीमूतवाहन ने कहा—"हे पक्षिराज! क्यों रुक गये हो? अभी भी मेरे शरीर में मांस और शोणित है, और ऐसा देखता हूँ कि तुम्हारी तृप्ति भी नहीं हुई है, तो और खाओ"। यह अतिविचित्र बात सुनकर उस पक्षिराज ने उसको पूछा—"हे महात्मा! आप नाग नहीं हैं, तो कहिये कि आप कौन हैं?"। "मैं नाग ही हूं, तुम्हारा यह प्रश्न कैसा है? प्रासङ्गिक कार्य करो, कौन मूर्ख प्रासङ्गिक कार्य के विरुद्ध आचरण करेगा?"

इस प्रकार जीमूतवाहन के गरुड़ को प्रेरित करते रहने पर, दूर से आकर

ताङ्गी, अश्रूणि प्रमुञ्चन्ती, सखीभिश्चन्दनैर्लिप्ता, पद्मिनीदलैश्च वीजिता, शयने सख्या अङ्के भूतले च न शर्म लेभे। ततश्च वासरे रक्तया सन्ध्यया सह क्वापि गते, चन्द्रे च हसन्त्याः प्राच्या मुखं समाक्रम्य चुम्बति, सा स्मरेणाऽऽपूर्य्यमाणाऽपि जीवितस्पृहाशून्या दूतीसम्प्रेषणादिकं लज्जया कर्त्तुं नाशकत्, निनाय च कृच्छ्रेण निशाम्। जीमूतवाहनोऽपि तद्वियोगाऽऽर्त्तः शयनस्थोऽपि कामस्य हस्ते पतितः, नूतनोद्भिन्नरागोऽपि प्रोन्मिषत्पाण्डुरकान्तिः, लज्जामूकोऽपि कामजां पीडां वदन् निशामनैषीत्; प्रातश्चोत्थाय नितान्तमुत्सुकः तदेव गौर्य्या मन्दिरमगात्। तत्र तेन सख्या मुनिपुत्रेण पृष्ठतः आगत्य यावदसौ समाश्वास्यते, तावत् मदनानलविह्वला सा मलयवती विरहासहा एकाकिनी गृहान्निर्गत्य गुप्तं प्राणत्यागाय तत्र निर्जने समायात्। सा पादपान्तरितं कान्तमलक्षयन्ती उदश्रुलोचना देवीं गौरीं व्यजिज्ञपत्,—"देवि! तव प्रसादात् अस्मिन् जन्मनि यदि मया जीमूतवाहनः पतिः न लब्धः, तदा अन्यस्मिन्नपि जन्मनि यथा स एव मे पतिर्भूयात्,

---

वाली, सन्ताप से पकते हुए अङ्गों वाली, आँसुओं को बहाती हुई, सखियों के द्वारा चन्दन से लिपी हुई, कमलिनी के दलों से पङ्खा डुलाये जाती हुई बिस्तरे पर, सखी की गोदी में, भूतल पर कहीं भी शान्ति नहीं पाती थी। इसके बाद अनुरक्त सन्ध्या के साथ दिन के कहीं चले जाने पर और हँसती हुई पूरब दिशा का मुह चन्द्रमा के आकर चूम लेने पर वह काम से भरी रहने पर भी जीवन की अभिलाषा से शून्य होकर लज्जा के कारण दूतीसंप्रेषण आदि भी नहीं कर सकी, बड़ी कठिनाई से रात बितायी। जीमूतवाहन भी उसके वियोग से पीड़ित होकर बिछौने पर रहने पर भी काम के हाथ में पड़ा हुआ, उत्पन्न नवीन राग होने पर भी प्रकट हुए पाण्डु (सफेद) कान्तिवाला, लज्जा से मौन रहने पर भी काम से उत्पन्न व्यथा प्रकट करता हुआ रात बिताया। प्रातःकाल उठकर अत्यन्त उत्कण्ठित होकर पार्वती के उसी मन्दिर में गया। वह उस मित्र मुनिकुमार के द्वारा पीछे से आकर जबतक वह समाश्वासित किया जाता है, तब तक वह मलयवती विरह असह्य हो जाने से कामानल से विह्वल होकर अकेली घर से निकल कर गुप्तरूप से प्राणत्याग करने के लिए उस निर्जन स्थान में आयी। वह पेड़ की आड़ में प्रियतम को न देखती हुई आँखों में आँसू भरकर पार्वती देवी का प्रार्थना करने लगी—"हे देवी! यदि इस जन्म में मुझे जीमूतवाहन पति नहीं मिला तो तुम्हारे प्रसाद से दूसरे जन्म में भी जिस प्रकार वही मेरा पति

तमुवाच,—"विनतानन्दन ! मा महापापं साहसञ्च कृथाः, कोऽयं ते भ्रमः ? न ह्येष नागः, नागोऽहमस्मि"। इत्युक्त्वा द्रुतमेत्य तयोर्मध्ये विभ्रान्तं तार्क्ष्यं पुनः शङ्खचूडोऽब्रवीत्,—"गरुत्मन् ! कस्ते भ्रमः ? मे फणां द्वे च जिह्वे न पश्यसि ? किञ्चास्य सौम्यामाकृतिं न पश्यसि ?" इत्थं शङ्खचूडे वदति सा भार्य्या मलयवती पितरौ च सर्वेऽत्र सत्वरम् आययुः। तञ्च विलुप्ताङ्गं पुत्रं दृष्ट्वाऽस्य पितरौ,—"हा पुत्र ! हा जीमूतवाहन ! हा कारुणिक ! हा वत्स ! हा परार्थप्रदत्तजीवित ! हा वैनतेय ! त्वया कथमिदमविमृश्य समाचरितम् ?" इति विलपन्तौ भृशं रुरुदतुः। तत् श्रुत्वा तार्क्ष्यो भृशमनुतप्तो व्यचिन्तयत्,—"हा ! कथं बोधिसत्त्वांश-सम्भवो मया मोहात् भक्षितः ? सोऽयं जीमूतवाहनः परार्थप्राणदाता, यस्य कृत्स्नेऽत्र जगति कीर्त्तिघोषणा भ्रमति !! तदस्मिन् मृते पापस्य मे अग्निप्रवेशनं युक्तम्, अधर्मविषवृक्षस्य स्वादु फलं किं पच्यते ?" इत्येवं चिन्ताकुले तार्क्ष्ये स जीमूतवाहनः बन्धून् समागतान् दृष्ट्वा निपत्य व्रणव्यथया पञ्चत्वमवाप।

उस शंखचूड़ ने कहा—"हे विनतानन्दन ! साहस और महापाप मत करो, यह कौन तुम्हारा भ्रम है? यह नाग नहीं है, नाग तो मैं हूँ"। यह कहकर शीघ्र उन दोनों के बीच में जाकर भ्रम में पड़े हुए गरुड़ को शंखचूड़ ने फिर कहा—"हे गरुड़ ! कौन सा तुम्हारा भ्रम है ? मेरी फणा और दो जीभ नहीं देखते हो ? दूसरी बात इसकी सुन्दर आकृति नहीं देखते हो ?" इस प्रकार शंखचूड़ के कहते रहने पर वह पत्नी मलयवती और माता-पिता सभी यहाँ शीघ्रता से आ गये। खाये हुए शरीरवाले उस पुत्र को देखकर उसके माता-पिता—"हा पुत्र ! हा जीमूतवाहन ! हा दयालु ! हा वत्स !। हा गरुड़ ! तुमने बिना विचारे हुए यह क्यों किया ?" इस प्रकार विलाप करते हुए जोरों से रोने लगे। यह सुनकर अत्यन्त पश्चात्ताप करते हुए गरुड़ सोचने लगा—"हाय ! क्या बोधिसत्त्व के अंश से उत्पन्न यह भ्रम से मेरे द्वारा खाया गया ? दूसरे के लिए प्राण देनेवाला यह वही जीमूतवाहन है, जिसकी इस सम्पूर्ण संसार में कीर्ति की घोषणा नाचती है, तो इसके मरने पर मुझ पापी का तो अग्नि में प्रवेश करना उचित है। क्या अधर्म रूपी विषवृक्ष का स्वादिष्ट फल पकता है ?" इस प्रकार गरुड़ के चिन्ता से व्याकुल हो जाने पर बन्धुओं को आये हुए देखकर वह जीमूतवाहन गिरकर घाव की व्यथा से मर गया।

तथा प्रसादः क्रियताम्”। इत्युक्त्वा सा स्वोत्तरीयेण तत्क्षणम् अशोकतरुशाखायां, तस्या एव देव्या अग्रतः “हा नाथ ! जीमूतवाहन ! विश्वविख्यातकरुणेनापि त्वया कथमस्मि न परित्राता ?” इत्युक्त्वा यावत् गले पाशं नियच्छति, तावत् इयमशरीरिणी भारती अन्तरीक्षात् समुदभूत्,—“पुत्रि ! मा साहसं कार्षीः, भाविविद्याधरचक्रवर्त्ती जीतमूतवाहनस्ते पतिर्भविष्यति”। इति दैवीवाचमाकर्ण्य सवयस्यः जीमूतवाहनः हृष्टां तां प्रियामुपाजगाम। “एष ते देव्या वरः प्रदत्तः सत्यमेव” इति तन्मित्रे मुनिपुत्रे तां बालां जल्पति, जीमूतवाहनस्तत्तत् पेशलं ब्रुवन् स्वहस्तेनैव तस्याः कण्ठात् पाशममोचयत्।

ततोऽकस्मात् तत्र पुष्पाणि चिन्वती काऽपि सखी तं व्यापारमवलोकयन्ती हृष्टा समेत्य तां सव्रीडया दृशा भुवं लिखन्तीं जगाद,—“सखि ! दिष्ट्या वर्द्धसे अभीष्टसिद्धितः। अद्यैव महाराजो विश्वावसुस्ते पिता मम सन्निधौ कुमारेण मित्रावसुना विज्ञप्तः—‘तात ! जगन्मान्यः कल्पतरुप्रदः योऽयं विद्याधरेन्द्रतनयो जीमूतवाहन इहाऽऽगतः, सः अतिथित्वेन नः पूज्यः तादृशश्चान्यो वरः न दृश्यते, तस्मा-

---

होवे तुम उस प्रकार की कृपा करना”। यह कहकर वह अपने दुपट्टे से उस समय अशोक वृक्ष की डाली में उसी देवी के सामने “हा नाथ ! जीमूतवाहन ! विश्वविख्यात दयालु होने पर भी क्यों तुम ने मेरी रक्षा नहीं की ?” यह कहकर जबतक गले में फाँसी डालती है तबतक यह अशरीरिणी वाणी आकाश से उत्पन्न हुई—“हे पुत्री ! साहस मत करो, विद्याधरों का भावी चक्रवर्ती राजा जीमूतवाहन तुम्हारा पति होगा” यह दैवी वाणी सुनकर मित्र सहित जीमूतवाहन उस प्रसन्न प्रियतमा के पास आ गया। “देवी का दिया हुआ सत्य ही यह तुम्हारा वर है” यह उसके मित्र मुनिकुमार के उस बालिका को कहने पर जीमूतवाहन ने वह मधुर वचन कहते हुए अपने हाथ से उसके गले से पाश खोल दिया।

तब अकस्मात् वहाँ फूल चुगती हुई तथा उन सभी क्रियाओं को देखती-देखती प्रसन्न हुई किसी सखी ने आकर लज्जा से भरी आँखों से भूमि को खोदनेवाली उस मलयवती को कहा—“भाग्य के द्वारा मनोरथ सिद्ध होने से तुम्हारी वृद्धि हो रही है। आज ही तुम्हारे पिता महाराज विश्वावसु मेरे सामने ही राजकुमार मित्रावसु के द्वारा निवेदन किये गये हैं कि—‘पिता जी ! संसार वालों से सम्मानित, कल्पवृक्ष का दान करने वाला, विद्याधरराज का पुत्र जो कि यह जीमूतवाहन यहाँ आया है, वह क्या अतिथि रूप में

ततस्तत्र शोकदीनयोस्तत्पित्रोः "हा हा" इति विलपतोः, शङ्खचूडे च आत्मानं निन्दति, सा मलयवती अश्रुगद्गदं नभो दृष्ट्वा पूर्वप्रसन्नां तां वरदां देवीमम्बिकामिति उपालभत,—"मातः! 'विद्याधरचक्रवर्त्ती ते पतिर्भविता' इत्यहं त्वया आदिष्टा, तन्मम भाग्येन त्वं मिथ्यावादिनी जाताऽसि"। इत्युक्तवत्यां तस्यां सा गौरी प्रत्यक्षीभूय,—'पुत्रि! न मे वचो मृषा" इत्युक्त्वा कमण्डलोरमृतेन तं जीमूतवाहनं सिषेच; तेन च सः अक्षतसर्वाङ्गः पूर्वाधिकतरद्युतिर्जीवन् सद्यः समुत्तस्थौ। अथ सा देवी सर्वेषु प्रणमत्सु, उत्थितं प्रणतं तं जीमूतवाहनं प्राब्रवीत्,—"पुत्र! तुष्टाऽस्मि ते अनेन देहदानेन, तदेषाऽहं निजेन पाणिना विद्याधरचक्रवर्त्तिपदे त्वामभिऽषिञ्चामि" एवं वदन्ती देवी कलसाम्बुभिः तं जीमूतवाहनमभ्यषिञ्चत्, तेन च पूजिता तत्क्षणात् तिरोदधे। अस्मिंश्च समये नभसः दिव्याः कुसुमवृष्टयः पेतुः, नेदुश्च सहर्षं दिवि देवदुन्दुभयः।

अथ गरुत्मान् विनतस्तं जीमूतवाहनमुवाच,—"चक्रवर्त्तिन्!

तब वहाँ शोक से दीन होकर उसके माता-पिता के "हा हा' इस रूप में विलाप करते रहने पर और शङ्खचूड़ के अपनी निन्दा करते रहने पर वह मलयवती आँसू से गद्गद् होकर आकाश की ओर देखकर पूर्व में प्रसन्न हुई उस वरदान देनेवाली अम्बिका देवी को इस प्रकार उलहना देने लगी—"हे माता जी! तुम्हारा पति विद्याधरों का चक्रवर्ती राजा होगा" यह मैं तुम्हारे द्वारा आदेश दी गयी थी, तो मेरे दुर्भाग्य से तुम मिथ्यावादिनी हो गयी हो"। ऐसा उसके कहने पर वह पार्वती जी प्रत्यक्ष होकर—"हे पुत्री! मेरा वचन मिथ्या नहीं होगा" यह कहकर उसने कमण्डलु के अमृत से उस जीमूतवाहन को सींच दिया। उससे विना कटे हुए शरीरवाला तथा पहले से भी अधिक कान्तिमान् बनकर वह जीमूतवाहन जीकर उसी समय उठ गया। इसके बाद उस देवी ने सभी के प्रणाम करते रहने पर उठे हुए तथा प्रणाम करते हुए उस जीमूतवाहन को कहा—"हे पुत्र! तुम्हारे इस शरीर-दान से मैं सन्तुष्ट हूँ, तो यह मैं अपने हाथ से विद्याधरों के चक्रवर्ती राजा के पद पर तुमको अभिषिक्त करती हूँ" ऐसा कहती हुई देवी ने कलस के जल से उस जीमूतवाहन को अभिषिक्त किया। और उसके द्वारा पूजित होकर उसी समय अदृश्य हो गयी। इसी समय में आकाश से स्वर्गीय फूलों की वर्षा होने लगी और हर्ष के साथ आकाश में देवताओं की दुन्दुभियाँ बजने लगीं।

इसके बाद गरुड़ ने विनम्र होकर उस जीमूतवाहन को कहा—"हे

दसौ मलयवत्या कन्यारत्नेन पूज्यताम्'। 'तथा' इति राज्ञा श्रद्धिते, भ्राता ते मित्रावसुः अस्य महाभागस्य आश्रममद्यैव गतः। मन्ये, सद्य एव ते विवाहो भविता, तत् स्वं मन्दिरमागच्छ, एष च महाभागः स्वमाश्रमं यातु"। इति तया सख्या अभिहिता सा शनैः प्रहृष्टा समुत्सुका च प्रायात्। जीमूतवाहनोऽपि शीघ्रमाश्रममाजगाम।

आगत्य च मित्रावसोः यथाऽभीष्टं कार्य्यं श्रुत्वा अभिनन्द्य च स्वां जातिं पूर्ववृत्तान्तञ्च तस्मै समाचचक्षे। ततो मित्रावसुः प्रीतः परितुष्टयोस्तत्पित्रोरावेद्य गत्वा स्वगृहं पितरौ तद्वार्त्तावर्णनेन समनन्दयत्, अनयच्च तस्मिन्नेव दिने स्वं गृहं जीमूतवाहनम्। ततश्च यथायथं महोत्सवं विधाय, तत्रैव शुभे दिवसे तस्य विद्याधरेन्द्रस्य मलयवत्याश्च विवाहविधिं निरवर्त्तयत्। ततो जीमूतवाहनः सिद्धमनोरथः तया नवोढया मलयवत्या सह तत्रैव कियन्तं कालं तस्थौ।

एकदा कौतुकाक्षिप्तचित्तः स मित्रावसुना सह मलयाद्रिं भ्राम्यन्

पूजनीय नहीं है ! उस प्रकार का कोई दूसरा वर नहीं दिखायी पड़ता है, इसीलिए यह मलयबती रूपी कन्यारत्न के द्वारा सम्मानित किया जाय'। 'वैसा ही करूँगा' इस प्रकार राजा के द्वारा विश्वास दिलाने पर तुम्हारे भाई मित्रावसु आज ही इस भाग्यशाली के आश्रम में गये हैं। मालूम होता है कि शीघ्र ही तुम्हारा विवाह होगा, तो अपने भवन में चलो, और यह महाशय अपने आश्रम को जाँय"। यह उस सखी के द्वारा कही गयी वह मलयवती धीरे-धीरे प्रसन्न हुई और उत्कण्ठित होकर चली गई। जीमूतवाहन भी शीघ्र ही अपने आश्रम को गया।

और आकर उसने मित्रावसु का अभिलषित कार्य सुनकर उसका अभिनन्दन करके अपनी जाति तथा अपना सम्पूर्ण पूर्व वृत्तान्त कहा। तब प्रसन्न हुए मित्रावसु ने सन्तुष्ट होनेवाले उसके माता-पिता को निवेदन करके अपने घर जाकर उसका समाचार वर्णन करने से अपने माता-पिता को आनन्दित किया और उसी दिन जीमूतवाहन को अपने घर ले आया। इसके बाद उचित रूप से महोत्सव करके वहीं पर शुभ दिन में उस विद्याधरराज तथा मलयवती का विवाह-संस्कार पूर्ण किया। इसके बाद जीमूतवाहन पूर्ण-मनोरथ होकर उस नवविवाहिता मलयवती के साथ वहीं पर कुछ दिनों तक टिका रहा।

एक बार कौतूहल से आक्षिप्त मन होकर मित्रावसु के साथ मलयाचल

अहं पुरुषातिशये त्वयि अतिप्रीतोऽस्मि, येन अपूर्वोदारमतिना त्वया त्रिजगत्कौतुकावहं ब्रह्माण्डभित्तिलिखितम् इदं चित्रं कृतम्; तन्मामाज्ञापय, मत्तश्चाभिमतं वरं वृणीष्व"। इतिवादिनं गरुडं स महासत्त्वः प्रावदत्,—गरुत्मन्! सानुतापेन त्वया पुनर्नागा न भक्ष्याः, ये च अस्थिशेषाः पूर्वं त्वया भक्षिताः, ते जीवन्तु" इति। "एवमस्तु, न भोक्ष्येऽहमतः परं नागान्, ये च प्राग्भुक्ताः, ते च जीवन्तु" इति तेन वरे दत्ते, ये नागा अस्थिशेषाः पूर्वभक्षिताः, ते च सर्वे सद्यः समुत्तस्थुः। ततः सर्वेषु सुरनागमुनिगणेषु सानन्देषु मिलितेषु स मलयाचलः लोकत्रयभूम्याख्यां लेभे। तस्मिंश्च काले गौर्य्याः प्रसादात् सर्वे विद्याधरेश्वराः तमद्भुतं जीमूतवाहनोदन्तं विविदुः। ततश्च ते सर्वे समेत्य चरणावनताः तं मुदितबन्धुसुहृत्समेतं गौरीस्वकरकृतमहाभिषेकं हिमाद्रिं निन्युः। तत्र गत्वा स जीमूतवाहनः पित्रा मात्रा भार्य्यया मलयवत्या मित्रावसुना लोकोत्तरचरितेन शङ्खचूडेन च समं बहुरत्नशोभितां विद्याधरचक्रवर्त्तितां भुञ्जानः सुखमध्युवास।

इति महतीं विचित्रां कथामाख्याय वेतालः पर्य्यपृच्छत्,—

चक्रवर्ती! सभी पुरुषों से उत्कृष्ट होने से तुम्हारे ऊपर मैं अत्यन्त प्रसन्न हूँ, अपूर्व उदार बुद्धिवाले जिस तुमने तीनों भुवनों को कुतूहल उत्पन्न करने वाला तथा ब्रह्माण्ड की दीवारों में लिखा गया यह आश्चर्यजनक कार्य किया है, इसलिए मुझे आज्ञा करो, और मुझसे अभिलषित वरदान माँगो"। यह कहने वाले गरुड़ को उस महासाहसी ने कहा—"हे गरुड़ जी! पश्चात्ताप करते हुए तुम फिर नागों को मत खाओ, और जो पहले तुम्हारे द्वारा खाये गये हैं, अस्थिशेष हैं, वे भी जी जाँय" इस प्रकार उसके द्वारा वरदान दिये जाने पर, जो नाग पहले खाये गये थे और अस्थिशेष थे, वे सभी उसी समय उठ गये। इसके बाद सभी देवता, नाग तथा मुनिगण के वहाँ आनन्दित होकर इकट्ठा होने पर उस मलयाचल ने "तीनों लोक की भूमि" यह नाम प्राप्त किया। उसी समय पार्वती जी के प्रभाव से सभी विद्याधर जीमूतवाहन का वह अद्भुत वृत्तान्त जान गये। तब वे सभी इकट्ठा होकर पैरों पर गिरकर प्रसन्न होने वाले बान्धव तथा मित्रगण सहित गौरी के द्वारा अपने हाथों से किये हुए चक्रवर्ति-राज्याभिषेक वाले उस जीमूतवाहन को हिमाचल पर ले गये। वहाँ जाकर पिता-माता, मलयवती पत्नी, मित्रावसु तथा संसार से बढ़े हुए चरित्र वाले शङ्खचूड़ के साथ वह जीमूतवाहन बहुत रत्नों से शोभित, विद्याधरों का चक्रवर्ती राज्य भोग करते हुए सुख से रहने लगा"।

यह विचित्र तथा बहुत बड़ी कथा कहकर वेताल ने पूछा—"महाराज!

समुद्रवेलामाससाद। तत्र अस्थिसङ्घातान् पतितान् दृष्ट्वा स तं मित्रावसुं "केषामेते अस्थिसङ्घाः प्राणिनाम् ?" इति पप्रच्छ। ततः श्यालको मित्रावसुः तं कारुणिकमब्रवीत्,—"सखे! शृणु, अत्र वृत्तान्तं सङ्क्षेपेण ते कथयामि,—

पुरा नागमाता कद्रुः तार्क्ष्यमातरं सपत्नीं विनतां सकपटपणनिर्जितां दासीतामनैषीत्। तेनैव वैरेण तार्क्ष्यस्तां मातरं दास्यान्मोचयित्वाऽपि बलात् नागान् कद्रुपुत्रान् सदा पातालं प्रविश्य भक्षयितुं कांश्चित् जघान, कांश्चित् ममर्द च इत्थं क्रमेण सर्वनागेषु व्यापन्नेषु सर्वक्षयमाशङ्क्य नागराट् वासुकिः प्रार्थनापूर्वं तार्क्ष्येण समयं व्यधात्,—'खगेन्द्र! एकमेकं नागं ते आहारार्थं प्रत्यहं प्रेषयामि अत्र दक्षिणोदधेः पुलिने, त्वया तु पुनः कदाचन पातालं न प्रवेष्टव्यं, सर्वेषु नागेषु एकपदे निहतेषु तव कः स्वार्थः ?'। इति नागराजेनोक्ते स गरुडः स्वार्थदर्शी 'तथा' इति प्रत्यपद्यत। तदा प्रभृति दिने दिने असौ गरुत्मान् वासुकिप्रेषितमेकैकं नागम् अस्मिन् अम्बुधेः पुलिने भुङ्क्ते,

---

पर घूमते हुए वह समुद्र के तट में पहुँचा। वहाँ पड़े हुए अस्थिसमूहों को देखकर उसने उस मित्रावसु को "हड्डियों के समूह किन प्राणियों के हैं" यह पूछा। तब उस शाले मित्रावसु ने उस दयालु को कहा—"मित्र! सुनो, इस विषय में जो वृत्तान्त है वह तुम्हें संक्षेप में कहता हूँ—

प्राचीन काल में नागों की माता कद्रु ने अपनी सौत गरुड़ की माता विनता को बाजी लगाने में कपट के द्वारा जीतकर दासी बना लिया। उसी शत्रुता से गरुड़ उस अपनी माता को दासीपना से मुक्त करके कद्रु के पुत्र नागों को बलपूर्वक खाने के लिए सदा पाताल में प्रवेश करके किन्हीं को मार डालता था किन्हीं को कुचल देता था। इस प्रकार क्रमशः सभी नागों के विपत्तिग्रस्त होने पर सभी के विनाश होने की आशंका करके नागराज वासुकि ने प्रार्थनापूर्वक गरुड़ के साथ नियम बनाया—'हे पक्षिराज! तुम्हारे भोजन के लिए इस दक्षिण समुद्र के तट पर मैं एक-एक नाग प्रतिदिन भेजूँगा, तुम तो फिर कभी भी पाताल में प्रवेश नहीं करना। सभी नागों को एक बार ही मार डालने से तुम्हारा कौन सा स्वार्थ होगा ?' यह नागराज के द्वारा कहे जाने पर स्वार्थ चाहने वाले उस गरुड़ ने 'वैसा ही करूँगा' इस रूप में स्वीकार कर लिया। उस समय से लेकर प्रतिदिन वह गरुड़ वासुकि से भेजे हुए एक-एक साँप को इस समुद्र के तट पर खाता है।

"राजन्! ब्रूहि, शङ्खचूड-जीमूतवाहनयोः कोऽधिकः सत्त्वेन? यदि जानन्नपि न वदसि, तदा पूर्वमेव दत्तः शापः सम्भविता" इति। राजा अब्रवीत्,—"बहुजन्मसिद्धमेतत् जीमूतवाहनस्य न चित्रं, श्लाघ्यस्त्वत्र शङ्खचूडः, यो मरणादुत्तीर्णोऽपि अन्यं प्राप्य सुदूरं गताय शत्रवे तार्क्ष्याय पश्चात् धावन् स्वं देहमुपानयत्"। एतत्तस्य नृपस्य वचनं निशम्य वेतालः शिंशपाऽन्तिकमगात्। राजाऽपि तमानेतुं पुनः प्रययौ।

कहो, कि शंखचूड़ और जीमूतवाहन में कौन अधिक साहसी था? यदि जानते हुए भी नहीं कहोगे, तो पहले का दिया हुआ शाप फलित होगा"। राजा ने कहा—"जीमूतवाहन का तो यह बहुतों जन्मों से सिद्ध था, इसलिए यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं थी। इस विषय में शंखचूड़ ही प्रशंसनीय है, जिसने मरण से उबर कर भी अन्य को प्राप्त करके दूर गये हुए शत्रु गरुड़ को पीछे से दौड़ते हुए अपना शरीर अर्पण किया"। यह उस राजा का वचन सुनकर वेताल फिर शीशम के पास चला गया। राजा भी उसको लाने के लिये फिर गया।

एते च तेषां भक्ष्यमाणानां नागानामस्थिसञ्चयाः कालक्रमात् गिरि-शृङ्गनिभाः समपद्यन्त"।

इति मित्रावसोर्मुखादुपश्रुत्य सान्तर्दुःख स जीमूतवाहनः निजगाद,—"सखे ! शोच्यः स राजा वासुकिः, यः स्वहस्तेन स्वाः प्रजा विद्विषे उपहारीकरोति। स क्लीबः धृताऽऽननसहस्रोऽपि एकेन आननेनापि,—'मामग्रतः भुङ्क्ष्व गरुत्मन् !' इति भाषितुं नाशकत् ? कथं वा निःसत्त्वः स्वकुलक्षये तार्क्ष्यमभ्यर्थयामास ? कथं वा तार्क्ष्यः कश्यपसुतो वीरः कृष्णवाहनः ईदृशं पापं कुरुते ? अहो ! मोहस्य प्रागल्भ्यम् !!"। इति उक्त्वा "असारेण देहेन अद्य एकस्यापि नागस्य जीवितरक्षणं कुर्य्याम्" इति मनसि सङ्कल्प्य स्थिते तस्मिन् महासत्त्वे जीमूतवाहने, मित्रावसोः पितुराज्ञया कश्चित् प्रतिहारः तयोराह्वानार्थमाजगाम। स तु जीमूतवाहनः,—"व्रज त्वमग्रतः, अहं पश्चात् यास्यामि" इति तं मित्रावसुं विसृज्य स्वयं तत्रास्थात्। तस्मिंश्च गते जीमूतवाहनः तत्र वाञ्छितार्थोन्मुखो भ्रमन् दूरात् करुणं रुदितमशृणोत्। गत्वा च कियद्दूरम् उत्तुङ्गशिलातलसमीपगम् एकं

थे उन्हीं खाये हुए नागों के अस्थिसमूह हैं, जो कि समय के क्रम से पर्वत के शिखर के समान हो गये हैं"।

यह मित्रावसु के मुख से सुनकर अन्तर्दुःख से भरे हुए उस जीमूतवाहन ने कहा—"मित्र ! वह राजा वासुकि शोचनीय हैं, जो अपने हाथ से अपनी प्रजा शत्रु को उपहार देते हैं। वे नपुंसक हैं, क्योंकि हजार मुख धारण किये रहने पर भी एक भी मुह से—"हे गरुड़ ! पहले मुझे खा लो" यह नहीं कह सके ? कैसे इस प्रकार निर्बल होकर अपना वंश विनाश करने के लिये गरुड़ से प्रार्थना किये ? कश्यप के पुत्र, वीर तथा कृष्ण के वाहन होकर भी गरुड़ इस प्रकार का पाप कैसे करते हैं ? अरे ! मोह का कितना उत्कर्ष है ?" यह कहकर "इस निःसार शरीर से आज एक नाग के भी जीवन की रक्षा कर सकूँगा" यह मन ही मन संकल्प करके उस महासाहसी जीमूतवाहन के खड़े रहने पर मित्रावसु के पिता की आज्ञा से कोई द्वारपाल उन दोनों को बुलाने के लिये आया। वह जीमूतवाहन तो—"तुम आगे चलो, मैं पश्चात् आऊँगा' इस प्रकार उस मित्रावसु को विदा करके स्वयं वहाँ रह गया। उसके चले जाने पर जीमूतवाहन ने अपने अभिलषित विषय में तत्पर होकर वहाँ घूमते हुए दूर से ही करुणा से भरे रोदन का शब्द सुना। और कुछ दूर जाकर उसने ऊँचे चट्टान के समीप में स्थित, सुन्दर स्वरूपवाले, राज-

अथ सप्तदशकथा

अथ राजा पुनः शिंशपामूलमुपेत्य वेतालञ्च तं तथैव स्कन्धमारोप्य चलितुमुपचक्रमे। वेतालश्च तं पुनरब्रवीत्,—"राजन्! श्रमविनोदाय पुनरहमेकामाख्यायिकां कथयामि, शृणु,—

पुरा गङ्गाकूले कनकपुरं नाम पुरमेकमासीत्, यस्मिन् धर्मस्य एकोऽपि पादः कलिना न विहतः। तत्राभवत् यशोधराऽऽख्यो यथार्थनामा महीपतिः यो हि धीरो वेलाऽद्रिरिव क्षितिं विप्लवात् ररक्ष। यश्च जगदाह्लादकः चण्डप्रतापोऽखण्डमण्डलश्च विधिना चन्द्रार्कावेकीकृत्येव विनिर्मितः। जनता तं पापभीरुं यशोलुब्धं परस्त्रीषु षण्डं शौर्य्यौदार्य्यमयं विदन्ति। तस्य राज्ञः पुरे कश्चित् महावणिक् प्रतिवसति स्म, तस्य उन्मादिनी नाम कन्याऽभवत्। यस्तामद्राक्षीत्, स मदनबाणहतः उन्मादवानेवाभूत्। तस्यां यौवनस्थायां स वणिक् नीतिविज्ञः तं यशोधरं राजानमुपेत्य व्यजिज्ञपत्,—"प्रभो! त्रैलोक्य-

---

सत्रहवीं कथा—

इसके बाद राजा फिर शीशम की जड़ में पहुँच कर और उस वेताल को उसी प्रकार कन्धे पर उठाकर चलना प्रारम्भ किये। और वेताल ने उसको फिर कहा—"महाराज! परिश्रम दूर करने के लिये फिर एक कहानी कहता हूँ, सुनो—

प्राचीन काल में गङ्गा के किनारे कनकपुर नाम का एक नगर था, जिसमें धर्म का एक भी चरण कलियुग के द्वारा नहीं नष्ट किया गया था। वहाँ यशोधर नाम का अन्वर्थ नाम वाला राजा था। जो कि ज्वार भांटों से तटपर्वत के समान उपद्रवों से पृथ्वी की रक्षा करता था। जो कि संसार का आह्लादक होते हुए भी प्रचण्ड प्रताप वाला तथा अखण्ड मण्डलवाला था, ऐसा मालूम होता था कि चन्द्रमा और सूर्य को एक बनाकर विधाता के द्वारा वह बनाया गया था। जनता जिसको पाप से डरपोक, यश के लोभी, परायी स्त्री में नपुंसक, वीरता तथा उदारता से भरे हुए जानती थी। उस राजा के नगर में कोई बहुत बड़ा बनियाँ रहता था। उसकी उन्मादिनी नाम की कन्या थी। जो उसको देखता था वह कामबाण से आहत होकर उन्माद युक्त ही हो जाता था। उसे युवती होने पर नीति जानने वाले उस बनियाँ ने उस यशोधर राजा के पास पहुँच कर निवेदन किया—"हे प्रभो! तीनों भुवन

दुःखितं युवानं सुन्दराकृतिं राजभटेनेव पुंसा आनीय तत्क्षणं त्यक्तं, रुदतीं वृद्धां मातरं सानुनयं निवर्त्तयन्तं पुरुषमद्राक्षीत् ।

अथ "कोऽयम् ?" इति जिज्ञासुः स यावदत्र करुणार्द्रचेताः छन्नः शृण्वन् जीमूतवाहनस्तिष्ठति स्म, तावत् सा वृद्धा दुःखभारातिपीडिता स्त्री युवानं तम् अनुशोचितुं प्रावर्त्तत,—"हा शङ्खचूड ! हा दुःखशत-लालित ! हा गुणिन् ! हा कुलैकतन्तो ! पुत्र ! क्वाहं त्वां पुनर्द्रक्ष्यामि ? वत्स ! त्वन्मुखचन्द्रे गते स तव पिता शोकान्धकारपतितः वृद्धः कथं जीविष्यति ? अर्ककरस्पर्शादपि यत्तव अङ्गं दूयेत, कथं तत् तार्क्ष्यभक्षणजां रुजां सोढुं शक्ष्यति ? । विस्तीर्णनागलोकेऽपि विधात्रा नागाधिपेन च अभव्याया मे एकसुतस्त्वं विचित्य किं लब्धः ?" । इति विलपन्तीं तां स युवा तनयः प्राब्रवीत्,—"मातः ! दुःखार्त्तमपि मां किं भृशं दुःखयसि ? गृहानेव निवर्त्तस्व, एष ते पश्चिमः प्रणामः, आगमनवेला चेयं गरुत्मतः" । तदाकर्ण्य,—"हा ! हताऽस्मि, को मे पुत्रमिह पास्यति" इति सा वृद्धा दिक्षु प्रक्षिप्ताऽऽर्त्तलोचना भृशं चक्रन्द ।

सैनिक के सदृश पुरुष के द्वारा उसी समय लाकर त्याग किये हुए, रोती हुई वृद्धा माता को अनुनय करके लौटाते हुए एक दुःखी युवक पुरुष को देखा ।

इसके बाद "यह कौन है ?" यह जानने का इच्छुक, दया से द्रवित हृदयवाला, छिप कर सुनता हुआ वह जीमूतवाहन जब यहाँ खड़ा था तब दुःखभार से पीड़ित उस वृद्धा स्त्री ने उस युवक के विषय में शोक करना प्रारम्भ किया—"हा शङ्खचूड़ ! हा सैकड़ों दुःख सहकर प्यार किये हुए ! हा गुणवान् ! हा कुल का एकसूत्र ! पुत्र ! कहाँ मैं फिर तुम्हें देखूँगी ? वत्स ! तुम्हारे मुखचन्द्र के चले जाने पर तुम्हारे वह वृद्ध पिता शोक रूपी अन्धकार में पड़कर कैसे जीयेंगे ? सूर्य की किरणों के स्पर्श से भी जो तुम्हारा अङ्ग क्लेशित होता था, कैसे वह गरुड़ के खाने का कष्ट सह सकेगा ? । इतने विस्तीर्ण नागलोक में भी विधाता तथा नागराज के द्वारा खोजकर मुझ अभागिन का तुम एक पुत्र कैसे प्राप्त किये गये ?" इस प्रकार विलाप करती हुई उसको उस युवक पुत्र ने कहा—"माता जी ! दुःख से पीड़ित रहने पर भी मुझे क्यों दुःखी बना रही हो ? घर ही लौट जाओ, तुमको यह अन्तिम प्रणाम है, और यह गरुड़ के आने का समय भी हो गया है" । यह सुनकर—"हाय ! मैं मर गई, यहाँ कौन मेरे पुत्र की रक्षा करेगा ?" इस प्रकार दिशाओं की ओर कातर नयन से देखती हुई वह वृद्धा जोरों से रोने लगी ।

रत्नभूता मे कन्यैका प्रदेयाऽस्ति, तां देवस्य अनावेद्य अन्यस्मै न दातुमुत्सहे, अस्मिंश्च भूमण्डले देव एव सर्वरत्नानां प्रभुः, तत् तां स्वीकृत्य मामनुगृह्णातु देवः"।

इति तस्य वचनमाकर्ण्य स राजा निजान् ब्राह्मणान् तस्या लक्षणानि परीक्षितुं व्यसृजत्। ते ब्राह्मणा गत्वा तां त्रिलोकसुन्दरीं दृष्ट्वा सद्यः क्षोभमगमत्, व्यचिन्तयंश्च,—"यदि राजा इमां परिणयेत्, तदा राज्यमवसीदेत्, एतस्यामासक्तचित्तः स कदाऽपि न हि राज्यम् अवेक्षिष्यते, तस्मादेषा सुलक्षणेति राज्ञे नास्माभिः कथनीयम्" इति। इत्येवं मनसि सङ्कल्पय ते राजान्तिकमाजग्मुः, ऊचुश्च,—"देव! सा कुलक्षणा" इति। तेन च स राजा तां कन्यां बलधराऽऽख्याय सेनापतये प्रददौ। अथ सा भर्तृगृहे तेन भर्त्रा सुखेन अस्थात्।

इत्थं गच्छति काले हेमन्तहस्तिनं प्रफुल्लकुन्दलतादन्तं मथिताम्बुजिनीवनं हत्वा लसत्पुष्पमञ्जरीकेसरावलिः चूताङ्कुरनखः कानने क्रीडन् मधुकेसरी समाजगाम। तस्मिंश्च काले वसन्तोत्सवं द्रष्टुं स

के रत्न स्वरूप मेरी एक कन्या विवाह कराने योग्य है, उसे श्रीमान् को बिना निवेदन किये किसी अन्य को देने का उत्साह नहीं होता है। इस संसार में श्रीमान् ही सभी रत्नों के अधिकारी हैं, इसलिए महाराज उसे स्वीकार करने का मेरे ऊपर अनुग्रह करें"।

उसका यह वचन सुनकर उस राजा ने अपने ब्राह्मणों को उसके लक्षणों की परीक्षा करने के लिए भेजा। वे ब्राह्मण लोग जाकर उस तीनों भुवन की सुन्दरी को देखकर उसी समय व्याकुल हो गये और सोचने लगे कि—"यदि राजा इससे विवाह कर ले तो राज्य नष्ट हो जायगा। इसमें आसक्त मन होकर वह कभी भी राज्य की देख-भाल नहीं करेगा। इसलिए 'यह सुलक्षणा है' यह राजा को हम लोगों को नहीं कहना चाहिये"। ऐसा मन में निश्चय करके वे लोग राजा के समीप आये, और उन लोगों ने कहा कि—"महाराज! वह कुलक्षणा है"। इसी कारण से उस राजा ने उस वणिक्पुत्री को नहीं स्वीकार किया। तब उसकी आज्ञा से उस सेठ ने उस कन्या का बलधर नामक सेनापति से विवाह करा दिया। अब वह पति के घर में उस पति के साथ सुख से रहने लगी।

इस प्रकार कुछ समय बीत जाने पर फूली हुई कुन्दलता रूपी दाँत वाले, कमलिनी वन का मथन करने वाले, हेमन्त ऋतुरूपी हाथी का विनाश करके फूलों की मञ्जरीरूपी केशर के समूह से शोभा पाने वाला, आम की मंजरी के अंकुररूपी नख वाला, वन में खेलने वाला वसन्तरूपी सिंह आ गया।

राजा यशोधरः गजारूढः निर्जगाम। तद्रूपेण सम्भाव्यविप्लवाः कुलयोषितः अपसारयितुं तदा उद्घुष्य दत्तं डिण्डिमं श्रुत्वा सा उन्मादिनी परित्यागावमानिता हर्म्यपृष्ठतः तस्मै राज्ञे आत्मानमदर्शयत्। स च राजा सन्धुक्षितस्य मधुना मलयानिलैः कामाग्नेः ज्वालामिवोद्गतां दृष्ट्वा चुक्षुभे; तस्याश्च रूपं मनोभुवो जैत्रमस्त्रमिव हृदये गाढं प्रविष्टं निर्वर्णयन् क्षणात् मोहमगात्।

अथ स भृत्यैराश्वासितो राजधानीं प्रविश्य पृष्टेभ्यस्तेभ्यस्तां प्रागुपनतोज्झिताम् उन्मादिनीं बुबुधे। ततः स राजा तान् "कुलक्षणेयम्" इतिवादिनो विप्रान् देशान्निर्वास्य अनुदिनं तामेव समुत्सुको दध्यौ,— "अहो! जगन्निष्कलङ्के तस्या मुखे सति निर्लज्जो जडात्मा अयं शशी नित्यमुदेति। कठोरौ हेमकलसौ गजकुम्भौ च कर्कशौ अस्याः पीनयोस्तुङ्गयोः पयोधरयोः सादृश्यं न लभेयाताम्। काञ्चीनक्षत्रमालया विराजितम् अस्या जघनस्थलं कन्दर्पमातङ्गमस्तकनिभं कं न विलोभयेत्?"। इत्येव तामन्तश्चिन्तयन् राजा कामाग्निपुटपाकेन पच्यमानः

उस समय में वह राजा यशोधर वसन्तोत्सव देखने के लिये हाथी पर चढ़कर निकला। उसके सौन्दर्य से उपद्रव की संभावना करके कुल स्त्रियों को हटाने के लिए उस समय घोषणा देती हुई डुग्गी सुनकर परित्याग से अपमानित हुई उस उन्मादिनी ने महल के छत पर से उस राजा को अपना दर्शन कराया। वह राजा वसन्त के द्वारा मलयानिलों से सुलगाये हुए कामानल की उठी हुई ज्वाला के समान उसको देखकर विक्षुब्ध हो गया। और उसके रूप को कामदेव का विजयी अस्त्र के सदृश हृदय में गहराई तक प्रवेश किये हुये अनुभव करके कुछ देर में वेहोश हो गया।

इसके बाद नौकरों के द्वारा आश्वासित होकर उसने राजधानी में प्रवेश करके पूछे गये उन लोगों से उसको 'पूर्व में उपस्थित होकर त्याग की हुई वही उन्मादिनी है' यह समझा। तब वह राजा 'वह कुलक्षणा है' यह कहने वाले उन ब्राह्मणों को देश से निकाल कर प्रति दिन उत्सुक होकर उसी का ध्यान करने लगा—"अरे! तीनों भुवनों में निष्कलङ्क उसके मुह के रहने पर जड़स्वरूप यह चन्द्रमा निर्लज्ज होकर नित्य उगता है। सोने के दो कलसें कठोर हैं, हाथी के दोनों कुम्भ कर्कश होते हैं इसलिए इसके मोटे और ऊँचे स्तनों का सादृश्य नहीं प्राप्त कर सकते हैं। मेखलारूपी नक्षत्रमाला से विराजमान इसका जघनस्थल कामदेवरूपी हाथी के मस्तक के समान किसको नहीं लुभाता है?"। इस प्रकार उसको हृदय में सोचता हुआ तथा कामानल के पुटपाक में पकाया जाता हुआ वह राजा दिन रात क्षीण होने लगा। लज्जा

भगवन्! चिन्ताभूः" इति तं तापसम् अब्रवीत्। ततः स तापसः तस्मै तां विद्यां दातुं प्रतिपेदे। आश्रितानुरोधेन किं हि न कुर्वन्ति साधवः ?।

ततो नदीतीरं गत्वा स तापसस्तमब्रवीत्,—"वत्स! विद्यां जपन् यदा तां मायां द्रक्ष्यसि, तदा मम विद्यया बोधितो मायाग्निमेव प्रविशेः, अहं हि तवैव जपतो नदीतटे स्थास्यामि तावत्" इत्युक्त्वा शुचिस्तमाचान्तं शुचिं चन्द्रस्वामिनं तां विद्यामध्यापयामास। ततस्तस्मिन् गुरौ तीरस्थिते स चन्द्रस्वामी तं मूर्ध्ना प्रणम्य सरभसं तां नदीमवततार। अवतीर्णश्च तस्यामन्तर्जले तां विद्यां जपन् सहसैव तन्मायया विमोहितो मिथ्या सर्वं जन्मवृत्तान्तं विस्मृत्य, अन्यस्यां पुरि कस्यापि विप्रस्य पुत्रत्वेनोत्पन्नः शनकैर्वृद्धिं गतः, कृतोपनयनोऽधीतविद्यः कृतदारश्च दुःखसुखसम्भिन्नः क्रमात् सञ्जातापत्यः समभवत्। ततश्चात्र पुत्रदारस्नेहाऽऽसक्तस्तत्तदाचरन् बद्धरतिः पितृभ्यां बान्धवैश्च सह कियन्तं कालं तस्थौ।

महाशय! इस विषय में आप चिन्ता न करें" यह उस तपस्वी को कहा। तब उस तपस्वी ने उसको वह विद्या देना स्वीकार कर लिया। क्योंकि आश्रितों के अनुरोध से साधु लोग क्या नहीं करते हैं!

तब नदी के तीर में जाकर उस तपस्वी ने उसको कहा—"वत्स! विद्या को जपते हुए जब उस माया को देखोगे, तब मेरी विद्या के द्वारा होश में आने पर माया की आग में प्रवेश कर जाना, क्योंकि मैं तुझ मन्त्र जपने वाले की ही प्रतीक्षा में तब तक नदी के तट में रहूँगा" यह कहकर स्वयं पवित्र होकर आचमन आदि करके पवित्र हुए उस चन्द्रस्वामी को वह मन्त्र पढ़ा दिया। तब उस गुरु के तीर पर रहने पर वह चन्द्रस्वामी उसको शिर से प्रणाम करके बहुत वेग से नदी में उतर गया। उसमें उतर कर जल के अन्दर उस विद्या का जप करते हुए एकाएक उस विद्या की माया से विमोहित होकर झूठे ही अपने सम्पूर्ण जन्म का समाचार भूलकर किसी दूसरी नगरी में किसी ब्राह्मण के पुत्र के रूप में उत्पन्न हो गया और धीरे-धीरे बढ़ने लगा। उपनयन हुआ, विद्याओं का अध्ययन किया, विवाह किया। दुःख-सुख में संलिप्त रहकर क्रमशः बाल-बच्चों से युक्त हो गया। इसके बाद वहाँ पुत्र-पत्नी आदि के स्नेह में आसक्त होकर वह-वह सांसारिक आचरण करते हुए प्रेम से बान्धे हुए उसने माता-पिता तथा बान्धवों के साथ कुछ समय तक निवास किया।

दिवानिशं क्षीयते स्म। ह्रिया निगूहमानश्च पृच्छद्भ्यः आप्तेभ्यः तत् पीडाकारणं प्रकाशयामास। "अलं सन्तापेन, स्वाधीनां तां किं न भजसे ?" इति तैरभिहितः स धार्मिकः नरपतिः नैव तदनुमेने।

ततो बलधरो नाम सेनापतिः तत् विदित्वा उपेत्य च चरणाऽऽनतः प्रभुम् अभ्यर्थयामास,—"देव ! दासस्त्री सा तव दास्येव, न पराङ्गना; अहञ्च स्वयं प्रयच्छामि, तदेनं मे भार्य्यां गृहाण। अथवाऽहं ताम् इह देवकुले त्यजामि, तर्हि तस्या ग्रहणे न दोषः"। इति सेनापतिना निर्बन्धेन अभ्यर्थ्यमानोऽपि सान्तःकोपं तमुवाच,—"अहं राजा भूत्वा कथमीदृशमधर्मं कुर्य्याम् ? मयि धर्मम् अतिक्रामति कः स्ववर्त्मनि तिष्ठेत् ? भक्तोऽपि त्वं कथं मां पापे परलोकमहादुःखहेतौ क्षणसुखावहे नियोजयसि ? यदि त्वं धर्मपत्नीं विहास्यसि, तदा त्वां न क्षमिष्ये। मादृशः को हि तादृशं धर्मविप्लवं सहेत ? तत् वरं मृत्युः" इति उक्त्वा स राजा तं निषिषेध। उत्तमसत्त्वा हि प्राणानपि त्यजन्ति, न सत्पथम्। तथैवार्थयमानान् सर्वानपि पौरजानपदान् मिलितानपि

से छिपाते रहने पर भी उसने पूछने वाले विश्वासी मित्रों को वह पीड़ा का कारण सूचित कर दिया। "सन्ताप करना व्यर्थ है, वह तो अपने अधीन है, उसका सम्भोग क्यों नहीं करते हैं ?" यह उन लोगों के द्वारा कहे हुए उस धार्मिक राजा ने इसे स्वीकार नहीं किया।

इसके बाद बलधर नामक सेनापति ने यह जानकर राजा के पास पहुंच कर पैरों पर गिरकर स्वामी से प्रार्थना की, कि—"महाराज ! दास की पत्नी वह आप की दासी ही है, परायी स्त्री नहीं है, और मैं स्वयं दे रहा हूँ इसलिए मेरी इस पत्नी को ग्रहण करिये। अथवा मैं उसको यहीं देवमन्दिर में छोड़ देता हूँ तब उसका ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है"। इस प्रकार सेनापति के द्वारा आग्रह के साथ प्रार्थना किये जाने पर भी हृदय में क्रोध धारण करते हुए उसने उसको कहा—"मैं राजा होकर कैसे इस प्रकार का अधर्म करूँगा ? मेरे धर्म का उल्लंघन करने पर कौन अपने धर्म में रहेगा ? तुम मेरा भक्त होकर भी क्यों परलोक में महाकष्ट के कारण, क्षणभर के लिए सुख देनेवाले पाप में मुझे नियुक्त करते हो ? यदि तुम धर्मपत्नी का त्याग करोगे, तो मैं तुमको क्षमा नहीं करूँगा। मेरे समान कौन राजा उस प्रकार का धर्म विरुद्ध आचरण सहन करेगा ? तो मर जाना इससे कहीं अच्छा है" यह कहकर उस राजा ने उसको निषेध कर दिया। क्यों कि उत्तम चरित्र वाले प्राण को भी छोड़ देते हैं किन्तु सन्मार्ग को नहीं छोड़ते हैं। उसी प्रकार प्रार्थना करते हुए सभी सम्मिलित हुए पुरजनों को दृढ़सिद्धान्तवाले उस राजा

इत्थं मिथ्याजन्मान्तरक्लेशमनुभवतस्तस्य कालप्रबोधिनीं विद्यां कारुणिको गुरुरसौ प्रायुङ्क्त। स चन्द्रस्वामी जन्मान्तरगत, तद्विद्याप्रयोगेण सद्यः प्रबोधितः आत्मानं तञ्च गुरुं स्मृत्वा तच्च मायाजालमवेत्य विद्यासाध्यफलमाप्तुम् अग्निप्रवेशाय उद्यतस्तैर्निषेधद्भिर्वृद्धाप्तगुरुबन्धुभिः पर्य्यवारि। तैश्च बहुधा वार्य्यमाणोऽपि दिव्यसुखलोलुपः स सबान्धवः सज्जितचितं नदीतीरमगात्। तत्राऽऽगत्य च वृद्धौ पितरौ भार्य्यां बालापत्यानि च रुदन्ति दृष्ट्वा मोहात् पुनरचिन्तयत्,—"कष्टम्! अनलं विशतो मे सर्वे इमे स्वजना म्रियन्ते न च गुरोस्तद्वचः सत्यं वा मृषा जानामि, तत् किम् अग्निं प्रविशामि? उत गृहम्? अथवा गुरोस्तद्वचः कथं मिथ्या तादृशप्रभावशालिनः? तदग्निमेव प्रविशामि कामम्" इति पर्य्यालोच्य स चन्द्रस्वामी अग्निमेव प्राविशत्; प्रविश्य च अनुभूतहिमस्पर्शो विस्मितः वह्नेः शान्तभयः तस्मात् नदीतोयात् उत्थाय तटमवाप। तत्रोत्थाय स्थितं तं गुरुं दृष्ट्वा पादयोर्निपत्य पृच्छन्तं तम् अग्निशैत्यान्तं सर्वं वृत्तान्तमवर्णयत्।

इस प्रकार मिथ्या ही जन्मान्तर का क्लेश अनुभव करने वाले उसके लिए उस दयालु गुरु ने समय पर बोध कराने वाली विद्या का प्रयोग किया। दूसरे जन्म में रहने वाला वह चन्द्रस्वामी उसके विद्याप्रयोग से तत्काल ही प्रबोधित होकर अपना और उस गुरु का भी स्मरण करके तथा उस मायाजाल को समझकर विद्या के साध्य फल को प्राप्त करने के लिये अग्निप्रवेश करने के लिए तैयार हुआ और निषेध करते हुए निकट सम्बन्धी वृद्ध माता-पिता, भाई-बन्धुओं के द्वारा घेर लिया गया। उन लोगों के द्वारा अनेक प्रकार से निवारण किये जाने पर भी दिव्य सुख के लोभ से वह बन्धुओं के साथ बनायी हुई चिता से युक्त नदी के तट में गया। और वहाँ आकर वृद्ध माता-पिता को, पत्नी को, छोटे बच्चों को रोते हुए देखकर मोह में पड़कर फिर सोचने लगा—"अरे! दुःख की बात है कि मेरे आग में प्रवेश करने पर ये सभी स्वजन वर्ग मर जायँगे, गुरु का वह वचन सत्य होगा या झूठ होगा? यह भी नहीं जानता हूँ। तो क्या अग्नि में प्रवेश करूँ? अथवा घर में प्रवेश करूँ? अथवा उस प्रकार के प्रभावशाली गुरु का वह वचन कैसे मिथ्या होगा? तो निश्चयरूप से अग्नि में ही प्रवेश करूँ" यह विमर्श करके उस चन्द्रस्वामी ने अग्नि में ही प्रवेश किया। और प्रवेश करके अग्नि का स्पर्श बर्फ के समान अनुभव करके आश्चर्यित होकर अग्नि से भय रहित होकर उस नदी के जल से बाहर निकलकर वह तट पर पहुंचा। ऊपर आकर वहाँ बैठे हुए उस गुरु को देखकर पैरों पर गिरकर पूछने वाले उस गुरु को अग्नि की शीतलता पर्यन्त सम्पूर्ण वृत्तान्त उसने कह सुनाया।

स राजा सुदृढनिश्चयो निराचकार। ततः क्रमेण तेनैव स्मरज्वरभवो-ष्मणा अभीक्ष्णं प्रक्षीणदेहः स राजा यशोधरः यशःशेषतां प्रययौ; सेनापतिश्च प्रभोस्तथा विलयमसहिष्णुः अग्निं विवेश, अनिर्वचनीयं हि भक्तचेष्टितम्"।

इति कथामाख्याय स्कन्धस्थितो वेतालः तं पप्रच्छ,—"राजन्! एतयोः सेनापतिमहीभृतोः कोऽधिको मतः? त्वया पूर्वदत्तशापम् अनुस्मृत्य वक्तव्यम्"। राजा अवदत्—"अहं राजानमधिकं मन्ये"। तदाकर्ण्य वेतालः साक्षेपमब्रवीत्,—"राजन्! सेना-पतिः कथं नाभ्यधिकः? यः स्वामिने तथाविधां स्वभार्य्यां सुचि-रेण ज्ञाततद्भोगसुखास्वादोऽपि समुपानयत्, प्रभौ च पञ्चत्वमागते तद्भक्त्या आत्मानमग्निसादकरोच्च; राजा तु अनास्वादिततद्भोगस्तस्य भार्य्यां जहौ"।

वेतालेनैवमुक्तः स राजा विहस्य पुनरब्रवीत्,—"यद्यपि एतत्, तथाऽपि नातिचित्रं तत्, कुलपुत्रो हि सेनापतिः, स भक्त्या तथाऽकरोत्, प्राणैरपि भृत्यानां स्वामिरक्षणं व्रतम्। राजानस्तु मदाध्माता

ने लौटा दिया। तब निरन्तर उसी कामज्वर की गर्मी से क्रमशः क्षीणशरीर होकर वह राजा यशोधर यशःशेष हो गया। अर्थात् मर गया। सेनापति भी स्वामी का उस प्रकार मरण न सहन करते हुए अग्नि में प्रवेश करके गया। क्योंकि भक्तों का चरित्र अवर्णनीय होता है"।

यह कथा कहकर कन्धे पर स्थित वेताल ने उसको पूछा—"महाराज! सेनापति तथा राजा इन दोनों में कौन अधिक श्रेष्ठ है? पहले के दिये हुए शाप का स्मरण करके तुम्हें बोलना चाहिये"। राजा ने कहा—"मैं राजा को अधिक श्रेष्ठ मानता हूँ"। यह सुनकर वेताल ने आक्षेप के साथ कहा—"महाराज! सेनापति क्यों नहीं अधिक श्रेष्ठ है? उसके बहुत दिनों से सम्भोग का सुख जानते हुए भी जिसने स्वामी के लिए उस प्रकार की अपनी पत्नी को उपायन कर दिया, और राजा के मर जाने पर उसकी भक्ति से अपने को आग में जला दिया। उसके सम्भोग के सुख का स्वाद न लिये हुए ही राजा ने उसकी पत्नी का त्याग किया था"।

वेताल के द्वारा ऐसा कहे हुए उस राजा ने हँसकर फिर कहा कि—"यद्यपि ऐसा है, तथापि यह अधिक आश्चर्यजनक नहीं है। क्योंकि अच्छे खानदान का वह सेनापति रहा होगा, इसलिये उसने भक्ति से वैसा किया। अपने प्राणों के द्वारा भी स्वामी की रक्षा करना सेवकों का धर्म है। राजा

ततः स गुरुस्तमुवाच,—"वत्स मन्ये त्वया कश्चिदत्र अपचारः कृतः, अन्यथा अग्निः कथं ते शीतो जातः ? एतस्या विद्यायाः साधने एतद्धि अदृष्टम्"। तदाकर्ण्य स चन्द्रस्वामी प्रावदत्,—"भगवन्! नात्र कश्चिन्मयाऽपचारः कृतः स्मर्य्यते"। ततः स तद्गुरुः जिज्ञासुस्तां विद्यां सस्मार; न च सा तस्य वा तच्छिष्यस्य आविरभूत्। अथ तौ नष्टविद्यौ विषण्णौ ततो जग्मतुः"।

इति कथामाख्याय वेतालस्तं भूपं पप्रच्छ,—"राजन्! संशयमेतं मे छिन्धि, केन हेतुना विहितेऽपि यथोद्दिष्टे कर्मणि विद्या तयोर्नष्टा ?"। एतदाकर्ण्य स राजा तं वेतालं प्रत्यवोचत्,—"योगेश्वर! जाने, भवान् मे कालम् एवं क्षिपति, तदपि ते ब्रवीमि, दुष्करेणापि कर्मणैव पुरुषस्य न सिद्धिर्लभ्या, शुद्धेनैव कर्मणा। तत्रास्य मन्दस्य विप्रयूनश्चित्तं प्रबोधितमपि यत् विकल्पते स्म, तेनास्य विद्या सिद्धिं न गता, अस्थानदानाच्च गुरोर्विनष्टा"। इति तस्य नृपस्य वाचं निशम्य स वेतालः पुनः स्वं निलयं प्रत्यपद्यत। राजाऽपि अशिथिलयत्नः तमन्वेष्टुं धावति स्म।

तब उस गुरु ने उसको कहा—"वत्स! मालूम होता है कि तुमने इस विषय में कोई गलती की है, नहीं तो आग क्यों तुम्हारे लिए शीतल हो गयी ? इस विद्या के साधन में यही एक दुर्भाग्य है"। यह सुनकर उस चन्द्रस्वामी ने कहा—"गुरुदेव! मुझे तो कोई की हुई गलती स्मरण में नहीं आती है"। तब उसके उस गुरु ने जानने की इच्छा से उस विद्या का स्मरण किया। किन्तु न तो उसकी अथवा न उसके शिष्य की वह विद्या प्रकट हुई। इसके बाद वे दोनों विद्या नष्ट हो जाने से दुखी होकर वहाँ से चले गये"।

यह कथा कहकर वेताल ने उस राजा को पूछा—"महाराज! मेरा यह सन्देह दूर करो, कि उपदेशानुसार कर्तव्य किये जाने पर भी किस कारण से उन दोनों की विद्या नष्ट हो गयी ?"। यह सुनकर उस राजा ने उस वेताल को जवाब दिया—"हे योगेश्वर! मालूम होता है कि आप इस प्रकार मेरा समय नष्ट कर रहे हैं, लेकिन वह कारण भी आपको कहता हूँ। केवल कठिन कर्म के द्वारा ही मनुष्य को सिद्धि नहीं मिलती है, अपितु शुद्ध कर्म के द्वारा सिद्धि मिलती है। वहाँ इस मूर्ख ब्राह्मण-कुमार का मन प्रबोधित होने पर भी जो सन्देह में पड़ गया, इसी से इसकी विद्या सिद्ध नहीं हुई। और अनुचित शिष्य को विद्या देने से गुरु की भी विद्या नष्ट हो गयी"। यह उस राजा का वचन सुनकर वह वेताल फिर अपने निवास-स्थान पर चला गया। दृढ़प्रयत्न वाला वह राजा भी उसको खोजने के लिये दौड़ता हुआ गया।

गजा इव निरङ्कुशा विषयोन्मुखा धर्ममर्य्यादाशृङ्खलां छिन्दन्ति । तेषां हि उद्रिक्तचित्तानाम् अभिषेकाम्बुभिः समं विवेको विगलति । चलच्चामरमारुतैरुद्धूय तेषां वृद्धोपदिष्टशास्त्रार्थरजांसि उत्क्षिप्यन्त इव । आतपत्रेण च सत्यं सूर्य्यालोक इव निवर्त्त्यते । विभूतिवात्यया चोपहता दृष्टिः मार्गं नेक्षते । जगद्विजयिनोऽपि ते ते नहुषादयो राजानः मारमोहितचेतसः तां तां विपदं प्राप्तवन्तः । एष राजा पृथिव्याम् एकच्छत्रोऽपि यत्तया उन्मादिन्या चपलया लक्ष्म्या इव विमोहितोऽपि प्राणानपि तत्याज, न पुनः असार्गे पदं निदधे, तेनासौ वीरः मे अधिको मतः" ।

इत्याकर्ण्य नृपतेर्वाक्यं स वेतालः स्कन्धवर्त्ती पुनः स्वमेव पदं मायया प्रायात् । राजाऽपि अचलचित्तस्तं तथैवानुससार ; आरब्धे सुदुष्करेऽपि महतां मध्ये विरामः कुत एव इति ।

लोग तो हाथी के समान मद से भरे तथा निरङ्कुश होते हुए विषयभोग में लीन रहकर धर्म के मर्यादा-बन्धन को तोड़ डालते हैं । उन उद्धत मनवालों का विवेक राज्याभिषेक के जल के साथ ही गलकर बह जाता है । डुलाये गये चामरों की हवा से उड़ाकर उनके वृद्धों के उपदेश दिये हुए शास्त्रों के अर्थरूपी धूलियाँ मानो विखेर दी जाती हैं । छाते के द्वारा सूर्य के प्रकाश के समान सच्चाई रोक ली जाती है । ऐश्वर्य के बवण्डर से उपरुद्ध हुई दृष्टि मार्ग का अवलोकन नहीं करती है । तीनों भुवनों के विजयी होने पर भी वे प्रसिद्ध नहुष आदि राजा लोग काम से मोहित होकर उन-उन विपत्तियों को प्राप्त किये । इस राजा ने तो पृथिवी में एकछत्र राजा होकर भी जो कि चञ्चल लक्ष्मी के समान उस उन्मादिनी के द्वारा विमोहित होकर भी प्राणों को भी त्याग दिया किन्तु कुमार्ग में पैर नहीं रक्खा । इसी कारण से वह वीर मेरी समझ में अधिक श्रेष्ठ है" ।

राजा का यह वचन सुनकर कन्धे पर स्थित वह वेताल फिर माया के द्वारा अपने स्थान पर चला गया । स्थिरमन वाले उस राजा ने भी उसका उसी प्रकार अनुसरण किया । प्रारम्भ किया हुआ कार्य दुष्कर होने पर भी महान व्यक्तियों का बीच में रुकना सम्भव नहीं है ।

——

अथ एकोनविंशकथा ।

अथ राजा पुनः शिंशपातलं गत्वा वेतालं स्कन्धे आरोप्य तथैव प्रातिष्ठत, वेतालोऽपि तं गच्छन्तं न्यगादीत्,—"राजन्! अपरां हृद्यां कथां ते आख्यामि, श्रूयताम्,—

अस्ति वक्रोलकं नाम सुरपुरोपमं पुरम्। तस्मिन् सूर्य्यप्रभो नाम इन्द्रसमः भूपतिरासीत्, यः सौकर्य्योद्यतया मूर्त्या दत्तानन्दो हरिरिव वसुन्धरामिमां समुद्धृत्य चिरं भुजे बभार। अस्य च प्रभोः धूमासङ्गेषु अश्रुपातः, शृङ्गारे मारसंलापः, द्वाःस्थेषु हेमदण्डाः राष्ट्रेषु आसन्। इत्थं सर्वसम्पदाधारस्य तस्यैका अनिर्वृतिरासीत् यत् अन्तःपुरिकासु स्थितास्वपि पुत्रो नोदपद्यत।

उन्नीसवीं कथा—

इसके बाद राजा फिर शीशम के नीचे जाकर वेताल को कन्धे पर उठाकर उसी प्रकार चल दिया। वेताल भी जाते हुए उसको कहने लगा—"महाराज! दूसरी एक मनोहर कहानी तुमको कहता हूँ, सुनो—

स्वर्गलोक के समान वक्रोलक नाम का एक नगर है। उसमें इन्द्र के समान सूर्यप्रभ नाम का एक राजा था। जैसे सूकर-सम्बन्धी स्वरूप से उद्यत होकर लोगों को आनन्द देते हुए विष्णु भगवान् इस पृथ्वी को बहुत दिनों तक उठाये थे, उसी प्रकार जो लोगों को सुविधा देने के लिये उद्यत स्वरूप से आनन्द देते हुए इस पृथ्वी को शत्रुओं से उद्धार करके बहुत दिनों से अपनी भुजा पर धारण किये हुए था। इस राजा के राज्य में धूआँ लगने से लोगों के आँसू गिरते थे, अन्य कारण से किसी के आँसू नहीं गिरते थे। सम्भोग में मार (काम) सम्बन्धी बातचीत होती थी अन्य किसी स्थान में किसी के मारने की बातचीत नहीं होती थी। द्वारपालों के पास सुवर्णदण्ड (सोने की लाठी) होता था, अन्य किसी को सुवर्णदण्ड (सोने का जुर्माना) नहीं होता था। इस प्रकार सभी सम्पत्तियों का आश्रय होते हुए भी उसकी अशान्ति का एक कारण था, जो कि अनेक रानियों के रहते हुए भी कोई पुत्र नहीं उत्पन्न हुआ था।

अथ अष्टादशकथा।

ततः स राजा क्रव्याद्भिः परिवृते, ज्वालाविलोलरसनैर्भूतैरिव चिताग्निभिः समन्तादतिरौद्रे तस्मिन् पितृवने तस्यां क्षपायां तं शिंशपातरुमुपेत्य तत्र वेतालविकृतान् सदृशाकृतीन् तस्मिन् तरौ लम्बमानान् सुबहून् प्रेतकायान् अशङ्कितमद्राक्षीत्,—"अहो! किमेतत्? किंवा अयं मायी वेतालो मे कालं क्षिपति, यया इह भूयसाम् एषां कं ग्राह्यं न वेद्मि। यदि असिद्धार्थस्य मे रात्रिरियं गच्छति, ततोऽहं वह्निं प्रवेक्ष्यामि, न तु हास्यतां सहिष्ये" इति चिन्तयतस्तस्य राज्ञो निश्चयं ज्ञात्वा सत्त्वतुष्टः स वेतालः तां मायां संजहार। ततोऽसौ एकमेव नरकलेवरे स्थितं वेतालं दृष्ट्वा तथैवावतार्य्य अंसेन गृहीत्वा पुनः प्रतस्थे। प्रस्थितञ्च तं स वेतालः प्राब्रवीत्,—"राजन् न विरज्यसि चेत्, तदिमां कथां कथयामि, शृणु—

अस्ति गौर्य्या तपसा परितुष्टव्रतेन शम्भुना असामान्यगुणोत्कर्षलुब्धेनेव स्वयं निर्मिता भोगवत्यमरावत्योस्तृतीया उज्जयिनी नाम

अठरहवीं कथा—

तब उस राजा ने मांसाहारी जन्तुओं से भरे हुए, ज्वाला के सदृश लपलपाती हुई जीभ वाले भूतों के समान ज्वालारूपी लपलपाती हुई जीभ वाले चिताग्नियों से चारों तरफ अत्यन्त भयङ्कर उस श्मशान में उस रात में उस शीसम के पेड़ के पास निःशङ्क मन से जाकर वहाँ वेताल के मायानिर्मित उसके समान आकार वाले उस पेड़ पर लटके हुए बहुतों प्रेत-शरीरों को देखा—'अरे! यह क्या? क्या यह मायावी वेताल मेरा समय नष्ट कर रहा है? जिससे इन बहुतों में से किसको ग्रहण करूँ? यह नहीं समझ रहा हूँ। यदि मुझ असफल की यह रात बीत जायगी, तो मैं आग में प्रवेश करूँगा, उपहास को नहीं सहूँगा"। यह सोचने वाले उस राजा का सिद्धान्त जानकर उसके साहस से सन्तुष्ट होकर उस वेताल ने उस माया को हटा दिया। तब वह मनुष्य शरीर में स्थित एक ही वेताल को देखकर उसी प्रकार उतार कर कन्धे पर उठाकर फिर चल दिया। जाते हुए उसको उस वेताल ने कहा—"हे महाराज! यदि तुम ऊब नहीं गये हो, तो यह कथा कहता हूँ, सुनो—

पार्वती जी की तपस्या से सन्तुष्ट होकर वरण किये हुए शंकर जी के द्वारा विशेष गुणों के उत्कर्ष के लिए लुभाए हुए होकर ही मानों

अत्रान्तरे ताम्रलिप्त्यां पुरि धनपालो नाम धनवतामग्रणीर्महावणिक् प्रतिवसति स्म। तस्य धनवती नाम एका कन्या विद्याधरीव शापात् सुरलोकाद्विच्युता समजनि। तस्यां यौवनस्थायां स वणिक् पञ्चतामवाप। तद्धनं सर्वं राजसाहाय्यात् तद्गोत्रजैराक्रान्तम्। ततो हिरण्यवती नाम तस्य वणिजो गेहिनी अप्रकटस्थितानि रत्नाभरणानि गृहीत्वा तया दुहित्रा धनवत्या साकं दायादभयात् पलाय्य गुप्तं निशि गृहात् निर्ययौ। सा वहिरन्तश्च ध्वान्तेनान्धकारिता सुताहस्तावलम्बिनी कृच्छ्रात् पुरात् बहिः प्रायात्।

तत्र सन्तमसे यान्ती विधियोगात् अलक्षितं शूलाग्रारोपितस्थितं चौरम् अंसेन अताडयत्। स चौरः, मम जीवः त्वदंसाग्रघट्टनया अधिकपीडितः, हा! क्षते क्षारमेतन्मे केन दत्तम्?" इत्यभाषत। ततः सा वणिग्वधूः,—"कोऽसि?" इति भयात् पप्रच्छ। ताञ्च चौरः प्रत्युवाच,—"अहं चौरः—इति सूचितः, अद्यापि शूले स्थितस्यापि पापस्य मे असवः नोत्क्रामन्ति। भवतु आर्य्ये! ब्रूहि मे, का त्वम्? क्व च

इसी समय में ताम्रलिप्ति नाम की नगरी में धनियों में अग्रेसर धनपाल नाम का महाव्यापारी निवास करता था। उसकी किसी के शाप से स्वर्ग से गिरी हुई अप्सरा के समान एक कन्या हुई। उसे युवती होने पर वह बनियाँ मर गया। उसके सम्पूर्ण धन के ऊपर राजा की सहायता से उसके बान्धवों ने अधिकार कर लिया। तब हिरण्यवती नाम की उस बनिये की पत्नी गुप्तरूप से रखे हुए रत्नाभूषणों को लेकर उस धनवती पुत्री के साथ दायादों के डर से भागकर रात में छिपकर घर से निकल गई। बाहर में और हृदय में भी अन्धकार से भरी हुई वह पकड़े हुए पुत्री के हाथ के अवलम्ब से बहुत कठिनाई से नगर से बाहर हुई।

वहाँ घोर अन्धकार में जाती हुई उसने दैवयोग से शूल। के अग्रभाग पर चढ़ाकर रक्खे हुए तथा अन्धकार के कारण नहीं दिखाई देते हुए चोर को कन्धे से धक्का दे दिया। तब उस चोर ने—"मेरे प्राणों को तुम्हारे कन्धे के धक्के से अधिक पीड़ा हो रही है, हाय! मेरे कटे हुए घाव पर किसने नमक छिड़का है?" यह कहा। तब उस बनिये की पत्नी ने—"तुम कौन हो?" यह भयभीत होकर पूछा। और उस चोर ने उसको जवाब दिया—"इस प्रकार बींधा हुआ मैं चोर हूँ, शूल पर स्थित रहते हुए भी मुझ पापी के प्राण अभी भी नहीं निकल रहे हैं। जो कुछ होवे, श्रीमती जी! मुझे कहो कि तुम कौन हो? और कहाँ जाती हो?" यह सुनकर उस वणिक्पत्नी ने अपना

पुरी। यस्याम् उदारसुकृतिनः नानाभोगेन उपबृंहिताः स्वर्गमपि न कामयन्ते; यस्यां वरयोषितां कुचेषु कार्कश्यं, लोचनेषु चापलं, भ्रूषु भङ्गिः। यस्याञ्च निशासु तमः, कविवक्रोक्तिषु वक्रत्वं, दन्तिषु मदः, मुक्ताचन्दनशशाङ्केषु जाड्यमासीत्। तस्याञ्च चन्द्रप्रभो नाम राजा अभवत् देवस्वामीति विश्रुतो बहुधनसम्पन्नः बहुयज्ञः बहुश्रुतश्च कश्चिद्विप्रः तस्य अमात्य आसीत्। तस्य तनयश्चन्द्रस्वामी नाम कदाचित् कामपि विक्षिप्तैः कृष्णसाराभैर्नेत्रैरिवाक्षैर्निरन्तरम् 'अत्र कम् आश्लिष्यामः' इति विपद्भिरिव वीक्षितां, कोऽसौ अस्ति, यस्य अलकापतेरपि श्रियं न हरामि' इति द्यूतकृतां कलहस्वनैरुच्चैर्वदन्तीमिव द्यूतकारमहागोष्ठीं द्यूतेन क्रीडितुं ययौ।

तां प्रविश्य स क्रमात् तैः कितवैरक्षैर्दीव्यन् वस्त्रादिकं हारयित्वाऽपि अन्यत् धनमहारयत्। यदा तु तद्धनं तैर्याच्यमानं नादात्, तदा सभि-

---

स्वयं बनायी हुई भोगवती और अमरावती की तीसरी उज्जयिनी नाम की पुरी है। जिसमें उदार स्वभाव के पुण्याचरण करनेवाले अनेक उपभोगों से समृद्ध होकर स्वर्ग भी नहीं चाहते हैं। जिसमें श्रेष्ठ युवतियों के स्तन में कठोरता थी, अन्यत्र नहीं; उनकी आँखों में चंचलता थी, दूसरी जगह नहीं। उनकी भ्रुवों में कुटिलता थी और जगह कहीं कुटिलता नहीं थी। जिस नगरी में रात में अन्धकार रहता था, लोगों के मन में अज्ञान नहीं था। कवियों के वक्रोक्ति अलङ्कार में टेढ़े वचन होते थे, और जगह कही टेढ़ा वचन नहीं था। हाथियों में मद होता था अन्य लोगों में कहीं मद नहीं था। मोती, चन्दन तथा चन्द्रमा में जड़ता अर्थात् शीतलता थी और जगह कहीं जड़ता अर्थात् मूर्खता नहीं थी। उस नगरी में चन्द्रप्रभ नाम का राजा था। कोई बहुत प्रसिद्ध, बहुत बड़ा धनी, बहुत यज्ञ करनेवाला, बहुत शास्त्र जाननेवाला देवस्वामी नाम का ब्राह्मण उसका मन्त्री था। चन्द्रस्वामी नामक उसका पुत्र किसी समय इधर उधर फेंके हुए, प्रधानतया काली कान्ति वाले नेत्रों के समान पाशकों से लगातार 'यहाँ किसको पकड़ूँ' इस प्रकार विपत्तियों के द्वारा मानो देखी हुइ, 'वह कौन है ! जिस अलकापति की भी सम्पत्ति मैं हरण न कर लूं !" इस प्रकार जूआ के कलह-शब्दों से मानो उच्च स्वर से बोलती हुई, जूआ खेलने वालों की महागोष्ठी में जूआ खेलने के लिये गया।

उस सभा में प्रवेश करके वह उन धूर्तों से जूआ खेलता हुआ क्रमशः वस्त्र आदि हारकर भी मौखिक पण करके अन्य धन भी हार गया। जब कि उनके द्वारा वह धन मांगे जाने पर उसने नहीं दिया, तब वह द्यूतक्रीड़ा के

प्रयासि ?" इति। तदाकर्ण्य सा वणिक्पत्नी सर्वं स्वोदन्तं तमाह स्म, तावच्च भगवान् श्वेतभानुः प्राचीमुखमुदभासयत्। ततो दिक्षु प्रकाशासु स चौरस्तां वणिक्सुतां धनवतीं दृष्ट्वा तां तन्मातरमुवाच,—"आर्य्ये! शृणु मे एकां प्रार्थनां, काञ्चनसहस्रं ते दास्यामि, त्वमिमां ते सुतां मह्यं देहि"। "किमेतया दत्तया ते ?" इति सस्मितं तया अभिहितः स चौरः पुनरब्रवीत्,—"नास्ति मे गतायुषः पुत्रः, न चापुत्रो लोकानश्नुते, तदेषा मदाज्ञया कुतश्चित् पुत्रं जनयेत्, स मे क्षेत्रजः पुत्रो भविता, इत्यहमेतां प्रार्थये, तन्मे मातः! सफलयाभीप्सितम्"। तदाकर्ण्य सा वणिग्योषित् लोभात्,—"तथा" इति प्रतिपद्य कुतोऽपि सलिलमानीय चौरस्य तस्य पाणौ,—"सुतेयं मे तुभ्यं दत्ता" इति अपातयत्।

अथ स तद्दुहितरि यथोक्तामाज्ञां दत्त्वा तां वणिग्योषितमवादीत्,—"गच्छ मातः! अमुष्य वटस्य अधः खनित्वा तन्मे रक्षितं स्वर्णसहस्रं गृहाण। गतासोश्च मे देहं युक्त्या दाहयित्वा, अस्थीनि तीर्थे निक्षिप्य च, ससुता वक्रोलकं पुरं व्रज, तत्र सूर्य्यप्रभे राजनि

सम्पूर्ण वृत्तान्त उसे कह सुनाया। तब तक भगवान् सूर्य ने पूरब दिशा का मुख प्रकाशित कर दिया। तब दिशाओं के प्रकाशित हो जाने पर उस चोर ने वणिक्पुत्री उस धनवती को देखकर उसकी-उस माता को कहा—"श्रीमती जी! मेरी एक प्रार्थना सुनो, तुम्हें एक हजार अशर्फी दूँगा, तुम अपनी यह पुत्री मुझे दे दो"। उसके द्वारा हँसकर "इसके देने से तुम्हारा लाभ होगा ?" यह कहे जाने पर उस चोर ने फिर कहा—"मुझ आयुहीन का कोई पुत्र नहीं है, अपुत्र होने से कोई स्वर्गादि लोक नहीं प्राप्त कर सकता है, तो यह मेरी आज्ञा से किसी के द्वारा पुत्र उत्पन्न करेगी, वह मेरा क्षेत्रज पुत्र होगा, यह मैं इससे प्रार्थना करता हूँ। तो हे माता जी! मेरी यह अभिलाषा सफल करो"। यह सुनकर उस वणिक्पत्नी ने धन के लोभ से "वैसा ही करूँगी" इस प्रकार स्वीकार करके कहीं से जल लाकर उस चोर के हाथ में—"मैंने यह अपनी लड़की तुम्हें दे दी" यह कहकर जल डाल दिया।

इसके बाद उसने उसकी पुत्री को ऊपर कही हुई आज्ञा देकर उस वणिक्पत्नी को कहा—"माता जी! जाओ, उस बरगद के पेड़ के नीचे खोदकर मेरी रक्खी हुई एक हजार सोने की अशर्फियाँ ले लो। मरने पर मेरा शरीर किसी युक्ति से जलाकर और अस्थियों को किसी तीर्थ में फेंककर अपनी पुत्री के साथ वक्रोलक नाम के नगर में जाना, वहाँ सूर्यप्रभ नाम के राजा के

केन सोऽवष्टभ्य लगुडैः अताड्यत। लगुडाहतसर्वाङ्गः स विप्रसुतः पाषाणमिव निश्चलम् आत्मानं मृतमिव कृत्वा तस्थौ। तथैव च द्वित्रान् दिवसान् तस्मिन् तत्र अवस्थिते, क्रूरः स सभिकः तान् कितवान् अभाषत,—"अनेन पाषाणकं श्रितं, तदेनं क्वचित् अन्धकूपे नीत्वा क्षिपत, अहं युष्माकम् एतद्देयं धनं दास्यामि"। इति तेनोक्ताः कितवास्तं चन्द्रस्वामिनम् उत्क्षिप्य कूपगवेषिणः दूरम् अरण्यं निन्युः। तत्राऽऽगत्य कश्चित् वृद्धः कितवस्तान् अन्यान् एवमब्रवीत्,—"अयं तावत् प्रायशो मृतः, तत् किमनेनाधुना कूपे क्षिप्तेन? तदिहैव एन-मुज्झित्वा गत्वा कूपे उज्झितं वक्ष्यामः"। इति तस्य वचस्ते सर्वे "तथा" इति प्रतिपद्य तथैव तं त्यक्त्वा गताः।

अथ गतेषु तेषु कितवेषु स चन्द्रस्वामी समुत्थितः तत्र शून्यमेकं शिवमन्दिरं विवेश। तत्र किञ्चित् समाश्वस्य सुदुःखितश्चिन्तयामास,—"हा कष्टं! विश्वस्तोऽहं धूर्त्तैः कितवैः मायया मुषितः तदीदृशः नग्नः पांशुधूसराङ्गः क्व यामि? पिता बन्धुः सुहृद्वाऽपि दृष्ट्वा किं मां

अध्यक्ष के द्वारा आक्रमण करके डण्डों से पिटवाया गया। वह ब्राह्मण-कुमार डण्डों से सम्पूर्ण अङ्गों में ताड़ित होकर अपने को पत्थर के समान निश्चल मरे हुए के स्वरूप में बनाकर रह गया। दो-तीन दिनों तक वहाँ उसके उसी प्रकार रहने पर उस क्रूर द्यूताध्यक्ष ने उन धूर्तों को कहा—'इसने पत्थर का स्वभाव धारण कर लिया है, इसलिये इसको ले जाकर कहीं अन्धकूप में फेंक दो, मैं इसका दातव्य धन तुम लोगों को दे दूँगा'। इस प्रकार उसके द्वारा कहे हुए धूर्त लोग उस चन्द्रस्वामी को उठाकर कूआँ खोजते हुए जङ्गल में दूर ले गये। वहाँ आकर किसी वृद्ध धूर्त ने उन अन्य धूर्तों को इस प्रकार कहने लगा—"यह तो प्रायः मर गया है, इसलिये अब इसको कूएँ मे फेंकने से क्या फायदा? तो यहीं पर इसको फेंक कर वहाँ जाकर 'कूएँ में फेंक दिया गया' यह कह देंगे"। यह उसका वचन 'वैसा ही करूँगा' इस रूप में स्वीकार करके वे लोग उसी प्रकार उसको छोड़ कर चले गये।

इसके बाद उन धूर्तों के चले जाने पर वह चन्द्रस्वामी उठ कर वहाँ एक शून्य शिवमन्दिर में घुस गया। वहाँ कुछ होश में आकर अत्यन्त दुखी होकर सोचने लगा—"अरे! कष्ट है, मैं इन धूर्त ठगों के द्वारा विश्वास प्राप्त करके छल के द्वारा लूटा गया। तो इस प्रकार नङ्गा तथा धूली से धूसरित अङ्ग होकर कहाँ जाऊँ? पिता, बान्धव तथा मित्र मुझे देखकर क्या कहेंगे?

सौराज्यसुखिते जने निरुपद्रवनिश्चिन्ता यथेच्छं स्थास्यसि" इत्युक्त्वा तृषितः तयोपाहृतं जलं पीत्वा शूलव्यथया समुत्क्रान्तजीवितः समभवत्। ततः सा वणिक्पत्नी गत्वा तस्मात् वटवृक्षतलात् स्वर्णं गृहीत्वा ससुता सुगुप्तं भर्त्तुः सुहृदो गृहमगात्। तत्र स्थित्वा च युक्त्या तच्चौरकलेवरं दाहयित्वा तदस्थीनि च तीर्थेषु क्षेपयामास।

अथान्येद्युर्गृहीतगुप्तार्था ससुता प्रयान्ती क्रमेण वक्रोलकं पुरम् आससाद। तत्र वसुदत्तनाम्नो वणिजः सकाशात् गृहमेकं क्रीत्वा तया धनवत्या सुतया सह तस्मिन्नुवास। तस्मिंश्चावसरे विष्णुस्वामीति कश्चित् उपाध्यायस्तत्र वसति स्म; तस्य मनःस्वामी नाम अतिरूपवान् कश्चित् विप्रः शिष्योऽभवत्। स विद्याभिजनसम्पन्नोऽपि यौवनमत्तः तत्रत्यां हंसावलीं नाम विलासिनीं चकमे। सा च सौवर्णदीनारशतपञ्चकं भाटिम् अन्वहमग्रहीत्, तावन्ति च धनानि अप्राप्य असौ विप्रयुवा नितरां क्षामवपुश्चिन्ताऽऽकुलोऽभवत्। एकदा सा वणिक्सुता हर्म्यस्था तादृशं क्षामकलेवरमपि अभिरामं तं युवानं दृष्ट्वा तद्रूपेणाऽऽकृष्टचित्ता भर्त्तुश्चौरस्य आदेशं स्मरन्ती मातरमुवाच,—"अम्ब!

रहने से सुन्दर राज्यव्यवस्था के कारण सुखी लोगों में उपद्रव न होने के कारण निश्चिन्त होकर अपनी इच्छा के अनुसार रहोगी"। यह कहने पर प्यास लग गयी, फिर उसके द्वारा दिया हुआ जल पीकर शूल की पीड़ा से वह मर गया। तब वह वणिक्पत्नी जाकर उस बरगद के नीचे से अशर्फियों को लेकर पुत्री के साथ छिपकर अपने पति के किसी मित्र के घर गयी। और उसने वहाँ रहकर किसी युक्ति से उस चोर का शरीर जलाकर उसकी अस्थियाँ तीर्थों में फेंकवा दिया।

इसके बाद गुप्तरूप से धन लेकर पुत्री के साथ जाती हुई क्रमशः वक्रोलक नगर में पहुँची। वहाँ वसुदत्त नामक बनिये से एक घर खरीद कर उस धनवती पुत्री के साथ उसमें रहने लगी। उन्हीं दिनों में विष्णुस्वामी नाम के कोई अध्यापक उस नगर में रहते थे, उनका मनःस्वामी नाम का कोई अत्यन्त सुन्दर ब्राह्मण शिष्य था। ऊँचे कुलका तथा विद्वान् होने पर भी जवानी से उन्मत्त होकर वह वहाँ की रहने वाली हंसावली नाम की किसी वेश्या से सम्भोग करता था, और वह सोने की पाँच सौ अशर्फियाँ प्रतिदिन शुल्क लेती थी। उतना धन न प्राप्त करके वह ब्राह्मण-युवक अत्यन्त क्षीणशरीर होकर चिन्ता से व्याकुल हो गया। एक बार कोठे पर बैठी हुई उस वणिक्पुत्री ने उस प्रकार दुबला शरीर होने पर भी उस सुन्दर युवक को देखकर उसके सौन्दर्य से आकृष्टमन होकर अपने पति चोरका आदेश स्मरण

वदेत् ? तदिहैव साम्प्रतं स्थितोऽस्मि, नक्तञ्च क्षुत्प्रशान्तये निर्गत्य कथमपि भोजनं प्रति यतिष्ये" इत्यालोचयतस्तस्य क्लान्तस्य दिगम्बरस्य मन्दीकृताऽऽतपो रविस्त्यक्ताम्बरः अस्ताचलमगात्। तावच्च भूतिलिप्ताङ्गः महाव्रती शूलधरो हर इवापरः कश्चित्तापसः तत्राऽऽजगाम। स चन्द्रस्वामिनं दृष्ट्वा,—"कोऽसि ?" इति पृष्ट्वा, तस्मात् वृत्तान्तं श्रुत्वा च प्रणतं तमवादीत्,—"भद्र ! त्वं ममाऽऽश्रमं प्राप्तः क्षुत्क्लान्तोऽतिथिः, तदुत्तिष्ठ, कृतस्नानो मम भिक्षाभागमाहर"। इति तेनोक्तश्चन्द्रस्वामी तमब्रवीत्,—"भगवन् ! विप्रोऽहं कथं तव भिक्षाभागं भोक्ष्ये ?"। तदाकर्ण्य सः सिद्धस्तापसः निजां मठिकां प्रविश्य अतिथिवात्सल्येन इष्टसम्पादिनीं विद्यां सस्मार। स्मृतोपस्थिताञ्च तां, "किं करोमि ?" इतिवादिनीम्,—"अमुष्य अतिथेरातिथ्यं कुरुष्व" इति शशास।

तया "तथा" इत्युक्ते, सहसा तत्र सोपवनम् अङ्गनाजनसहितं सौवर्णं पुरमुत्पन्नं स चन्द्रस्वामी ददर्श। विस्मितं तञ्चाभ्येत्य तस्मात्

तो इस समय मैं यहीं रहता हूँ, और रात में निकल कर भूख शान्त करने के लिये भोजन के विषय में प्रयत्न करूँगा" थके हुए तथा नंगा रहकर उसके ऐसा सोचते रहने पर धूप कम करके अम्बर (आकाश) त्याग करके सूर्य भगवान् अस्ताचल पर पहुँच गये। उसी समय शरीर में भस्म लेपे हुए, बहुत बड़े नियमी त्रिशूल धारण किये हुए द्वितीय शङ्करजी के सदृश कोई तपस्वी वहाँ आये। उसने चन्द्रस्वामी को देखकर "तुम कौन हो ?" यह पूछ कर और उससे उसका समाचार सुनकर प्रणाम करते हुए उसको कहा—"महाशय ! तुम मेरे आश्रम में पहुँचे हो, भूख से पीड़ित अतिथि हो, तो उठो, स्नान करके मेरी भिक्षा का भाग ग्रहण करो"। उसके द्वारा ऐसा कहे जाने पर उस चन्द्रस्वामी ने उसको कहा—"महाशय ! मैं ब्राह्मण हूँ, कैसे तुम्हारी भिक्षा का भाग खाऊँगा ?" यह सुनकर उस सिद्ध तपस्वी ने अपनी कुटी में प्रवेश करके अतिथि के प्रेम से अभिलषित सिद्ध करने वाली विद्या का स्मरण किया, और स्मरण करते ही उपस्थित होने वाली तथा "क्या करूँ ?" यह कहने वाली उस अभिलषित सिद्ध करने वाली विद्या को "इस अतिथि का अतिथि-सत्कार करो" यह आदेश दिया।

उसके द्वारा "वैसा ही करूँगी" यह कहने पर एकाएक वहाँ उत्पन्न हुए उद्यानों से संयुक्त, स्त्रियों से भरे हुए सोने के नगर को उस चन्द्रस्वामी ने देखा। उस नगर से सुन्दरियाँ निकल कर उस आश्चर्यित चन्द्रस्वामी के पास जाकर—"महाशय ! उठो, आओ, स्नान करो, भोजन करो हमारो

विप्रसुतस्यास्य रूपयौवने विश्वस्य नयनामृतवर्षिणी पश्य"। एतदाकर्ण्य तस्मिन् बद्धभावां तामवेत्य सा वणिक्पत्नी व्यचिन्तयत्,—"दुहित्रा मे भर्त्तुराज्ञया कश्चित् सुतार्थं वरणीयः, तस्मादेष एव किं नाभ्यर्थ्यते ?" इत्यालोच्य कामपि चेटीं तमानेतुं व्यसृजत्। सा च चेटी विजने गत्वा तस्मै तत्सन्देशं शशंस। स च द्विजयुवा व्यसनी तदाकर्ण्य तामभाषत,—"यदि हंसावलीहेतोः दीनारशतपञ्चकं मह्यं दीयते, तदा एकां यामिनीं गच्छामि"। इति तेनोक्तया चेट्या आगत्य तथैवोक्ता वणिक्स्त्री तस्या हस्तेन तस्मै तद्धनं प्राहिणोत्। तदादाय मनःस्वामी तस्या दुहितुरावासं ययौ, आगत्य च स चकोर इव ज्योत्स्नां तां ददर्श ननन्द च। तया समं सम्भोगलीलया तां रात्रिं नीत्वा प्रातः सुगुप्तं निर्गत्य यथाऽऽगतमगात्। साऽपि वणिक्सुता तस्मात् सगर्भाऽभूत्।

अथ कालेन सा सुलक्षणं पुत्रमसूत। तां सुतोत्पत्त्या परितुष्टां समातृकां निशि हरः स्वप्ने प्रदर्शितवपुरादिदेश,—"हेमसहस्रेण युक्तम्

करती हुई माता को कहा—"माता जी ! इस ब्राह्मण-कुमार के संसारवालों की आँखों में अमृत बरसाने वाले रूप और यौवन देखो"। यह सुनकर उसके ऊपर उसे अनुरक्त जानकर उस वणिक्पत्नी ने सोचा कि—"मेरी पुत्री पति की आज्ञा के अनुसार पुत्र उत्पन्न करने के लिये किसी का वरण करेगी ही, तो इसी से क्यों न प्रार्थना की जाय ?" यह सोचकर किसी दासी को उसको बुलाने के लिए उसने भेजा। उस दासी ने निर्जन स्थान में जाकर उसको उसका सन्देशा कहा। और उस व्यभिचारी ब्राह्मण-युवक ने उसको कहा कि—"यदि हंसावली के लिए पाँच सौ अशर्फियाँ मुझे मिले, तो मैं एक रात के लिए उसके पास जाऊँगा" यह उसके कहने पर दासी के द्वारा आकर उसी प्रकार कही हुई उस वणिक्पत्नी ने उसी के हाथ से उसके लिए उतना धन भेज दिया। उसे लेकर मनःस्वामी उसकी पुत्री के निवास स्थान पर गया, और आकर उसने जैसे चकोर चान्दनी को देखता है उसी प्रकार उसे देखा और आनन्दित हुआ। उसके साथ सम्भोग क्रीड़ा करते हुए उस रात को बिताकर प्रातःकाल गुप्त रूप से निकल कर जिस प्रकार आया था उसी प्रकार चला गया। वह वणिक्पुत्री भी उससे गर्भवती हो गयी।

इसके बाद उसने उचित समय पर सभी सुलक्षणों से युक्त पुत्र उत्पन्न किया। पुत्र की उत्पत्ति से अत्यन्त प्रसन्न होने वाली, माता-सहित उस वणिक्पुत्री को रात में सपने में प्रकट होकर शङ्कर जी ने आदेश दिया कि—

पुरात् विलासिन्यः,—"भद्र ! उत्तिष्ठ, एहि, स्नाहि, भुङ्क्ष्व, भज नः स्वामिनीम्" इति उक्त्वा अभ्यन्तरं नीत्वा स्नापयित्वा अनुलिप्य परिधाप्य च अन्यत् वासमन्दिरं निन्युः। तत्र च प्रविश्य स युवा एकां सर्वाङ्गसुन्दरीं धात्रा कौतुकादिव निर्मितां कामपि वरारोहां ददर्श ; तया च समुत्थाय अर्द्धासनोपवेशितः दिव्यमाहारं विविधानि फलानि भुक्त्वा गृहीतताम्बूलः पर्य्यङ्कशय्यायां तत्सम्भोगसुखेन निशाम् अनयत्। प्रातः प्रबुद्धश्च तत्र तमेव शिवाऽऽलयं ददर्श, न तां दिव्याङ्गनां, नापि पुरं तत् तथाविधपरिच्छदयुतम्। ततः स समुद्विग्नो निर्गत्य मठिकायां स्मिताननं पृष्टरात्रिवृत्तान्तं तं तापसं व्यजिज्ञपत्,—"भगवन् ! त्वत्प्रसादात् रजन्यामहं सुखमुषितः, किन्तु तया दिव्याङ्गनया विना मे प्राणा यास्यन्ति" इति। तदाकर्ण्य स तापसो हसन्नब्रवीत्,—"इहैव तिष्ठ, पुनर्नक्तं तथैव ते सुखं भविष्यति"।

इति तेन व्रतिना अभिहिते स चन्द्रस्वामी तस्य तापसस्य प्रसादात् प्रतिरूपं तान् तान् भोगान् अभुङ्क्त! शनैश्च तस्य तं विद्याप्रभावं विदित्वा विधिचोदितः स चन्द्रस्वामी तं तापसं प्रसाद्य एकदा

स्वामिनी का भोग करो" यह कहकर अन्दर ले जाकर स्नान कराकर सुगंधित अनुलेपन करके सुन्दर वस्त्र पहना कर दूसरे निवास-गृह में ले गयीं। वहाँ प्रवेश करके उस युवक ने विधाता के द्वारा मानों कौतुकवश बनायी हुई किसी एक सर्वाङ्ग-सुन्दरी युवती को देखा। उसके द्वारा उठकर आधे आसन पर बैठाया हुआ सुन्दर भोज्य पदार्थ तथा अनेक प्रकार के फल खाकर पान ग्रहण करके पलङ्ग की शय्या पर उसके सम्भोग के सुख से उस युवक ने रात बितायी। और प्रातःकाल जाग कर उसने वहाँ वही शिवालय देखा न तो उस दिव्य सुन्दरी को और न उस प्रकार की सामग्रियों से भरे हुए उस पुर को देखा। तब व्याकुल होकर उसने निकल कर कुटिया में मुस्कुराते हुए तथा रात्रि का वृत्तान्त पूछते हुए उस तपस्वी को निवेदन किया—"महाशय ! तुम्हारे प्रभाव से रात में मैंने सुख से निवास किया, किन्तु उस दिव्य सुन्दरी के बिना मेरे प्राण तो निकल जायँगे। यह सुनकर हँसते हुए उस तपस्वी ने कहा कि—"यहीं रहो, फिर रात में उसी प्रकार तुमको सुख मिलेगा"।

इस प्रकार उस साधू के द्वारा कहे जाने पर वह चन्द्रस्वामी उस तपस्वी के प्रसाद से प्रतिरात्रि उन-उन उपभोगों का सम्भोग करने लगा। धीरे-धीरे उसके उस विद्या-प्रभाव को समझकर विधाता से प्रेरित होकर उस चन्द्रस्वामीने

इमं शिशुं राज्ञः सूर्यप्रभस्य द्वारि नीत्वा मञ्चस्थं कृत्वा त्यज, एवं ते क्षेमं भविता" इति समादिष्टा हरेण सा वणिक्सुता तन्माता च प्रबुध्य अन्योन्यमूचतुः, तत्यजतुश्च भगवत्प्रत्ययात् तं राजद्वारं नीत्वा बालकम्। तावच्च तमपि सूर्य्यप्रभं पुत्रचिन्तासमुत्सुकं नृपं स्वप्ने भगवान् वृषध्वजस्तथैव समादिशत्,—"राजन्! उत्तिष्ठ, सिंहद्वारि सकाञ्चनो बालकः तिष्ठति केनापि स्थापितोऽतिसुलक्षणः मञ्चस्थितः, तं द्रुतं गृहाण"। इति शम्भुनाऽऽदिष्टः स राजा प्रातः प्रबुध्य तथैव द्वाःस्थैः प्रविश्य विज्ञप्तः स्वयं निर्ययौ। दृष्ट्वा सिंहद्वारे सहेमचयं मञ्चस्थं शिशुं रेखाच्छत्रध्वजाङ्कपाणिपादं शुभाऽऽकृतिं,—"शम्भुना दत्ताऽयं समुचितः, पुत्रः" इति सानन्दं ब्रुवन्, स्वयं बाहुभ्यां गृहीत्वा अन्तःपुरं विवेश; महोत्सवं कृत्वा च द्वादशेऽहनि पुत्रं नाम्ना चन्द्रप्रभमकरोत्। इत्थं स राजपुत्रश्चन्द्रप्रभः क्रमेण वपुषेव गुणौघेनापि आश्रितानन्ददायिना सर्वान् समनुरञ्जयन्, शनैर्युवा सन् शौर्य्यौदार्य्यश्रुतादिभिरावर्जितप्रकृतिमण्डलः पृथिवीभारवहनक्षमः समजायत।

"एक हजार सोने की अशर्फियों के साथ इस बच्चे को सूर्यप्रभ राजा के द्वार पर लेजाकर मचान पर रखकर छोड़ दो; इस प्रकार तुम्हारा कल्याण होगा" इस प्रकार शङ्कर जी के द्वारा आदेश दी हुई वह वणिक्पुत्री और उसकी माता उठकर एक दूसरी को सपने का वृत्तान्त कहने लगी तथा उन दोनों ने शिवजी के विश्वास से उस बालक को राजा के द्वार पर ले जाकर छोड़ दिया। उसी समय में पुत्र की चिन्ता से उत्कण्ठित उस सूर्यप्रभ राजा को भी सपने में भगवान् शङ्कर जी ने उसी प्रकार आदेश दिया—"महाराज! उठो, सिंहद्वार पर किसी के द्वारा मचान पर सुवर्ण-सहित रक्खा हुआ अत्यन्त सुलक्षण बालक है, उसे शीघ्र ले लो" यह शङ्कर जी के द्वारा आदेश दिया हुआ तथा प्रातःकाल उठकर द्वारपालों के द्वारा प्रवेश करके उसी प्रकार निवेदन किया हुआ वह राजा स्वयं निकल पड़ा। और सिंहद्वार पर सुवर्ण-समूह से युक्त, हाथ और पैर में छत्र-ध्वज आदि रेखा से चिह्नित, सुन्दर-स्वरूप वाले बच्चे को मचान पर पड़े हुए देखकर—"शङ्कर जी का दिया हुआ यह सुयोग्य पुत्र है" यह आनन्द के साथ कहता हुआ वह स्वयं दोनों भुजाओं से उठाकर रनिवास में प्रवेश किया। फिर महान् उत्सव करके बारहवें दिन पुत्र का नामकरण करते हुए 'चन्द्रप्रभ' नाम रक्खा। इस प्रकार वह राजकुमार चन्द्रप्रभ क्रमशः शरीर के समान ही आश्रितों के आनन्द देनेवाले गुणसमूह से भी सबों को आनन्दित करते हुए धीरे-धीरे युवक होकर वीरता, उदारता, शास्त्राध्ययन आदि गुणों से प्रजामण्डल को आकृष्ट करते हुए पृथिवी का भार वहन करने के योग्य हो गया।

ययाचे,—"भगवन्! यदि सत्यं शरणागते मयि ते कृपा जाता, तदेतां विद्यां मे देहि, यस्या अयम् ईदृशः प्रभावः" इति निर्बन्धात् प्रार्थयमानं तं स तापसः प्रत्यवादीत्,—"भद्र! एषा विद्या तव असाध्या, असौ अन्तर्जले साध्यते, तत्र चैषा जपतः साधकस्य विमोहाय तथा मायाजालं सृजति, यथा स सिद्धिं न लभेत स हि जापकस्तत्र पुनर्जातं बालकमात्मानम् ईक्षते, ततो युवानं कृतदारं जातात्मजम्; ततः सुहृदयं मे, शत्रुरयं मम इति मिथ्या प्रपश्यति; न च इदं जन्म, नापि विद्यासाधने प्रवृत्तिं स्मरति। यस्तु चतुर्विंशतिवर्षं तथा जपन्, जन्म स्वं स्मृत्वा, तत्तत् मायाविजृम्भितं विदित्वा तद्वशो वह्निप्रवेशं कुरुते, स एव परमार्थतो जलोत्तीर्णः सिद्धविद्यां पश्यति, एषा च सुशिष्यस्यैव सिध्यति, अस्थानार्पणात् गुरोरपि विनश्यति। मत्सिद्धैयव ते फले सिद्धे किं ते अमुना आग्रहेण? मम सिद्धिहानौ एषा तदैव विनङ्क्ष्यति"। एवं तपस्विनोक्तेऽपि स चन्द्रस्वामी,—'शक्ष्यामि सर्वं, मा तावदत्र

उस तपस्वीको प्रसन्न करकेएकबार प्रार्थना की–"महाशय! यदि सत्य ही मुझ शरणागत के ऊपर आपकी कृपा हुई है तो यह विद्या मुझे दीजिये, जिसका यह इस प्रकार का प्रभाव है"। आग्रह के साथ यह प्रार्थना करते हुए उसको उस तपस्वी ने जवाब दिया—"हे भले आदमी! यह विद्या तुम्हारे लिये असाध्य है, यह तो पानी के अन्दर सिद्ध की जाती है। और वहाँ यह जप करनेवाले साधक को धोखा देने के लिये उस प्रकार माया-जाल फैलाती है, जिससे वह सिद्धि नहीं प्राप्त कर सके। वह मन्त्र जपनेवाला वहाँ अपने को फिर से उत्पन्न हुए बालक के रूप में देखता है। फिर क्रमशः अपने को युवक तथा पत्नी ग्रहण किये हुए और पुत्र उत्पन्न किये हुए देखता है। इसके बाद यह मेरा मित्र है, यह मेरा शत्रु है, इस रूप में झूठ ही समझने लगता है। न तो यह जन्म और न विद्यासाधना की अपनी प्रवृत्ति ही उसे याद रहती है। जो चौबीस वर्षों तक उस प्रकार जप करता हुआ अपने वास्तविक जन्म का स्मरण करके 'वह वह माया का विकास है' यह समझ कर उसके वश में रहते हुए भी अग्नि में प्रवेश करता है, वही पानी से बाहर निकल कर वास्तविक रूप में सिद्ध हुई विद्या को देखता है। यह विद्या योग्य शिष्य को ही सिद्ध होती है, अयोग्य शिष्य को देने से गुरु की विद्या नष्ट हो जाती है। मेरी सिद्धि से ही तो तुम्हें सिद्धरूप में फल मिल रहा है तो फिर इस आग्रह से तुम्हारा क्या लाभ है? तुम्हारी यह उपभोग-सामग्री तभी नष्ट होगी जब कि मेरी सिद्धि नष्ट हो जाय"। ऐसा उस तपस्वी के द्वारा कहे जाने पर उस चन्द्रस्वामी ने—"मैं सब कुछ कर सकूँगा,

अथ सूर्य्यप्रभः पिता तादृशं तं दृष्ट्वा राज्ये अभिषिच्यैव वृद्धो वाराणसीं ययौ। ततश्च तस्मिन् नयशालिनि तनये पृथ्वीं शासति स राजा तत्र वाराणस्यां तीव्रतपसा तनुमजहात्। ततः स धार्मिको नरपतिः चन्द्रप्रभः पितृनिधनं श्रुत्वा अनुशोच्य कृतक्रियः सर्वान् सचिवान् अभ्यधात्,—"तातस्य केनापि नाहमनृणो भवितुं क्षमः, तथाऽपि स्वहस्तेन अस्य एकां निष्कृतिं ददामि, गङ्गायामस्य अस्थीनि नीत्वा क्षिपामि, गयाञ्च गत्वा सर्वपितृभ्यः पिण्डं ददामि, एतत्प्रसङ्गेन च मे तीर्थयात्रा भविष्यति"। इत्युक्तवन्तं राजानं मन्त्रिणो व्यजिज्ञपन्,—"देव! न तावदिदं ते कर्त्तुं युक्तं, राज्यं हि बहुच्छिद्रं, पित्रुपक्रिया च ते पुरोहितेनापि सम्पद्यते। स्वधर्मपालनात् तीर्थयात्रा न ते साधीयसी, बहुपापं क्व पान्थत्वम्? नित्यगुप्तः पार्थिवश्च क्व?"। इति मन्त्रिणां वचः समाकर्ण्य चन्द्रप्रभोऽब्रवीत्,—"अलं विकल्पेन, पित्रर्थे अवश्यमेव मया गन्तव्यम्; तीर्थानि च मया गन्तव्यानि यावत् अहं शक्नोमि, पश्चात् क्षणविनश्वरे शरीरे को वेत्ति किं भावि? यावद-

---

इसके बाद पिता सूर्यप्रभ अपने पुत्र चन्द्रप्रभ को उस प्रकार योग्य देख कर उसको राज्य पर अभिषिक्त करके वृद्ध होने के कारण वाराणसी चले गये। तब उस न्यायशील पुत्र के पृथ्वी का शासन करते रहने पर उस राजा ने वहाँ वाराणसी में कठोर तपस्या के द्वारा शरीर त्याग किया। इसके बाद उस धार्मिक राजा चन्द्रप्रभ ने पिता की मृत्यु सुनकर शोक करके श्राद्धादि कृत्य सम्पूर्ण करके सभी मन्त्रियों को कहा—"किसी भी प्रकार से मैं पिता जी से उऋण नहीं हो सकता हूँ, उथापि अपने हाथ से इनका एक निस्तार करूँगा, इनकी अस्थियाँ गङ्गाजी में ले जाकर डाल दूंगा, गया जाकर सभी पितरों को पिण्ड दूँगा, इस प्रसङ्ग से मेरी तीर्थ-यात्रा होगी।" ऐसा कहते हुए राजा को मन्त्रियों ने निवेदन किया—"महाराज! आपको तो यह करना उचित नहीं है, क्योंकि राज्य बहुत उपद्रव की वस्तु है, तुम्हारे पिता का उपकार तो पुरोहित के द्वारा भी हो सकता है। अपने धर्मपालन से तुम्हारी तीर्थयात्रा अच्छी चीज नहीं है। हमेशा खतरे से भरा हुआ कहाँ तो पथिक होना? और हमेशा सुरक्षित रहनेवाला कहाँ राजा?"। मंत्रियों का यह वचन सुनकर चन्द्रप्रभ ने कहा—"विरुद्ध कल्पना करना व्यर्थ है, पिता के लिए मुझे अवश्य जाना है, तीर्थों में मुझे जाना है, जितना मैं जा सकूँगा। शरीर तो क्षण विनश्वर है, कौन जानता है पश्चात् क्या भावी है? जब तक मैं आता हूँ, तब तक आप लोगों को राज्य की रक्षा करनी है।"

हमागच्छामि तावत् युष्माभिः राज्यं रक्ष्यम्" इति। इत्थं राज्ञो निश्चयं श्रुत्वा मन्त्रिणस्तूष्णीमासन्। ततः स भूपतिः सर्वं प्रयाणसञ्चारं सज्जं चक्रे।

अथ शुभेऽहनि स राजा स्नातो हुताग्निः ब्राह्मणानर्च्चयित्वा, सज्जितं रथमास्थाय प्रयतः शान्तवेगः सामन्तान् राजपुत्रान् पौरजानपदानपि आसीमान्तानुयायिनः सन्निवर्त्य सम्भाष्य च, ब्राह्मणैर्वाहनारूढ़ैः पुरोहितेन च सह प्रतस्थे। गच्छंश्च पथि विचित्रदेशभाषादिविलोकनविनोदितः क्रमात् बहून् देशान् क्रामन् जाह्नवीं प्राप, ददर्श च तां जलकल्लोलपङ्क्तिभिः जीवानां त्रिदिवारोहसोपानपद्धतिं सृजतीमिव, हिमवत्प्रभवां गौरीं प्रतीर्ष्यया शम्भोः क्रीडया कृतकेशग्रहां देवर्षिगणवन्दिताम्। ततश्च राजा रथादवरुह्य यथाविधि कृतस्नानविधिः पितुः सूर्य्यप्रभस्य अस्थीनि गङ्गाऽम्भसि निचिक्षेप। तत्र च यथाविधि दानानि दत्त्वा कृतश्राद्धो रथमारुह्य प्रस्थितः क्रमेण प्रयागं तीर्थमवाप। तत्र चोपोष्य कृतस्नानः श्राद्धदानादिकञ्च यथाविधि कृत्वा

इस प्रकार राजा का निश्चय सुनकर मन्त्री लोग चुप हो गये। इसके बाद उस राजा ने यात्रा का सब सामान सुसज्जित किया।

इसके बाद अच्छे दिन में उस राजा ने स्नान करके अग्नि में होम करके ब्राह्मणों का सम्मान करके सुसज्जित रथ पर चढ़कर पवित्र तथा जितेन्द्रिय होकर सीमा तक चारों तरफ से अनुगमन करने वाले क्षत्रियों को पुरवासी जनों को भी उचित संभाषण के साथ लौटा कर वाहनों पर चढ़े हुए ब्राह्मणों और पुरोहित के साथ प्रस्थान किया। रास्ते में जाते हुए वह राजा विचित्र विचित्र देश-भाषा आदि के देखने से मन बहलाते हुए क्रमशः बहुतों देशों को पार करते हुए गङ्गा जी के पास पहुँचे। और उसने लहरों की कतार से जीवों के लिए स्वर्ग आरोहण करने की सीढ़ियों की कतार निर्माण करती हुई के समान हिमालय से उत्पन्न होने वाली, पार्वती के प्रति ईर्ष्या से खेलवाड़ में ही शंकर जी का बाल ग्रहण करनेवाली देवता और ऋषिगणों से वन्दित उस गङ्गा जी को देखा। इसके बाद उस राजा ने रथ से उतर कर विधिवत् स्नानक्रिया करके अपने पिता सूर्यप्रभ की अस्थियों को गङ्गा के जल में प्रवाहित कर दिया। फिर वहाँ उचित विधि से दान देकर श्राद्ध करके रथ पर चढ़कर प्रस्थान करके क्रमशः उस राजा ने प्रयाग तीर्थ को प्राप्त किया। वहाँ उपवास तथा स्नान करके उचित विधि से श्राद्ध दान आदि करके

स्थलम् अश्वत्थपादपं दृष्ट्वा "इह रात्रिं वसामि" इति मनसि अकरोत्। ततस्तुरगादवतीर्य्य तस्मै वाजिने तृणोदकं दत्त्वा वाप्यास्तस्याः सलिलानि पीत्वा प्रियया सह विशश्राम। तत्कालञ्च शशलाञ्छनः सरागः तिमिरांशुकहारी समाक्रम्य प्राच्या मुखं चुचुम्बे। चन्द्रकिरणैः समाश्लिष्य प्रसाधिता वीतमानावकाशाः शेषाश्च दिशो विरेजुः। अत्रान्तरे लतागुल्मविवरप्रसृतैरैन्दवैः रत्नदीपाभैः करैस्तरुमूले अवभासिते स राजा तामिन्दीवरप्रभां नवसङ्गमरसोल्लासामाश्लिष्य सुरतोत्सवं सिषेवे, विस्रंसयामास च तस्यास्त्रपामिव नीवीं, खण्डयामास च दशनैस्तस्या मुग्धभावमिवाधरं, रचयामास च यौवनद्विपकुम्भयोः तस्याः कुचयोः सद्रत्ननवनक्षत्रमाला इव नखक्षतानि, चुचुम्ब च मुहुः सर्वतो लावण्यामृतनिस्यन्दमिव पिबन् मुखं कपोलौ नयने च। इत्थं तया सह निधुवनक्रीडया तत्र तां निशां क्षणमिवानयत्।

रूपी नीले वस्त्र से शरीर ढकनेवाली रात्रिरूपी अभिसारिका दिखाई पड़ने लगी। उस समय राजा ने जलाशय के तीर में रहनेवाले, अपनी शाखाओं के पल्लवों के द्वारा घासों से हरी भूमि को आच्छादित करनेवाले पिप्पल वृक्ष को देखकर "यहाँ रात्रि भर रहूँ।" ऐसा मन में विचार किया। इसके बाद घोड़े से उतर कर उस घोड़े को घास और पानी देकर उस सरोवर से पानी पीकर प्रियतमा के साथ वह विश्राम करने लगा। उसी समय चन्द्रमा अनुराग (लालिमा) से युक्त होकर अन्धकाररूपी वस्त्र हटाते हुए आकर पूर्व दिशा का मुख चूमने लगे। चन्द्रमा की किरणों के द्वारा आलिङ्गन कर के सजायी हुई, दैर्घ्यप्रमाण तथा अन्दर के अवकाशों से हीन होकर (अभिमान के अवसर से विगत होकर) सभी दिशाएँ शोभा पाने लगीं। इस बीच में ऊपर फैली हुई लता के झुरमुट के विवरों से फैली रत्न-दीपक के समान चद्रमा की किरणों से पेड़ के नीचे प्रकाशित हो जाने पर वह राजा नवीन सङ्गम के आनन्द से उल्लसित उस इन्दीवरप्रभा का आलिङ्गन कर के सम्भोगोत्सव का सेवन करने लगा। उसकी लज्जा के समान उसके कटि-वस्त्र-बन्धन को ढीला कर दिया और भोलेपन के समान दाँतों से उसके ओठों का खण्डन किया तथा युवावस्थारूपी हाथी के कुम्भ (मस्तक) के समान उसके दोनो स्तनों के ऊपर अच्छे रत्नों की नवीन नक्षत्रमाला (सत्ता-इस रत्नों की माला) के समान नखक्षतों से सजाया। सब जगह से लावण्य-रूपी अमृत रस पीते हुए मुख, दोनों गाल, दोनों आखों का बार बार चुम्बन किया। इस प्रकार उसके साथ संभोग-क्रीड़ा के द्वारा वहाँ उस रात को उसने एक क्षण के समान बिताया।

वाराणसीं जगाम। तस्याञ्च त्रीणि दिनानि उपोष्य वृषभध्वजमच्चर्-यित्वा गयां प्रति प्रययौ।

क्रमेण नानाविधानि वनानि गिरीन् नदीश्चातिक्रम्य गयाशिरः प्राप। तत्र विधिवत् भूरिदक्षिणं श्राद्धं विधाय गयाकूपे पिण्डं ददतोऽस्य पिण्डमादातुं त्रयो मानुषपाणयः समुत्तस्थुः। तदवलोक्य स राजा विभ्रान्तः,—"किमेतत् ?" इति विमूढमतिः "कस्मिन् पाणौ पिण्डं क्षिपामि" इति निजान् ब्राह्मणानुवाच। "देव ! अयं तावदेकश्चौरस्य पाणिर्निश्चितं, यस्मिन् लोहमयः शङ्कुर्दृश्यते, द्वितीयश्च करोऽयं ब्राह्मणस्य, यतो धृतपवित्रो दृश्यते, तृतीयश्चायं पाणिर्महाराजस्य साङ्गुलीयः सुलक्षणो विभाव्यते; तन्न विद्मो वयं, क्वायं पिण्डो निक्षेप्यः, किमिदं भवेत्" इति। इति तैर्द्विजैरुक्तो राजा निश्चयं कर्त्तुं नाशकत्"।

इति विचित्रां कथामाख्याय वेतालः स्कन्धस्थित एव पप्रच्छ,—"राजन्। कस्मिन् हस्ते स पिण्डो देय इति संशयं छिन्धि, स्मर्य्यतां त्वया प्राक्तनः समयः" इति। राजाऽब्रवीत्,—"वेताल ! यतोऽसौ

काशी नगरी में पहुँच गया। वहाँ भी तीन दिन उपवास करके शंकर जी की पूजा करके गया के प्रति प्रस्थान किया।

क्रमशः अनेक प्रकार के जंगल पहाड़ और नदियों को पार करके वह राजा गयाशिर तीर्थ में पहुँचा। वहाँ विधानपूर्वक पर्याप्त दक्षिणा देते हुए श्राद्ध करके गया-कूप में पिण्ड देने के समय इसका पिण्ड लेने के लिए मनुष्य के तीन हाथ उपस्थित हुए। यह देखकर भ्रम में पड़े हुए उस राजा ने 'यह कैसी बात है ?" इस रूप में हतबुद्धि होकर "किस हाथ में पिंड फेकूँ ?" यह अपने ब्राह्मणों को पूछा। "महाराजा ! निश्चित ही यह चोर का एक हाथ है, जिसमें सेंध खोदने वाला लोहे का हथियार है, दूसरा यह हाथ ब्राह्मण का है, क्योंकि पवित्री धारण किये हुए दिखाई पड़ता है, तीसरा यह हाथ महाराज का है, अंगूठी पहने हुए सुन्दर लक्षणों से युक्त मालूम होता है। किन्तु हम लोग यह नहीं जानते हैं कि यह पिण्ड किस में डाला जाय ? यह क्या है ?"। यह उन ब्राह्मणों के द्वारा कहे जाने पर राजा कुछ निश्चय नहीं कर सके"।

यह विचित्र कथा कहकर कन्धे पर से ही वेताल ने पूछा—"महाराज ! 'किस हाथ में वह पिंड दिया' यह सन्देह दूर करो, पहले का किया हुआ नियम याद करो"। राजा ने कहा—"वेताल ! क्योंकि यह चन्द्रप्रभ राजा

अथ प्रातः समुत्थाय कृतसान्ध्यविधिः स्वसैन्यानुसन्धानाय तया कान्तया सह प्रयातुमुत्सुकोऽभवत्। तावच्च रजन्यां विलुप्तकमलिनी-शोभं भियेव अस्ताचलकुहरप्रलीनं ध्वस्ततेजसं निशापतिं हन्तुकाम इव क्रोधादाताम्रतररोचिषि प्रसारितकरैरुत्क्षिप्तचन्द्रमण्डले विवस्वति, अकस्मात् विद्युत्पिशङ्गजटः कज्जलश्यामलः कालमेघ इव कश्चित् अन्त्रमालाकृतोत्तंसः केशयज्ञोपवीती ब्रह्मराक्षसः नरशिरोमांसं खादन् कपालेन शोणितं पिबंश्च समाजगाम। सः अट्टहासं विमुच्य क्रुधा अग्निं वमन्निव दंष्ट्राकरालो राजानं तं निर्भत्सयन्नब्रवीत्,—'पाप! ज्वालामुखं नाम मां ब्रह्मराक्षसं विद्धि, एष चाश्वत्थो मे निवासः देवैरपि न लङ्घ्यते, सोऽयं त्वया स्त्रिया सह समाक्रम्य परिभुक्तः, तद्-विनयमिदानीं भुङ्क्ष्व, दुराचार! एषोऽहं कामोपहतचेतसः ते हृदय-मुत्पाट्य भोक्ष्ये, शोणितञ्च पास्यामि"। तदाकर्ण्य तञ्च घोरं राक्षस-मवध्यमवेद्य, दृष्ट्वा च कान्तां भयविह्वलां, भयात् राजा सविनयमवा-दीत्,—"अजानता मया ते अपराद्धं, तत् क्षमस्व। तवाऽऽश्रमेऽहम-

---

इसके बाद प्रातः काल उठकर सन्ध्या-वन्दन आदि करके अपनी सेना का अनुसन्धान करने के लिये उस प्रियतमा के साथ चलने के लिये वह राजा उद्यत हुआ। तब तक मानो क्रोध के कारण अत्यन्त लाल प्रभावाले फैलायी हुई किरणों से चन्द्रमण्डल के दूर हटानेवाले सूर्य के रात में कमलिनी की शोभा नष्ट करने के कारण अस्ताचल की गुफा में छिपे हुए नष्ट तेजवाले चन्द्रमा के मानो मारने के इच्छुक होने पर एकाएक बिजली के समान पीली जटावाला, काले बादल के समान तथा काजर के समान काले रङ्गवाला, अतड़ी के समूह को कानका भूषण बनानेवाला, केश का यज्ञोपवीत पहने हुए, मनुष्य के शिर का मांस खाता हुआ, नरकपाल से शोणित पीता हुआ कोई ब्रह्मराक्षस आया। भयङ्कर दाँतवाले उसने जोरों से चिल्लाकर क्रोध से आग उगलने हुए की तरह राजा को फटकारते हुए कहा—"हे पापी! मुझे ज्वाला-मुख नाम का ब्रह्मराक्षस समझो, यह पिप्पल मेरा निवास-स्थान है, देवताओं के द्वारा भी इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती है, वही यह स्त्री के साथ तुम्हारे द्वारा अपमानित करके उपभोग किया गया है, तो अपनी उद्दण्डता का फल भोगो। दुराचारी! यह मैं काम से तुझ अन्धे बने हुए का हृदय फाड़ कर खाऊँगा और शोणित पीऊँगा"। यह सुनकर और उन भय-ङ्कर राक्षस को अवध्य जाकर तथा भय से व्याकुल प्रियतमा को देखकर भय से राजा ने विनय करते हुए कहा—"न जानते हुए मैंने तुम्हारा अपराध किया, उसे क्षमा करो। तुम्हारे आश्रम में मैं अतिथि हूँ और तुम्हारी शरण में आया

राजा चन्द्रप्रभः क्षेत्रजः चौरस्यैव पुत्रः, नान्ययोः, तस्मात् चौरहस्ते एव स पिण्डो देयः। विप्रस्य जनकस्यापि स पुत्रो न भवितुमर्हति, तेन हि धनेन एकां रजनीम् आत्मा विक्रीतः। राज्ञः सूर्य्यप्रभस्यापि संस्कारदानवर्द्धनादिभिः असौ पुत्रो भवेत्, यदि तत्कृते मञ्चस्थस्यास्य स्वर्णसञ्चयो न प्राप्येत; राजा सूर्य्यप्रभो न्यस्तधनेनास्य वर्द्धनादिकमकरोत्, तन्माता यस्य हस्ते समर्पिता, यस्याऽऽज्ञया राज्ञस्तस्य चन्द्रप्रभस्य जननं, यस्य च तत् निखिलं धनं तन्मात्रा समासादितं; तेनैव विप्रसुतात् बीजं क्रीतं, तस्यैव चौरस्य स क्षेत्रजः पुत्रः, तस्मात् तस्यैव हस्ते पिण्डो देय इति मे मतिः"।

इत्याकर्ण्य स वेतालः पुनरलक्षितः नृपस्कन्धात् तमेव शिंशपातरुमाश्रयत्। राजाऽपि तथैव निश्चलप्रतिज्ञस्तमन्वसरत्।

चोर का ही क्षेत्रज पुत्र है, अन्य दोनों का नहीं, इसलिये चोर के हाथ में ही वह पिण्ड दिया जाना चाहिये। यद्यपि ब्राह्मण उसका जनक (उत्पन्न करने वाला) है, फिर भी वह उसका पुत्र नहीं हो सकता है; क्यों कि उसने धन के द्वारा एक रात के लिये अपने को बेच लिया था। राजा सूर्यप्रभ का भी संस्कार-दान-बढ़ाने आदि के द्वारा पुत्र होता, यदि उसके लिये मचान पर रक्खे हुए इसका स्वर्ण-समूह न प्राप्त हुआ होता। राजा सूर्यप्रभ इसके साथ रक्खे हुए धन से इसका संवर्धन आदि किये थे। उसकी माता जिसके हाथ में सौंपी गयी थी, जिसकी आज्ञा से उस राजा चन्द्रप्रभ का जन्म हुआ था, जिसका वह सम्पूर्ण धन उसकी माता को प्राप्त हुआ था, उसी धन के द्वारा ब्राह्मण के पुत्र से बीज खरीद किया गया था, उसी चोर का वह क्षेत्रज पुत्र है। इसी कारण से उसी चोर के हाथ में पिण्ड दिया जाय, यही मेरा विचार है"।

यह सुन कर उस वेताल ने फिर राजा के कन्धे से अदृश्य होकर उसी शीशम के वृक्ष का आश्रय लिया निश्चल प्रतिज्ञावाले उस राजा ने भी उसी प्रकार उसका अनुसरण किया।



तिथिस्त्वां शरणं गतः, दास्यामि च ते ईप्सितं पुरुषं पशुं, येन ते तृप्तिर्भविता; तत् प्रसीद, क्रोधं परिहर"। इति राज्ञो वचनमाकर्ण्य स ब्रह्मराक्षसः शान्तकोपः,—"अस्तु, को दोषः!" इति विविच्य प्रत्यभाषत,—"राजन्! यः सप्तवर्षीयः महासत्त्वः विवेकवान् ब्राह्मण-पुत्रः स्वेच्छया त्वदर्थमात्मानं दद्यात्, यञ्च हन्यमानं तन्माता हस्तयोः, तत्पिता च पादयोः सुदृढं महीतले सन्निवेश्य अवष्टभ्नाति, सप्तदिना-भ्यन्तरे तादृशं पुरुषं स्वयं खड्गप्रहारेण मह्यमुपहारीकरोषि चेत्, तदा ते इमं न्यक्कारं क्षमिष्ये, अन्यथा त्वां सपरिच्छदं सद्यो नाशयि-ष्यामि"। श्रुत्वैतत् स राजा भयात्,—"तथा" इति प्रतिपेदे। सोऽपि ब्रह्मराक्षसः तत्क्षणात् तिरोबभूवे।

अथ राजा चन्द्रालोकस्तया इन्दीवरप्रभया सह हयाऽऽरूढः सुदु-र्मना इतस्ततः सैन्यानि विचिन्वन् प्रायात्। "अहो! अहं मृगयया मदनेन च विमोहितः अकाण्डे पाण्डुरिव विनाशं गतः, अस्य रक्षसः तादृशः उपहारः कुतो लभ्यते? तदिदानीं निजमेव नगरं यामि, पश्यामि, किं भावि" इति ध्यायन् सः समन्तात् अन्विष्यन् स्वसैन्यं

हूँ, तथा तुमको अभीष्ट मनुष्य अथवा पशु जिससे तुम्हारी तृप्ति होगी वह दूँगा, अतः प्रसन्न होओ, क्रोध दूर करो" यह राजा का वचन सुन कर क्रोध शान्त होने से उस ब्रह्मराक्षस ने "ठीक है, क्या हानि है!" यह सोचकर कहा—"महाराज! जो सात वर्ष का महा साहसी, ज्ञानी, ब्राह्मणकुमार स्वेच्छा से तुम्हारे लिये अपने आप को दे दे, जिसको मारे जाने के समय में उसकी माता दोनों हाथों को मारे जाने के समय में उसकी माता दोनों हाथों को और उसके पिता दोनों पैरों को मजबूती से पृथ्वी पर रख कर दबाये रहे, सात दिन के अन्दर उस प्रकार के मनुष्य को स्वयं खड्ग प्रहार से मेरे लिये यदि बलिदान करोगे तब तुम्हारे इस अपमान को क्षमा कर दूँगा, नहीं तो परिवार-सहित तुम्हारा शीघ्र ही विनाश कर दूँगा'। यह सुनकर उस राजा ने भय के कारण "वैसा ही करूँगा" यह स्वीकार किया। वह ब्रह्म राक्षस भी उसी समय अन्तर्धान हो गया।

इसके बाद राजा चन्द्रालोक उस इन्दीवरप्रभा के साथ घोड़े पर चढ़ कर होते हुए इधर-उधर सैनिकों को खोजते हुए चला। "अरे! मैं शिकार तथा उदासकाम से मोहित होकर असमय में ही राजा पाण्डु के सदृश नष्ट हो गया। इस राक्षस के लिये उस प्रकार का उपहार कहाँ से मिलेगा? तो इस समय अपने ही नगर को चलूँ, देखता हूँ कि क्या भावी है" यह सोचते हुए उसने चारों

वाराणसीं जगाम। तस्याञ्च त्रीणि दिनानि उपोष्य वृषभध्वजमच्चर्चयित्वा गयां प्रति प्रययौ।

क्रमेण नानाविधानि वनानि गिरीन् नदीश्चातिक्रम्य गयाशिरः प्राप। तत्र विधिवत् भूरिदक्षिणं श्राद्धं विधाय गयाकूपे पिण्डं ददतोऽस्य पिण्डमादातुं त्रयो मानुषपाणयः समुत्तस्थुः। तदवलोक्य स राजा विभ्रान्तः,—"किमेतत् ?" इति विमूढमतिः "कस्मिन् पाणौ पिण्डं क्षिपामि" इति निजान् ब्राह्मणानुवाच। "देव ! अयं तावदेकश्चौरस्य पाणिर्निश्चितं, यस्मिन् लोहमयः शङ्कुर्दृश्यते, द्वितीयश्च करोऽयं ब्राह्मणस्य, यतो धृतपवित्रो दृश्यते, तृतीयश्चायं पाणिर्महाराजस्य साङ्गुलीयः सुलक्षणो विभाव्यते; तत्र विज्ञो वयं, क्वायं पिण्डो निक्षेप्यः, किमिदं भवेत्" इति। इति तैर्द्विजैरुक्तो राजा निश्चयं कर्त्तुं नाशकत्"।

इति विचित्रां कथामाख्याय वेतालः स्कन्धस्थित एव पप्रच्छ,—"राजन् ! कस्मिन् हस्ते स पिण्डो देय इति संशयं छिन्धि, स्मर्य्यतां त्वया प्राक्तनः समयः" इति। राजाऽब्रवीत्,—"वेताल ! यतोऽसौ

काशी नगरी में पहुँच गया। वहाँ भी तीन दिन उपवास करके शंकर जी की पूजा करके गया के प्रति प्रस्थान किया।

क्रमशः अनेक प्रकार के ज़ंगल पहाड़ और नदियों को पार करके वह राजा गयाशिर तीर्थ में पहुँचा। वहाँ विधानपूर्वक पर्याप्त दक्षिणा देते हुए श्राद्ध करके गया-कूप में पिण्ड देने के समय इसका पिण्ड लेने के लिए मनुष्य के तीन हाथ उपस्थित हुए। यह देखकर भ्रम में पड़े हुए उस राजा ने 'यह कैसी बात है ?" इस रूप में हतबुद्धि होकर "किस हाथ में पिंड फेकूँ ?" यह अपने ब्राह्मणों को पूछा। "महाराजा ! निश्चित ही यह चोर का एक हाथ है, जिसमें सेंध खोदने वाला लोहे का हथियार है, दूसरा यह हाथ ब्राह्मण का है, क्योंकि पवित्री धारण किये हुए दिखाई पड़ता है, तीसरा यह हाथ महाराज का है, अंगूठी पहने हुए सुन्दर लक्षणों से युक्त मालूम होता है। किन्तु हम लोग यह नहीं जानते हैं कि यह पिण्ड किस में डाला जाय ? यह क्या है ?"। यह उन ब्राह्मणों के द्वारा कहे जाने पर राजा कुछ निश्चय नहीं कर सके"।

यह विचित्र कथा कहकर कन्धे पर से ही वेताल ने पूछा—"महाराज ! 'किस हाथ में वह पिंड दिया' यह सन्देह दूर करो, पहले का किया हुआ नियम याद करो"। राजा ने कहा—"वेताल ! क्योंकि यह चन्द्रप्रभ राजा

स्वनगरं चित्रकूटञ्च प्राप । तत्र अनुरूपभार्य्यालाभेन परितुष्टाभिः प्रकृतिभिः महोत्सवे विहितेऽपि अन्तर्गतविषादस्य तस्य दुःखदुःखेनैव दिनशेषो व्यपगमत् । द्वितीयेऽहनि स रहसि मन्त्रिभ्यः तं सर्वं वृत्तान्तमाचचक्षे । तेषाञ्चैकः सुमतिर्मन्त्री प्रत्यब्रवीत्,—"देव ! विषादस्ते मा भूत्, अहमन्विष्यन् तादृशमुपहारमालेष्यामि, विचित्रा हि मेदिनी" । एवं राजानमाश्वास्य स मन्त्री सौवर्णीं शिशुप्रतिमामकरोत् । "यः सप्तवर्षदेशीयः विप्रपुत्रः सत्त्ववान् आत्मानं मातापित्रोरनुज्ञया ब्रह्मरक्षसः उपहाराय प्रयच्छति, यश्च हन्यमानस्ताभ्यां मातापितृभ्यां हस्तपादे प्रगृह्यते, राजा तत्पित्रोरुपकाराथ ग्रामशतसहितां रत्नयुक्तामिमां सौवर्णीं प्रतिमां तस्मै दास्यति" इति तां शिशुप्रतिकृतिं भ्रामयन् स मन्त्री अजस्रं पटहोद्घोषणमकारयत् ।

एतदाकर्ण्य एकस्मिन् अग्रहारे कश्चित् द्विजशिशुः सप्तवर्षदेशीयोऽपि अतिधीरः अद्भुताकृतिः बाल्येऽपि सदा परहिते रतः प्रजानां पुण्यपरिपाक इव मूर्त्तिमान् उद्घोषकान् प्रोवाच,—"भद्राः ! युष्मदर्थे

तरफ खोजते हुए अपने सैनिकों को तथा अपने नगर को प्राप्त किया । वहाँ अपने योग्य पत्नी की प्राप्ति से सन्तुष्ट प्रजाओं के द्वारा महोत्सव किये जाने पर भी अन्दर में विषाद भरे हुए उस राजा का अत्यन्त दुःख से अवशेष दिन समाप्त हुआ । दूसरे दिन उसने एकान्त में मन्त्रियों को वह सारा वृत्तान्त कह सुनाया । उनमें से एक बुद्धिमान् मन्त्री ने कहा—"महाराज ! आप विषाद मत करें, खोजता हुआ उस प्रकार का उपहार ले आऊँगा, क्योंकि यह पृथ्वी विचित्र है" । इस प्रकार राजा को सन्तोष देकर उस मन्त्री ने एक बच्चे की सुवर्णमयी (सोने की) प्रतिमा बनवायी । "जो सात वर्ष का साहसी ब्राह्मण कुमार अपने को माता-पिता की आज्ञा से ब्रह्मराक्षस के उपहार के लिये दे देवे और जो मारा जाता हुआ उस माता-पिता के द्वारा हाथ-पैर पकड़ा जाय; उसके माता-पिता के उपकार के लिये एक सौ ग्राम (गाँव) के सहित रत्नों से सयुक्त करके यह सुवर्णमयी प्रतिमा उसे देंगे" उस सुवर्णमय शिशु-प्रतिमा को घुमाते हुए उस मन्त्री ने वार वार नगाड़े के शब्द के साथ यह घोषणा करवायी ।

यह सुन कर एक गाँव में सात वर्ष की उम्रवाले होने पर भी अत्यन्त धैर्यशाली, अद्भुत स्वरूपवाले, बचपन में भी सदा परोपकार में रत रहने वाले प्रजाओं के पुण्य के मूर्तिमान् परिपाक (परिणाम) के समान किसी ब्राह्मण-कुमार ने घोषणा करनेवालों को कहा—"महाशय ! आपके लिये मैं

राजा चन्द्रप्रभः क्षेत्रजः चौरस्यैव पुत्रः, नान्ययोः, तस्मात् चौरहस्ते एव स पिण्डो देयः। विप्रस्य जनकस्यापि स पुत्रो न भवितुमर्हति, तेन हि धनेन एकां रजनीम् आत्मा विक्रीतः। राज्ञः सूर्य्यप्रभस्यापि संस्कारदानवर्द्धनादिभिः असौ पुत्रो भवेत्, यदि तत्कृते मञ्चस्थस्यास्य स्वर्णसञ्चयो न प्राप्येत; राजा सूर्य्यप्रभो न्यस्तधनेनास्य वर्द्धनादिकमकरोत्, तन्माता यस्य हस्ते समर्पिता, यस्याऽऽज्ञया राज्ञस्तस्य चन्द्रप्रभस्य जननं, यस्य च तत् निखिलं धनं तन्मात्रा समासादितं; तेनैव विप्रसुतात् बीजं क्रीतं, तस्यैव चौरस्य स क्षेत्रजः पुत्रः, तस्मात् तस्यैव हस्ते पिण्डो देय इति मे मतिः"।

इत्याकर्ण्य स वेतालः पुनरलक्षितः नृपस्कन्धात् तमेव शिंशपातरुमाश्रयत्। राजाऽपि तथैव निश्चलप्रतिज्ञस्तमन्वसरत्।

चोर का ही क्षेत्रज पुत्र है, अन्य दोनों का नहीं, इसलिये चोर के हाथ में ही वह पिण्ड दिया जाना चाहिये। यद्यपि ब्राह्मण उसका जनक (उत्पन्न करने वाला) है, फिर भी वह उसका पुत्र नहीं हो सकता है; क्यों कि उसने धन के द्वारा एक रात के लिये अपने को बेच लिया था। राजा सूर्यप्रभ का भी संस्कार-दान-बढ़ाने आदि के द्वारा पुत्र होता, यदि उसके लिये मचान पर रक्खे हुए इसका स्वर्ण-समूह न प्राप्त हुआ होता। राजा सूर्यप्रभ इसके साथ रक्खे हुए धन से इसका संवर्धन आदि किये थे। उसकी माता जिसके हाथ में सौंपी गयी थी, जिसकी आज्ञा से उस राजा चन्द्रप्रभ का जन्म हुआ था, जिसका वह सम्पूर्ण धन उसकी माता को प्राप्त हुआ था, उसी धन के द्वारा ब्राह्मण के पुत्र से बीज खरीद किया गया था, उसी चोर का वह क्षेत्रज पुत्र है। इसी कारण से उसी चोर के हाथ में पिण्ड दिया जाय, यही मेरा विचार है"।

यह सुन कर उस वेताल ने फिर राजा के कन्धे से अदृश्य होकर उसी शीशम के वृक्ष का आश्रय लिया निश्चल प्रतिज्ञावाले उस राजा ने भी उसी प्रकार उसका अनुसरण किया।



अहमात्मानं ददामि, तिष्ठत, पितरौ बोधयित्वा द्रुतमागच्छामि" इति तानभिधाय, तैश्चानुमतः स बालः गृहं गत्वा रचिताञ्जलिः पितराव-ब्रवीत्,—"अम्ब ! तात ! अहं सर्वसत्त्वार्थम् एतं विनश्वरं देहं ददामि, तन्मामनुजानीतम्, इमाञ्च राजदत्तां हेमरत्नमयीं ग्रामशतान्विताम् आत्मप्रतिकृतिं गृहीत्वा वां वितरामि एवं सति मम युष्मदानृण्यं परार्थश्च सिध्यति, युवाञ्च चिरमदरिद्रौ बहून् पुत्रानवाप्स्यथः"। इतिवादिनं तं सहसा तौ पितरौ अवोचतां,—"पुत्र ! किमेतत् भाषसे ? वातेन किं क्षुभितोऽसि ? किं वा ग्रहगृहीतोऽसि ? अन्यथा कथमेवं प्रलपसि ? को हि अर्थैः शिशुं घातयेत् ? कथं शिशुः देहं दद्यात् ?"। एतत् पित्रोर्वचः श्रुत्वा स बालः पुनरुवाच,—"नाहं बुद्धिमोहात् ब्रवीमि, शृणुतं मे अर्थवत् वचनम्, अवाच्याशुचिपूर्णं जुगुप्सितं दुःखक्षेत्रं शरीरमिदम् अचिरात् विनाशि, तदेतेन अत्यसारेण यदि किञ्चित् सुकृतमुपार्ज्यते, तदेव अस्मिन् संसारे सारमिति बुधैरुच्यते, सर्वभूतोपकारादन्यत् किमस्ति सुकृतम् ? तत्रापि पित्रोर्भक्तिश्चेत्

अपने आप को दूँगा, ठहर जाइये, माता-पिता को समझा कर शीघ्र आता हूँ" यह उन लोगों को कह कर, उन लोगों से स्वीकृति लेकर उस बालक ने घर जाकर हाथ जोड़कर माता-पिता को कहने लगा—"हे माता जी ! हे पिता जी ! मैं सभी प्राणियों के लिये यह विनश्वर शरीर देता हूँ, वह मुझे आज्ञा दीजिये, राजा की दी हुई, सुवर्ण तथा रत्नों से बनी सौ ग्रामों से संयुक्त अपनी इस प्रतिमा को लेकर तुम दोनों को देता हूँ, ऐसा करने से मेरी आप दोनों से उऋणता तथा परोपकार दोनों सिद्ध होते हैं और आप दोनों हमेशा के लिये धनी हो कर बहुत पुत्र प्राप्त करेंगे" यह कहनेवाले उस पुत्र को तुरन्त वे दोनों माता-पिता कहने लगे—"पुत्र ! यह क्या कह रहे हो ? क्या वात रोग से क्षुब्ध हो गये ? अथवा ग्रहों से पकड़े गये हो ? नहीं तो क्यों इस प्रकार प्रलाप करते हो ? क्यों कि कौन मनुष्य धन के बदले में पुत्र का वध करावेगा ? और कौन बच्चा अपना शरीर देगा ?" यह माता-पिता का वचन सुन कर उस बच्चे ने फिर कहा—"मैं बुद्धि के विभ्रम से नहीं कह रहा हूँ, मेरा सार्थक वचन सुनिये, न बोलने योग्य अपवित्र पदार्थों से भरे हुए, घृणित दुःखका घर, यह शरीर शीघ्र ही नाश होने वाला है, इस लिये इस निस्तत्त्व शरीर से यदि कुछ पुण्य उपार्जन किया जाय तो वही इस संसार में सार है, यह विद्वानों के द्वारा कहा जाता है। सभी प्राणियों के उपकार से बढ़ कर अन्य कौन सा पुण्य है ? उस में भी यदि माता-पिता की

अथ विंशकथा

ततः स राजा शिंशपान्तिकं गत्वा पुनस्तं वेतालं स्कन्धे आरोप्य मौनी तथैव चचाल। वेतालोऽपि स्कन्धवर्त्ती तं मौनिनमवलोक्य, प्रोवाच—"राजन्! कस्तेऽयं निर्बन्धः? गृहं गच्छ, रात्रिसुखं सेवस्व, कुभिक्षोस्तस्यान्तिकं मां नेतुं न ते युक्तम्, आग्रहातिशयश्चेत् तव, तदा पुनरिमां कथामाख्यामि, शृणु—

अस्ति चित्रकूटं नाम नगरम्; तत्राऽऽसीत् प्रणयिचक्षुषाममृताऽऽसारवर्षी राजशिरोमणिश्चन्द्रालोको नाम। विद्वांसः यं शौर्य्यकरिणः आलानं, दानस्योत्पत्तिनिकेतनं, रूपस्य च विलासभवनं वदन्ति स्म। सर्वसम्पत्पूर्णस्यापि सदृशीं भार्य्यामप्राप्तवतस्तस्य हृदि महानुद्वेगः समभवत्।

एकदाऽसौ राजा उद्वेगविनोदाय अश्वीयसैनिकपरिवृतो मृगयाऽर्थं महाऽटवीं जगाम। तत्र निरन्तरैः शरैः वराहवृन्दानि श्यामलानि

बीसवीं कथा

तब उस राजा ने शीशम के पास जाकर फिर उस वेताल को कन्धे पर उठा कर मौन होकर उसी प्रकार प्रस्थान किया। कन्धे पर रहनेवाले वेताल ने उस राजा को मौन देखकर कहा—"महाराज! तुम्हारा यह कैसा दुराग्रह है? घर जाओ, रात्रि के सुख का उपभोग करो, उस नीच तपस्वी के पास मुझे ले जाना, तुम्हारे लिये उचित नहीं है। यदि तुम्हारा बहुत आग्रह है तो फिर यह कथा कहता हूँ, सुनो—

चित्रकूट नाम का एक नगर है, वहाँ याचकों तथा प्रेमियों की आखों में अमृत की धारा बरसानेवाला, राजाओं में शिरोमणि चद्रालोक नाम का राजा था। जिसको विद्वान लोग वीरतारूपी हाथी का बन्धन-स्तम्भ, दान की उत्पत्ति का घर और सौन्दर्य का विलास-भवन कहते थे। सभी सम्पत्तियों से पूर्ण रहने पर अपने योग्य पत्नी नहीं प्राप्त होने के कारण उसके मन में बहुत बड़ी व्याकुलता रहती थी।

एक बार वह राजा अपनी व्याकुलता को बहलाने के लिये घोड़सवारों के सैनिकों से घिरा हुआ शिकार खेलने के लिये विशाल वन में गया। जैसे सूर्य किरणों से काले अन्धकारों को फाड़ते हैं उसी प्रकार वहाँ लगातार

साध्यते, तदा देहादन्यत् किमिव अधिकं सम्पत्स्यते ?"। इत्येवं धीरवचनैः सुदृढनिश्चयः स शिशुः शोचन्तौ पितरौ स्वमनीषितमङ्गीकारयामास; गत्वा च राजभृत्येभ्यः तां हिरण्मयीं शतग्रामशासनसहिताम् आनीय ताभ्यां पितृभ्यां प्रददौ।

अथ तान् राजभृत्यानग्रतः कृत्वा स बालकः पितृभ्याम् अन्वितः चित्रकूटं नगरं प्रति प्रायात्। तत्र प्राप्तम् अखण्डिततेजसं तं बालकं रक्षारत्नमिव दृष्ट्वा नृपतिः भृशं ननन्द। तञ्च रचितमाल्यविलेपनं गजपृष्ठमारोप्य सपितृकं तत् ब्रह्मरक्षसः सदनं निनाय। तत्र तस्याश्वत्थस्य पार्श्वतः मण्डलमालिख्य पुरोहितेन कृतपूजेन वह्नौ हुते स ब्रह्मराक्षसः मुक्ताट्टहासः, स्वाध्यायं पठन्, घूर्णन्, रक्तासवक्षीवः, मुहुः श्वसन्, जृम्भमाणः, नेत्रैर्ज्वलन्, दिशः देहच्छायया अन्धकारिताः कुर्वन् ज्वालामुखो महारौद्रदर्शनः प्रादुरभूत्। ततो राजा तं दृष्ट्वा विनीतः प्राब्रवीत्,—"भगवन्! अयं तव अभिमतो नरोपहारः

सेवा सिद्ध हो जाय तो इस शरीर से अधिक अन्य क्या सिद्ध होगा ?" इस प्रकार धैर्य के वचनों से दृढ़ सिद्धान्तवाले उस बच्चे ने अफशोस करनेवाले माता-पिता से अपनी अभिलाषा का स्वीकार करवा लिया और जाकर राजा के नौकरों से सौ ग्रामों के आदेशपत्र के सहित वह सोने की प्रतिमा लाकर अपने माता-पिता को दे दी।

इसके बाद राजा के उन नौकरों को आगे करके माता-पिता के साथ वह बालक चित्रकूट नगर को गया। वहाँ पहुँचे हुए अमलिन कान्तिवाले उस बालक को सुरक्षा के रत्न के समान देखकर राजा अत्यन्त आनन्दित हुए। और उसको चन्दन लगाकर माला पहना कर तथा हाथी की पीठ पर चढ़ा कर उसके माता-पिता के साथ ब्रह्मराक्षस के उस निवास-स्थान पर ले गया। वहाँ पिप्पल के पास पुरोहित के द्वारा मण्डलाकार रेखा बनाकर पूजा तथा अग्नि में होम कर लेने पर वह अट्टहास करता हुआ, वेदमन्त्र पढ़ता हुआ, इधर-उधर घूमता हुआ, शोणित की मदिरा पीकर उन्मत्त बना हुआ, बार बार लम्बी साँस तथा जम्हुआई लेता हुआ, आँखों से प्रज्वलित होता हुआ (चमकता हुआ), शरीर की कान्ति से दिशाओं को अन्धकारित करता हुआ ज्वालामुख नाम का ब्रह्मराक्षस महाभयङ्कर स्वरूप से प्रकट हुआ। तब राजा उसको देखकर विनीत होकर कहने लगे—"भगवन्! यह आपका अभिलषित मनुष्योपहार लाया गया है, आज आपकी प्रतिज्ञा का वह सातवाँ

तमांसीव रविः करैः भिन्दन् समरदुर्मदान् सिंहान् शरशय्यासु शाययन्, शरभांश्च पर्वतोपमान् कुलिशकर्कशप्रासपातैः पातयन् विचचार। इत्थं मृगानन्विष्यन् तीव्रपार्ष्णिप्रहारेण वाजिनं भृशं ताडयामास, स च वाजी कशाघातेन पार्ष्णिघातेन च गाढं ताडितो विषमं समञ्चागणयन् क्षणात् वाताधिकजवेन तं भूपं वनान्तरं नयन् दश योजनानि अतिक्रमयामास।

इत्थं वाहे चलिते राजा दिङ्मोहमुपेत्य भ्रमन् श्रान्तः आरात् एकं विपुलं सरो ददर्श। तत्र गत्वा च तुरगं विपर्याणं कृत्वा, स्नातपीतं तरुच्छायासु कतिपयानि यवसानि तस्मै दत्त्वा च, स्वयं कृतस्नानः सलिलं पिवन् विगतश्रमो रम्येषु तत्तत्प्रदेशेषु दृष्टिं निक्षिपन् कस्यचित् अशोकतरोरधस्तात् कामपि आमुक्तपुष्पाऽऽभरणां वल्कलांशुकशोभिनीं वद्धमुग्धजटाजूटसविशेषमनोरमां सखीद्वितीयाम् आश्चर्य्यरूपां मुनिकन्यां ददर्श, चिन्तयामास च कामशराहतः,—"केयम्? किंस्वित् सावित्री सरसीषु स्नातुमागता? आहोस्वित् स्वामिविभ्रष्टा गौरी

वाणों से काले सूकर-समूहों को फाड़ते हुए, युद्ध में दुर्द्धर्ष सिंहों को शरशय्या पर सुलाते हुए, पर्वतों के समान शरभों को वज्र के समान कठोर कुन्त (भाला) के प्रहार से गिराते हुए वह राजा विचरण करने लगा। इस प्रकार जङ्गली जानवरों को खोजते हुए तेजी के साथ एड़ी के आघात से घोड़े को वहुत प्रहार किया। और वह घोड़ा कोड़े के प्रहार से तथा एड़ी के प्रहार से अत्यन्त ताड़ित होकर सम और विषम भूमि की परवाह न करते हुए हवा से अधिक वेग से राजा को कुछ ही क्षण में दूसरे वन में ले जाते हुए दश योजन भूमि पार कर गया।

इस प्रकार घोड़े के चलने पर उस राजा ने दिग्भ्रम प्राप्त करके घूमते हुए थक कर समीप में एक विशाल सरोवर देखा। वहाँ जाकर घोड़े को जीन-रहित करके स्नान करने के वाद पानी पी लेने पर पेड़ की छाया में कुछ घास उसको देकर स्वयं भी स्नान करके पानी पीकर थकावट दूर करके उस राजा ने उन रमणीय प्रदेशों में आँख डालते हुए किसी अशोक वृक्ष के नीचे फूलों के आभूषण पहननेवाली, वल्कल वस्त्र से शोभा पानेवाली, सुन्दर जटा-जूट वाँधने से विशेषरूप से मनोहर, एक सखी के साथ में रहनेवाली तथा आश्चर्यजनक सौन्दर्यवाली किसी मुनिकन्या को देखा। और कामबाण से ताड़ित होकर वह राजा सोचने लगा—"यह कौन है? क्या? सावित्री सरोवर में स्नान करने के लिये आई है? अथवा पति से अलग होकर पार्वती ने फिर

समानीतः, अद्य स सप्तमो दिवसस्ते प्रतिज्ञायाः, तत् प्रसीद; गृहाण इममुपहारं यथाविधि"। इति राज्ञाऽर्थितः स ब्रह्मराक्षसः जिह्वया सृक्कणी लिहन् तमुपहारभूतं विप्रसुतमवलोकयामास। क्षणे च तस्मिन् स बालो महासत्त्वो हृष्टो व्यचिन्तयत्,—"अनेन स्वदेहदानेन यन्मया सुकृतम् अर्जितं, तेन मे स्वर्गो वा निरुपक्रियो मोक्षो मा भूत्, जन्मनि जन्मनि मे परार्थो देहो भूयात्"। इति तस्मिन् चिन्तयत्येव क्षणात् पुष्पवृष्टिमुचां देवानां विमानैः नभस्तलमापूर्य्यत।

अथ तस्य ब्रह्मरक्षसः पुरतः स्थापितं तं बालं माता करयोः पिता चरणयोरग्रहीत्। ततो यावत् खड्गमाकृष्य राजा तं जिघांसति, तावत् स शिशुस्तथा जहास; यथा सब्रह्मराक्षसास्ते सर्वे स्वं स्वं कर्म त्यक्त्वा तन्मुखप्रेक्षिणः कृताञ्जलयः प्रह्वाश्चाभवन्"।

इति विचित्रां कथामाख्याय स वेतालस्तं पुनरब्रवीत्,—"राजन्! तेन बालकेन तादृशे तस्मिन् प्राणान्तसमये यत् हसितं, तस्य को हेतुः? महदत्र कौतुकं मम, यदि न वक्ष्यसि जानन्नपि, तदा ते मूर्द्धा शतधा विदलिष्यति"। एतदाकर्ण्य स राजा तं प्रत्यभाषत,—"शृणु

दिन है, तो प्रसन्न होइये और इस उपहार को उचित विधि से ग्रहण करिये"। यह राजा के द्वारा प्रार्थना किये हुए उस ब्रह्मराक्षस ने जीभ से ओठों के कोरों को चाटते हुए उपहार बने हुए उस विप्रसुत को देखा। उस समय में वह महासाहसी हृष्ट बालक सोचने लगा—"अपने शरीर के इस दान से मेरे द्वारा जो कुछ पुण्य उपार्जन किया गया है उससे मुझे स्वर्ग अथवा उपकार-हीन मोक्ष भी न मिले किन्तु जन्म-जन्म में परोपकार के लिये शरीर मिले"। इतना उसके सोचते रहने पर उसीक्षण फूलों की वर्षा करनेवाले देवताओं के विमानों से आकाश भर गया।

इसके बाद उस ब्रह्मराक्षस के सामने रक्खे हुए उस बालक को माता दोनों हाथों में तथा पिता दोनों पैरों में पकड़ लिये। तब तलवार खींच कर जब तक राजा उसको मारना चाहता है तब तक वह बालक उस प्रकार हँसने लगा, जिससे ब्रह्मराक्षस सहित वे सभी अपना-अपना कार्य छोड़कर उसी का मुँह देखते हुए हाथ जोड़ कर नम्रभाव से खड़े हो गये"।

यह विचित्र कथा कहकर उस वेताल ने उस राजा को फिर कहा—"महाराज! वह बालक उस प्रकार के प्राण अन्त होने के उस समय में जो हँसने लगा, उसका क्या कारण था? मेरा इसमें बहुत कुतूहल है, यदि जानते हुए भी नहीं कहोगे तो तुम्हारा शिर सौ टुकड़ों में फट जायगा"।

पुनस्तपः कर्त्तुं प्रवृत्ता ? तदेनामुपसृत्य वार्त्तामुपलप्स्ये" इत्यालोच्य शनैस्तस्याः समीपमाययौ। साऽपि तमायान्तं दृष्ट्वा तद्रूपेण समाकृष्ट-चित्ता प्रारब्धपुष्पस्रक्सन्नहस्ता व्यचिन्तयत्,—"कोऽयमीदृक् अस्मिन्नरण्ये ? विद्याधरः कोऽपि वा ? चरितार्थे ममाद्य दृशौ" इत्थं वितर्क्य त्रपया तिर्य्यक् पश्यन्ती उत्थाय सोरुस्तम्भाऽपि गन्तुं प्रावर्त्तत। अथ राजा तामुपेत्याब्रवीत्,—"सुन्दरि ! प्रथमदृष्टस्य दर्शनमात्रार्थिनः दूराऽऽगतस्य जनस्य स्वागतादिकमास्तां, कोऽयमाश्रमिधर्मः यदेतस्मात् पलाय्यते ?"। इति तेन राज्ञाऽभिहिते विचक्षणा तदीया सखी तत्र राजानमुपवेश्य अतिथिसत्क्रियामकरोत्।

अथ राजा तां सविनयम् अप्राक्षीत्,—"भद्रे ! अनया तव सख्या कः पुण्यवान् वंशः अलङ्क्रियते ? कानि वाऽस्याः कर्णरसायनानि नामाक्षराणि ? कथं वा अनया कुसुमसुकुमारमिदं वपुः ईदृशे वयसि तापस्या वृत्त्या विजने कदर्थीक्रियते ?"। एतत् राजवचनमाकर्ण्य सखी तं प्रत्यभाषत,—"महाभाग ! एषा महर्षेः कण्वस्य कन्यका

तपस्या करना प्रारम्भ किया है ? तो इसके पास पहुँच कर समाचार ज्ञात करूँगा"। यह सोचकर धीरे धीरे उसके समीप आया। वह भी उसको आते हुए देखकर उसके रूप से खीचे हुए मनवाली, फूल की माला गूथने से हाथ रुक जाने पर सोचने लगी—"इस वन में इस प्रकार का यह कौन है ? क्या कोई विद्याधर है ? आज मेरी आँखें सफल हो गईं" इस प्रकार वितर्क करके लज्जा के कारण टेढ़ी दृष्टि से देखती हुई, उठकर जांघों में स्तम्भ हो जाने पर भी जाने लगी। इसके बाद राजा उसके पास पहुँच कर कहने लगे—"हे सुन्दरी ! दूर से आये हुए, पहले पहल देखे हुए, केवल दर्शन चाहनेवाले मनुष्य का स्वागत आदि तो दूर रहे, किन्तु आश्रमवासियों का यह कौन सा धर्म है कि इस स्थान से भाग रही हो ?" यह उस राजा के द्वारा कहे जाने पर उसकी चतुर सखी ने वहाँ राजा को बैठा कर अतिथि-सत्कार किया।

इसके बाद राजा ने उसको नम्रता के साथ पूछा—"हे कल्याणिनि ! तुम्हारी इस सखी के द्वारा कौन सा पवित्र वंश सुशोभित किया जाता है ? कानों को सुख देनेवाले इसके नाम के कौन-कौन अक्षर हैं ? क्यों इसके द्वारा फूल के समान सुकुमार यह शरीर इस प्रकार की उम्र में तपस्विनी के व्यवहार से निर्जन वन में पीड़ित किया जाता है ?" यह राजा का वचन सुनकर सखी ने उसको जवाब दिया—"महाशय ! यह मेनका से उत्पन्न महर्षि कण्व की

तस्य शिशोर्हासे अभिप्रायम्;—यो हि दुर्बलो जन्तुः भये प्रत्युपस्थिते त्राणार्थं मातरं पितरं, तदभावे राजानं त्राणार्थं विधात्रा निर्मितम्, एषाञ्चालाभे देवतामाक्रन्दति, तस्य एकोऽपि एतेषु आश्रयो भवेत्, अस्य तु सर्वमेव अन्यथा जातम्; पितृभ्यां हस्तपादं रुद्धम् अर्थतृष्णया, राजा च आत्मानं त्रातुं स्वयं हन्तुमुद्यतः, ब्रह्मरक्षः दैवतमपि तस्य भक्षणार्थमुपस्थितम्। अध्रुवस्य अन्तविरसस्य आधिव्याधियुक्तस्य देहस्यार्थे विमूढानामीदृक् विडम्बनं, यत्र ब्रह्मविष्णुरुद्रादयोऽपि अवश्यं विनाशिनः, तत्रैषाम् ईदृशानां शरीरस्थैर्य्यवासना काऽपि? एतत् मोहवैचित्र्यमेषां दृष्ट्वा वाञ्छितं सिद्धञ्च मत्वा आश्चर्य्यहर्षोदयात् स द्विजशिशुर्जहास"। इति राजवचनमाकर्ण्य स वेतालः तस्य स्कन्धात् भूयोऽपि स्वकं निलयमाससाद। राजाऽपि दृढसङ्कल्पस्तमनुययौ। अम्भोनिधीनामिव सतां हृदयमक्षोभ्यं हि।

यह सुनकर राजा ने उसको उत्तर दिया—"उस बालक के हँसने का तात्पर्य सुनो जो दुर्बल प्राणी है उसके ऊपर भय उपस्थित होने पर उसके प्राणों की रक्षा के लिये माता को पिता को उनके अभाव में राजा को त्राण करने के लिये विधाता ने बनाया है, इनके न रहने पर वह देवता को पुकारता है, उसका इनमें से कोई एक आश्रय होता है, किन्तु इसके तो सब प्रतिकूल हो गये; धन के लोभ से माता-पिता ने इसके हाथ-पैर पकड़ लिये, राजा भी अपनी रक्षा के लिये स्वयं वध करने को तैयार हो गया, ब्रह्मराक्षस देवता होने पर उसको खाने के लिये उपस्थित हो गया था। अस्थायी, अन्त में अप्रीतिकर होनेवाले तथा चिन्ता और व्याधि से पीडित रहनेवाले इस शरीर के लिये मूर्खों का इस प्रकार पतन हो रहा है, जहाँ ब्रह्मा-विष्णु-महेश भी अवश्य नश्वर हैं वहाँ इस प्रकार के इन लोगों की शरीर-स्थिरता की अभिलाषा एक विचित्र वस्तु है। इन लोगों की यह मोह की विचित्रता देखकर और अपनी अभिलाषा सिद्ध हुई समझ कर आश्चर्य तथा हर्ष के उत्पन्न होने से वह ब्राह्मणकुमार हँसा था"। यह राजा का वचन सुनकर वह वेताल उस राजा के कन्धे पर से फिर अपने निवास स्थान पर चला गया। दृढ संकल्पवाले उस राजा ने भी उसका अनुसरण किया क्योंकि समुद्र के समान सज्जनों का हृदय स्थिर होता है।

मेनकासम्भवा आश्रम एव वर्द्धिता इन्दीवरप्रभा नाम। अस्मिन् सरसि पितुरनुज्ञया स्नातुमागता। इतो नातिदूरे अस्याः पितुराश्रमः"।

इत्यभिहितो राजा सम्प्रहृष्टः तुरङ्गममारुह्य तां कन्यां याचितुं महर्षेः कण्वस्याऽऽश्रममगात्, प्राविशच्च विनीतवेशः तमाश्रमं वहिः स्थापितवाहः। प्रविश्य च राजा जटावल्कलधरैः पादपैरिव तापसैः परिवृतं तेजसा चन्द्रमिव आह्लादिनं तम् ऋषिं कण्वमद्राक्षीत्, दृष्ट्वैवोपेत्य तं पादयोर्ववन्दे। सोऽपि ज्ञानी मुनिः कृताऽऽतिथ्यं विश्रान्तं तमभाषत,—"वत्स! चन्द्रालोक! शृणु यदहं वच्मि ते हितं, संसारेऽस्मिन् प्राणिनां मृत्युभयं यादृक्, तदहं जानामि, तत् निरर्थकं कथमिमान् मृगादीन् हंसि? भीतरक्षार्थमेव धात्रा क्षत्रस्य शस्त्रं सृष्टं, तत् धर्मेण प्रजा रक्ष, कण्टकान् समुन्मूलय; हस्त्यश्वादिभिः साधनैः चलां लक्ष्मीं साधयितुं यतस्व, राज्यसुखं भुङ्क्ष्व, दानं देहि, दिक्षु यशांसि विकिर, कृतान्तक्रीडितं मृगयाव्यसनं परित्यज; यत्र हन्तुर्हन्यमानस्य च तुल्यप्रमादिताऽस्ति, तेन बहुनर्थेन अनेन व्यापारेण किम्? पाण्डो-

---

पुत्री है, आश्रम में ही पालित हुई है, इसका नाम इन्दीवरप्रभा है। इस सरोवर में पिता की आज्ञा से स्नान करने के लिये आई है। यहाँ से थोड़ी ही दूरी पर इसके पिता का आश्रम है।

यह कहा हुआ राजा प्रसन्न होकर घोड़े पर चढ़ कर उस कन्या को माँगने के लिये महर्षि कण्व के आश्रम में गया। बाहर में घोड़े को रखकर विनीत वेश से उस आश्रम में प्रवेश किया। और प्रवेश करके उस राजा ने जटा-वल्कल धारण करनेवाले वृक्षों के समान तपस्वियों से घिरे हुए, तेज के कारण चद्रमा के समान आह्लादित करनेवाले उस कण्व ऋषि को देखा तथा देखते ही उनके पास जाकर उनके पैरों पर प्रणाम किया। उस ज्ञानी मुनि ने भी अतिथि-सत्कार किये हुए तथा विश्राम किये हुए उस राजा को—कहा हे वत्स चद्रालोक! जो मैं तुम्हारा हित कहता हूँ वह सुनो—इस संसार में प्राणियों को मृत्यु का भय जिस प्रकार का होता है, वह मैं जानता हूँ। इसलिये निरर्थक क्यों इन मृगादिकों को मारते हो? भयभीतों की रक्षा के लिये ही विधाता ने क्षत्रियों के शस्त्रों का सृजन किया है। अतः धर्म से प्रजाओं की रक्षा करो, दुष्टों का विनाश करो, हाथी-घोड़े आदि साधनों से चञ्चललक्ष्मी को वश में करने का प्रयत्न करो, राज्य का सुख भोगो, दान दो, दिशाओं में यश फैलाओ, यमराज का विलास जो यह शिकार खेलना है इसे छोड़ दो। जिसमें मारनेवाले तथा मारे जानेवाले दोनों का बराबर ही खतरा (प्राण सङ्कट) है। अत एव बहुत सङ्कटवाले इस कार्य से क्या लाभ?

अथ एकविंशकथा ।

अथ राजा पुनः शिंशपामूलं गत्वा तं वेतालं स्कन्धेनादाय सत्वरं प्रतस्थे । तञ्च प्रस्थितं दृष्ट्वा स्कन्धवर्त्ती स वेतालः प्राब्रवीत्,—"राजन्! उद्गाढकन्दर्पामेकां कथां शृणु, कथयामि,—

अस्ति अमरावतीव परा सुकृतिनां दिवश्च्युतानां कृते धात्रा विहिता विशाला नाम पुरी। तस्यामासीत् सज्जनन्दनः श्रीमान् आक्रान्तबलिराजकः पद्मनाभ इति विश्रुतो नृपतिः। तस्मिंश्च राजनि तस्यां नगर्यां महावणिक् अर्थदत्तो नाम धनैः विजितधनपतिः प्रतिवसति स्म । तस्य अनङ्गमञ्जरीति एका सुता उदपद्यत, यया सुरसुन्दरी-प्रतिकृतिर्धात्रा दर्शिता। तेन वणिजा ताम्रलिप्तिनिवासिने मणिवर्मनाम्ने वणिजे सुता सा प्रदत्ता। एकापत्यतया च अतिवत्सलः स वणिक् तां भर्त्तृयुक्तां कन्यामनङ्गमञ्जरीं न तत्याज । स तु मणिवर्मा रोगिणः कटुतिक्तमौषधमिव तस्या अनङ्गमञ्जर्याः द्वेष्यो बभूव ।

एक्कीसवीं कथा

इसके बाद राजा ने फिर शीशम की जड़ में जाकर उस वेताल को कन्धे पर उठा कर शीघ्रता से प्रथान किया। और जाते हुए उस राजा को देख कर कन्धे पर रहने वाले उस वेताल ने कहा—"महाराज! अत्यन्त कामवेगवाली एक कथा सुनो, कहता हूँ—

स्वर्ग से गिरे हुए पुण्यवानों के लिए विधाता के द्वारा बनायी हुई दूसरी स्वर्गपुरी के समान विशाला नाम की नगरी है। उसमें सज्जनों के समूह को आनन्दित करनेवाला, बलवान राजाओं को दबानेवाला समृद्धशाली पद्मनाभ नाम का प्रसिद्ध राजा था। उस राजा के समय में उस नगरी में अपने धन से कुबेर को जीतनेवाला, अर्थदत्त नाम का एक महाव्यापारी रहता था। उसकी अनङ्गमञ्जरी नाम की एक पुत्री उत्पन्न हुई, जिसके द्वारा विधाता ने अप्सरा की प्रतिमा दिखलायी थी। उस वनिये ने ताम्रलिप्ति नगर में निवास करनेवाले मणिवर्मा नामक वैश्य को वह पुत्री दे दी। एक सन्तान होने के कारण अत्यन्त स्नेही होकर उस बनिया ने पति-सहित उस पुत्री अनङ्गमञ्जरी को नहीं त्याग किया। वह मणिवर्मा तो रोगी के लिये कड़ुए तीते औषध के समान उस अनङ्गमञ्जरी का अप्रिय

नृपस्य वृत्तं त्वया किं न श्रुतम् ?"। एतदाकर्ण्य मुनिवचनं कार्य्यज्ञो नृपः समभिनन्द्य प्रत्यभाषत,—"भगवन्! अनुशिष्टोऽस्मि, महान् अनुग्रहो मे कृतः अनेन अनुशासनेन। अद्य प्रभृति मृगयानिवृत्तोऽभवं, प्राणिनो निर्भयाः सन्तु"। तदाकर्ण्य मुनिरब्रवीत्,—"तुष्टोऽस्मि तवामुना प्राणिष्वभयदानेन, तदीप्सितं वरं वृणीष्व" इति। ततः स कालज्ञो नृपतिरब्रवीत्,—"भगवन्! प्रसन्नोऽसि चेत्, सुतामिन्दीवरप्रभां मह्यं देहि"। इत्यर्थितः स मुनिस्तस्मै स्नाताऽऽगतां तामप्सरःसम्भवां कन्यां प्रददौ। ततः कृतविवाहः मङ्गलालङ्कृतः तां मुनिपत्नीकृतप्रसाधनाम् उद्बाष्पैस्तापसैरानिजाश्रमात् कृतानुयात्रामिन्दीवरप्रभां भार्य्यामादाय वाजिनमारुह्य राजधानीं प्रतस्थे।

एतस्मिन्नन्तरे दूराध्वगमनक्लान्तं तं नृपं वीक्ष्य भगवान् सहस्ररश्मिः खिन्नः इव अस्ताचलशिरसि समुपाविशत्। ददृशे च रात्र्यभिसारिका मृगनेत्रा क्रमादुक्तमन्मथा ध्वान्तद्रिनीलपटप्रावृता। तस्मिंश्चावसरे राजा जलाशयतीरवर्त्तिनं शाखापल्लवसंच्छन्नशाद्वलश्यामल-

---

क्या तुमने राजा पाण्डु का वृत्तान्त नहीं सुना है ?" मुनि का यह वचन सुन कर कर्तव्य जाननेवाला राजा प्रशंसा करके कहने लगा—"महाशय! आप के द्वारा मैं उपदेश दिया गया हूँ, आप ने इस उपदेश के द्वारा मेरे ऊपर महान् अनुग्रह किया है। आज से लेकर मैं शिकार से निवृत्त हो गया, सभी प्राणी निर्भय होकर रहें"। यह सुन कर मुनि ने कहा—"प्राणियों के लिये तुम्हारे इस अभय-दान से मैं सन्तुष्ट हूँ, अतः अभीष्ट वरदान मांगो"। तब अवसर जाननेवाले उस राजा ने कहा—"महाशय! यदि आप प्रसन्न हैं तो अपनी इन्दीवरप्रभा पुत्री मुझे दे दीजिये"। यह मांगे जाने पर उस मुनि ने उसको स्नान करके आयी हुई अप्सरा से उत्पन्न वह कन्या दे दी। इसके बाद विवाह करके वैवाहिक-मङ्गल कङ्कन से अलंकृत होकर उस राजा ने मुनिपत्नियों के द्वारा शृङ्गार की हुई, आँसू बहानेवाले तपस्वियों के द्वारा अपने आश्रम की सीमा तक अनुगमन की हुई इन्दीवरप्रभा पत्नी को लेकर घोड़े पर चढ़कर राजधानी की ओर प्रस्थान किया।

इसी बीच में दूर-मार्ग-गमन से थके हुए उस राजा को देखकर भगवान् सूर्य मानो दुखी होकर अस्ताचल के शिखर में प्रवेश कर गये। और क्रमशः मृग के नेत्रों के समान नेत्रवाली, बढ़े हुए काम-विकारवाली, अन्धकार में नीले कपड़े से शरीर ढकनेवाली, रात्रि में रमण करनेवाली अभिसारिका के समान मृगशिर-नक्षत्ररूपी नेत्रवाली, काम-विकार बढ़ानेवाली, अन्धकार-

भर्तुस्तु तस्य सा सुन्दरी जीवितादपि कृपणस्य सुचिरसञ्चिता समृद्धिरिव प्रियतराऽभूत्।

एकदाऽसौ मणिवर्मा उत्कण्ठया पित्रोरन्तिकगमनाय ताम्रलिप्तिं प्रातिष्ठत। ततो दिनेषु गच्छत्सु तीक्ष्णसूर्यांशुसायकैः प्रोषितानां निरुद्धमार्गः निदाघकालः समुपस्थितः। वसन्तविरहात् ककुभां निःश्वासा इव मल्लिकापाटलाऽऽमोदमेदुरा मरुतो वान्ति स्म। पवनोद्धूता रेणुराजयः तप्तया भुवा घनागमायेव गगनं प्रहिता दूत्य इव समुत्पेतुः। दिवसा अपि कठोरातपतापिताः आकाङ्क्षिततरुच्छायाः पथिका इव चिरेण यान्ति स्म। निशाश्च चन्द्रांशुपाण्डुरच्छायाः। गाढाश्लेषसुखप्रदं हेमन्तं विना अतिदुर्बलतां ययुः। एतस्मिन् समये चन्दनानुलिप्ताङ्गी परिहिततनुवसना स्वगृहवातायनस्थिता अनङ्गमञ्जरी केनापि आप्तेन सुहृदा सहितं भव्यं युवानं रतिप्राप्तये सञ्चरन्तं नवोत्पन्नं स्मरमिव कमलाकरनामानं राजपुरोहितसुतं ददर्श। सोऽपि कमलाकरः इन्दोरिव मूर्त्तिमुपरिस्थितां तां कान्तां दृष्ट्वा सानन्दः

हो गया। उस पति की तो वह सुन्दरी बहुत दिनों में सञ्चित की हुई कृपण की सम्पत्ति के समान जीवन से भी अधिक प्रिया थी।

एक बार वह मणिवर्मा माता-पिता के पास जाने के लिये उत्कण्ठित होकर ताम्रलिप्ति नगरी को चला गया। इसके बाद कुछ दिन बीत जाने पर सूर्य की तेज किरणरूपी बाणों से परदेशियों का रास्ता रोकनेवाला ग्रीष्म ऋतु का समय उपस्थित हो गया। वसन्त के वियोग से दिशाओं के मुखनिःश्वास के समान मल्लिका और पाटला फूल की सुगन्ध से भरे हुए पवन बहने लगे। पवन से उड़ायी हुई धूलियाँ सन्तप्त भूमि के द्वारा मानों वर्षा ऋतु के लिये आकाश में भेजी हुई दूतियों के समान ऊपर उड़ने लगीं। दिन भी कठोर धूप से सन्तप्त होकर पेड़ों की छाया चाहते हुए पथिकों के समान बहुत देर में जाने लगे। और रातें भी चन्द्रमा के किरणों से पाण्डुकान्तिवाली गाढ़ आलिङ्गन का सुख देनेवाले हेमन्त के विना अत्यन्त दुर्बल हो गयी। इसी समय में चन्दन से लेपित अङ्गवाली महीन वस्त्र पहने हुए अपने घर की खिड़की पर बैठी हुई अनङ्गमञ्जरी ने किसी विश्वासी मित्र के साथ रति को प्राप्त करने के लिए घूमते हुए नवीन उत्पन्न कामदेव के समान राजा के पुरोहित के पुत्र कमलाकर नामक एक सुन्दर युवक को देखा। वह कमलाकर भी ऊपर में बैठी हुई चन्द्रमा की मूर्ति के समान उस सुन्दरी को देख कर आनन्दित हो कर

कुमुदाकरतामभजत्। तदा तयोः यूनोरन्योन्यावलोकनं स्मरस्य गुरोरनुज्ञया अचूर्णं मनःसंवलनमभूत्। इत्थं तां दृष्ट्वैव स कमलाकरः सद्यो मदनाविष्टः सुहृदा तेन कथञ्चित् स्वं भवनमनीयत। सा चानङ्गमञ्जरी तथैव मन्मथमोहिता सख्या मुखात् तन्नामधामनी श्रुत्वा तथैव सह शनैः वासकं विवेश। तत्र तं कान्तं सञ्चिन्तयन्ती कामज्वरातुरा शयनीये केवलं लुठन्ती किमपि नापश्यत् नाप्यशृणोत्।

इत्थं गतेषु द्वित्रेषु दिनेषु सत्रपा सभया विरहेण कृशपाण्डुरा दुष्प्रापप्रियसम्भोगनिरास्था नक्तमेकदा गवाक्षप्रेरितकरेणेन्दुना आकृष्टेव सुप्ते परिजने निर्गत्य मरणनिश्चया स्वगृहोद्यानवापीं तरुतलवर्त्तिनीमगात्। तत्र पित्रा कृतप्रतिष्ठां कुलदेवतां चण्डीं समुपेत्य प्रणम्य स्तुत्वा च व्यजिज्ञपत्,—"देवि! अस्मिन् जन्मनि चेत् न मया कमलाकरः पतिः प्राप्तः, तदा अन्यस्मिन् जन्मनि स मम पतिर्भूयात्" इति प्रार्थ्य तस्या देव्याः पुरतः अशोकपादपे स्वोत्तरीयेण पाशं विर-

---

कुमुद सरोवर के समान प्रसन्न हो गया। उस समय उन दोनों युवकों का परस्पर अवलोकन कामदेवरूपी गुरु की आज्ञा से बिना गोंद के ही मन-जोड़नेवाला हो गया। इस प्रकार उसको देखकर ही वह कमलाकर उसी समय काम-वशीभूत हो गया, फिर उस मित्र के द्वारा किसी प्रकार अपने भवन में लाया गया। उस अनङ्गमंजरी ने भी उसी प्रकार काम से मोहित होकर सखी के मुख से उसके नाम और घर सुन कर उसी के साथ धीरे-धीरे अपने निवासगृह में प्रवेश किया। वहाँ उस प्रियतम के विषय में सोचती हुई काम-ज्वर से व्याकुल हो कर केवल इधर-उधर लोटती हुई वह न तो कुछ देखती थी और न कुछ सुनती थी।

इस प्रकार दो-तीन दिन बीत जाने पर भयभीत तथा लज्जित और विरह से दुबली तथा पाण्डुवर्ण की बनी हुई दुष्प्राप्य प्रियतम के सम्भोग से निराश हो कर वह अनङ्गमञ्जरी एकबार रात में खिड़की से अपनी किरणं प्रवेश करानेवाले चन्द्रमा के द्वारा खींची हुई के समान अपने परिजनों के सो जाने पर घर से निकल कर मरने के लिये निश्चय कर के पेड़ के नीचे रहनेवाले अपने घर के बगीचे के तालाब के पास गयी। वहाँ अपने पिता के द्वारा स्थापित की हुई कुलदेवता दुर्गा जी के पास पहुँच कर प्रणाम और स्तुति कर के निवेदन करने लगी—"हे देवी जी! यदि इस जन्म में मुझे कमलाकर पति नहीं मिला तो दूसरे जन्म में वह मेरा पति होवे" यह प्रार्थना कर के उस देवी के सामने अशोक के वृक्ष में अपने दुपट्टे से फाँसी लगायी।

सुकृतं समाचर, आत्मघातेन कथं नारकदुःखमभिवाञ्छसि ? इत्युक्त्वा मां समाश्वास्य स पुमान् क्वापि गतः। अहञ्च तादृशं मरणोद्यमं त्यक्त्वा इहाऽऽगतः। तदेवं विधौ अनिच्छति मरणमपि न लभ्यते; इदानीं तपसा तीर्थे तनुं दाहयामि, येन पुनरहं निर्धनतादुःखभागी न स्याम्"

इत्युक्तवन्तं तं ज्येष्ठं कनिष्ठाः प्राब्रुवन्,—"आर्य्य ! अर्थैर्विना कथं प्राज्ञोऽपि दुःखेन वाध्यते ? किं न ज्ञायते, यदर्थानां शरदभ्रचला गतिः, आहृत्य रक्ष्यमाणाऽपि यत्नेन अन्तविरसा असन्मैत्री च वेश्या श्रीश्च कस्य कदा स्थिरा ? तत् उद्योगिना मनस्विना स गुणश्च कोऽपि उपार्जनीयः, येन हठात् वद्ध्वा अर्थहरिणः सुखमानीयते"। इति भ्रातृभिरुक्तो ज्येष्ठः क्षणात् धैर्य्यमवलम्ब्य उवाच,—"को गुणस्तादृक् अर्जनीयो भवेत् ?" इति। ततः सर्वे ते विचिन्त्य परस्परं वदन्ति स्म,—"पृथ्वीं विचित्य किमपि विज्ञानं वयं शिक्षामहे"॥ एवं निश्चित्य सर्वे समागमे सङ्केतस्थानमुक्त्वा एकैकशः ते चत्वारो भ्रातरश्चतस्रो दिशः प्रययुः।

का दुःख भोगना चाहते हो ?" यह कहकर मुझे धैर्य देकर वह पुरुष कहीं चला गया। और मैं उस प्रकार के मरने का प्रयत्न छोड़कर यहाँ आया हूँ। तो इस प्रकार विधाता के न चाहने पर मृत्यु भी नहीं प्राप्त होती है। इस समय तपस्या के द्वारा तीर्थ में शरीर को जलाऊँगा, जिससे फिर मैं निर्धनता के दुःख का भागी न होऊँ"।

यह कहते हुए उस बड़े भाई को छोटे भाइयों ने कहा—"आर्य्य ! धन के विना विद्वान् भी क्यों दुखी होते हैं ? क्या वे यह नहीं जानते हैं कि धन की शरद् ऋतु के बादलों के समान चञ्चल गति होती है, इकट्ठा करके प्रयत्न से रक्खी हुई भी सम्पत्ति अन्त में नीरस हो जाती है अर्थात् बुरा परिणाम देती है, दुर्जनों की मित्रता, वेश्या तथा लक्ष्मी किसके लिये कब स्थिर रहती है ? इसलिये उद्योगी बुद्धिमान् को कोई ऐसा गुण उपार्जन करना चाहिये, जिससे दृढ़ता से बान्धे हुए धनरूपी हरिण आसानी से लाये जाते हैं"। भाइयों के द्वारा ऐसा कहे हुए उस बड़े भाई ने कुछ देर धैर्य धारण करके यह कहने लगा—"कौन सा गुण उस प्रकार का उपार्जन किया जाय ?"। तब वे सभी सोचकर आपस में कहने लगे—"पूरी पृथ्वी खोज कर कोई न कोई विज्ञान हम लोग सीखें"। ऐसा निश्चय करके सभी फिर मिलने का कोई संकेत-स्थान कहकर एक-एक करके वे चारों भाई चारों दिशाओं में चले गये।

चयामास। तावच्च तस्याः सा आप्ता सखी प्रबुध्य वासके तामदृष्ट्वा चिन्वती दैवात् तदुद्यानमगात्, तत्र चागत्य तां गले पाशं योजयन्तीं दृष्ट्वा "मा मा" इत्युक्त्वा प्रधाव्यैव तस्यास्तं पाशमच्छिनत्। साऽपि तां हृतपाशां निजां सखीं प्राप्तां दृष्ट्वा अतिदुःखिता भूमौ पपात।

ततश्च सख्या तया समाश्वासिता पृष्टा च दुःखहेतुं समुत्थाय तामकथयत्,—"सखि मालति! दुर्लभे तस्मिन् प्रियसङ्गमे पित्रादिपरतन्त्राया मे मरणात् परं सुखं नास्ति" इति ब्रुवाणा भृशमनङ्गशराग्निज्वलिता नैराश्यनिश्चयवती मोहं जगाम। "हा कष्टं! स्मरस्य शासनं तथा दुर्लङ्घ्यं, यथा इयमेतां दशां नीता" इति बिलपन्ती सा मालती सखी तां शीताम्बुपवनादिभिः शनैराश्वासयामास, चकार चास्याः तापोपशान्तये नलिनीदलैः शय्यां, ददौ हृदये तुहिनशीतलं हारम्। ततः सा अनङ्गमञ्जरी लब्धसंज्ञा शनैः तां सखीम् उद्बाष्पां प्रोवाच,—"सखि! हारादिभिः नायं मे अन्तर्दाहः प्रशाम्यति, यदि

तब तक उस को वह विश्वासी सखी जाग कर वासगृह में उसको न देख कर खोजती हुई दैवयोग से उसी बगीचे में गयी। और वहाँ आकर उस को गले में फाँसी बान्धती हुई देख कर "ऐसा मत करो, ऐसा मत करो" यह कह कर दौड़ कर उसने उसकी वह फाँसी तोड़ डाली। वह भी फाँसी तोड़नेवाली अपनी उस सखी को आई हुई देख कर अत्यन्त दुखी हो कर भूमि पर गिर गयी।

तब उस सखी के द्वारा आश्वासन दे कर पूछी हुई वह उठ कर उस को दुःख का कारण कहने लगी—"सखि मालति! उस दुर्लभ प्रियतम के सङ्गम में पिता आदि के पराधीन होनेवाली मुझ दुखिया का मरने से बढ़कर अन्य कोई दूसरा सुख नहीं है" यह कहती हुई काम-बाण से अत्यन्त व्यथित हो कर निराशा का निश्चय करनेवाली वह बेहोश हो गयी। "अरे! बहुत दुःख है, कामदेव की आज्ञा इस प्रकार अलङ्घनीय है कि जिस से यह इस दशा को प्राप्त करा दी गयी है" इस प्रकार विलाप करती हुई वह मालती सखी उस को शीतल जल-पवन आदि से धीरे धीरे शान्ति देने लगी और इस का सन्ताप शान्त करने के लिये कमल के दलों से बिस्तरा बना दिया तथा बर्फ के समान शीतल मोती का हार हृदय पर पहना दिया। तब वह अनङ्गमञ्जरी होश में आकर आँसू बहानेवाली उस सखी को धीरे धीरे कहने लगी—"हे सखी हार आदि से

अथ गच्छति काले सर्वे सङ्केतनिकेतने मिलिताः,—"केन किं शिक्षितम् ?" इति अन्योन्यमपृच्छन्। अथैषामेकोऽब्रवीत्,—"मया ईदृक् विज्ञानं शिक्षितं, येन अस्थिशकलं प्राप्य यस्य कस्यचिदपि प्राणिनः तस्मिन् तदुचितानि मांसानि उत्पादयामि"। एतदाकर्ण्य तेषु द्वितीयोऽवदत्,—"अहं तथा विज्ञानमशिक्षे, यथा सञ्जातमांसे अस्थिशकले तत्प्राणिसम्भवलोमानि त्वचश्च जनयितुं पारयामि"। तृतीयोऽवदत्,—"मया ईदृशं विज्ञानमधिगतं, येन जातत्वङ्मांसलोमनि प्राण्यवयववान् चक्षुरादीन् स्रष्टुं जाने"। चतुर्थोऽवादीत्,—"अहम् उत्पन्नावयवं प्राणैर्युक्तं कर्त्तुं शक्नोमि"। एवं ते परस्परमुक्त्वा विज्ञानपरीक्षणाय चत्वारोऽपि अस्थिखण्डमानेतुमटवीं ययुः। विधिवशाच्च ते तत्र सिंहस्य अस्थिखण्डं प्रापुः, जगृहुश्च अविज्ञातविशेषास्तदेव। एकस्तत्समुचितैर्मांसैस्तदस्थिखण्डमयोजयत्। द्वितीयस्तस्य त्वचो लोमानि च उदपादयत्। तृतीयोऽपि समग्रैरिन्द्रियैस्तदपूरयत्। चतुर्थस्तु यदा तस्य सिंहीभूतस्य जीवितमदात्, तदा उद्भूतसटाभारोऽतिभयङ्करः दंष्ट्राकरालवदनः खरनखाङ्कुशः सिंहः

इसके बाद कुछ समय बीत जाने पर वे सभी संकेत-भवन में मिले—"किसने क्या सीखा है" यह एक दूसरे को पूछने लगे। इसके बाद उनमें से एक ने कहा—"मैंने इस प्रकार का विज्ञान सीखा है कि—जिससे जिस किसी प्राणी की हड्डियों के टुकड़े प्राप्त करके उसमें उसके योग्य मांस उत्पन्न कर सकता हूँ"। यह सुनकर उनमें से दूसरे ने कहा—"मैंने इस प्रकार का विज्ञान सीखा है जिससे हड्डियों में यदि मांस लगे हुए हों तो उसमें उस प्राणी के योग्य रोयें और चमड़े उत्पन्न कर सकता हूँ"। तीसरे ने कहा—"मैंने इस प्रकार का विज्ञान सीखा है, जिससे चमड़े-मांस रोयें उत्पन्न हो जाने पर उस प्राणी की आँख आदि इन्द्रियों को बनाना जानता हूँ"। चौथे ने कहा—"मैं सभी अङ्ग उत्पन्न हुए प्राणी को प्राणों से संयुक्त कर सकता हूँ"। इस प्रकार वे एक दूसरे को कहकर विज्ञान की परीक्षा के लिये चारों हड्डियों के टुकड़े लाने के लिये जङ्गल गये। दैव-संयोग से उन लोगों ने वहाँ सिंह की हड्डियाँ प्राप्त कीं। और विशेषता को बिना समझे हुए उसी को ले आये। एक ने उसके योग्य मांसों से उस अस्थिखण्ड को संयुक्त कर दिया। दूसरे ने उसके चमड़े और रोएँ उत्पन्न कर दिये। तीसरे ने भी सभी इन्द्रियों से उसे पूर्ण कर दिया। चौथे ने जब उस सिंह बने हुए को जीवन दान दिया, तब उत्पन्न केसर-समूहवाला, दाँतों से भयङ्कर मुखवाला, तेज

मां जीवितामिच्छसि, तदा सुयुक्त्या तेन कान्तेन योजय"। एवं-वादिनीं तां स्नेहाऽऽर्द्रा मालती प्राब्रवीत्;—"सखि! प्रायेणाद्य निशा गता, तत् प्रातरेव इह तं ते प्रियतमं सङ्केतेन आनेष्यामि, तस्मादालम्ब्य धृतिमधुना स्वं निवेशनं गच्छ" इत्युक्तवत्यै सख्यै साऽनङ्गमञ्जरी तुष्टा कण्ठादाकृष्य हारं पारितोषिकं दत्तवती। "गच्छाव इदानीं स्वगृहं, ततः प्रातः कार्य्यसिद्धये गन्तव्यं त्वया" इति तां सखीमुपदिश्य सा स्वमावासं प्राविशत्।

अथ प्रातः सा मालतिका केनाप्यनुपलक्षिता तस्य कमलाकरस्य भवनं चिन्वती गत्वा तत्रोद्यानतरुमूले चन्दनार्द्रपद्मिनीदलशय्यायां स्थितम्, एकेन रहस्यविदा सुहृदा कदलीदलवीजनैराश्वास्यमानं, कामाग्निना दन्दह्यमानं, तं कमलाकरमद्राक्षीत्। सा तु,—"मम सख्या विना एतस्य ईदृशी कामावस्था स्यात्, न वा" इति वेदितुं प्रच्छन्ना विनिश्चयं तस्थौ। तावत् सुहृत् स कमलाकरमवादीत्,—"मित्र! क्षणमत्र मनोरमे उद्याने दत्तदृष्टिः अन्तःकरणं विनोदय,

---

मेरी यह हृदय की जलन शान्त नहीं होगी, यदि मुझे जीवित रखना चाहती हो तो किसी अच्छी युक्ति से मुझे उस प्रियतम से मिलाओ।" इस प्रकार कहनेवाली उस को स्नेह से भरी हुई मालती ने कहा—"हे सखी! आज तो करीब करीब रात बीत ही गयी तो कल सवेरे ही यहाँ तुम्हारे उस प्रियतम को इशारे से ले आऊँगी। इसलिये धैर्य धारण कर के इस समय अपने निवास-स्थान पर चलो" यह कहनेवाली उस सखी को उस अनङ्गमंजरी ने सन्तुष्ट होकर गले से निकाल कर मोती का हार पुरस्कार दिया। "इस समय हम दोनों घर चलें, फिर सवेरे कार्य पूरा करने के लिये तुम जाना" यह उस सखी को कह कर वह अपने निवास-भवन में गयी।

इसके बाद प्रातः काल उस मालती ने सभी से छिप कर उस कमलाकर का घर खोजती हुई जाकर वहाँ बगीचे के वृक्ष के नीचे चन्दन से गीले कमलिनी के पत्तों की शय्या पर पड़े हुए, गुप्त बातों के जानने वाले एक मित्र के द्वारा केले के पत्ते के पंखे से हवा किये जाते हुए, कामाग्नि से जलते हुए उस कमलाकर को देखा। वह तो—"मेरी सखी के बिना इस प्रकार की इसकी यह कामावस्था है? अथवा नहीं;" यह जानने के लिये छिप कर निर्णय समझना चाहती हुई खड़ी हो गयी। तब उसके उस मित्र ने कमलाकर को कहा—"मित्र! कुछ समय इस मनोहर उद्यान में दृष्टि डालकर मन

समुत्तस्थौ। स च स्वोत्पादकान् तान् चतुरोऽपि समुत्थाय अवधीत्, प्राविशच्च सद्योऽरण्यम्।

एवं ते द्विजपुत्राः सिंहनिर्माणदोषात् सर्व एव विनाशं गताः। दुष्टं जन्तुमुत्थाप्य कस्य वा सुखं भवेत्? इत्थं प्रतिकूले विधौ यत्नेनोपार्जितो गुणः न सम्पत्तये, प्रत्युत विपत्तये एव भवति। मूले दैवे विकृते प्रज्ञानवारिणा सिक्तः पौरुषपादपः नयाऽऽलवालः प्रायः फलति"।

इति कथां समाख्याय निशि गच्छन्तं तं भूपतिमपृच्छत्,—"राजन्! पूर्वकृतं शापं स्मृत्वा वद, क एषां सिंहनिर्माणे विशेषेण अपराध्यति?"। इति श्रुत्वा राजाऽसौ मौनी व्यचिन्तयत्,—"अयं पुनर्गन्तुमिच्छति, यातु, पुनरहमेनमानेष्यामि" इति निश्चित्य तमवादीत्,—"यस्तेषां मध्ये सिंहस्य प्राणदाता, स एव पापकृत्; प्राणिविशेषमबुद्ध्वा युक्तिबलात् यैर्मांसत्वग्लोमावयवनिर्माणं कृतं, तेषामज्ञानात् नैव दोषोऽस्ति, येन तु सिंहाकारं दृष्ट्वाऽपि विद्याप्रकाशकामेन

नखोंवाला, महाभयङ्कर सिंह उठकर खड़ा हो गया। और उठकर उसने अपने उत्पन्न करनेवाले उन चारों को मार डाला और उसी समय वन में चला गया।

इस प्रकार वे सभी ब्राह्मण-कुमार सिंह के बनाने के दोष से मारे गये। दुष्ट जीव को जिला कर किसको सुख होता है? इस प्रकार विधाता के प्रतिकूल रहने पर यत्नपूर्वक उपार्जन किया हुआ गुण भी सम्पत्ति के लिये नहीं होता है, उलटे विपत्ति के लिये हो जाता है। मूलकारणभूत दैव के अनुकूल रहने पर नीति की कियारीवाला पुरुषार्थरूपी वृक्ष विशेष ज्ञान रूपी जल से सींचे जाने पर प्रायः फलवान् होता है"।

यह कथा कहकर उस वेताल ने रात में जाते हुए उस राजा को पूछा—"महाराज! पहले के शाप को याद करके कहो कि इस सिंह के बनाने में सबसे अधिक अपराधी इनमें से कौन है?" यह सुनकर मौन धारण किये हुए उस राजा ने सोचा—"यह फिर जाना चाहता है, जाय, फिर मैं इसको लाऊँगा" यह निश्चय करके उसको कहा—"जो उनमें से सिंह का प्राण देनेवाला है, वही पापी है। विशेष प्राणी को बिना समझे हुए युक्ति के बल से जिन्होंने मांस, चमड़ा, रोएँ तथा अवयवों का निर्माण किया, न जानने के कारण उनका दोष नहीं है, जिसने सिंह का आकार देख कर भी

मा भृशं व्याकुलतां गमः"। तदाकर्ण्य स सुहृदं तं जगाद,—"मम अनङ्गमञ्जर्य्या मनो हृतं तदिदं मदीये शरीरे एव नास्ति, कुतो विनोदयामि ? स्मरेणाहं शून्यहृदयो बाणतूणीकृतोऽस्मि, तत् यथा तां मनश्चौरीं प्राप्नोमि, तथोपायं विधत्स्व"। इति तेनोक्ते सा मालती निःशङ्का सम्प्रहृष्टा समुपेत्य आत्मानं प्रदर्श्य तमुवाच,—"सुभग! अनङ्गमञ्जर्य्या तवान्तिकं प्रहिताऽस्मि, निसृष्टाऽहं ते सन्देशं ब्रवीमि; क एष शिष्टधर्मः, यद् हठात् हृदयं प्रविश्य मुग्धाया मनः मुषित्वा गम्यते ? चित्रमिदं, तथाऽपि वामदृशा तया अधुना मनोहराय तुभ्यं देहोऽपि प्राणैः सह दातुमिष्यते। सा हि सन्तप्तान् दिवानिशं हृदि ज्वलितस्य कामाग्नेधूमानिव निःश्वासान् विमुञ्चति, मुहुश्चास्याः साञ्जना बाष्पबिन्दवः वदनाम्भोजसौरभलुब्धा मधुकराः इव सम्पतन्ति, तत् यदीच्छसि, तदा उभयोः शिवं वच्मि"। इति मालत्या तथोक्तः कमलाकरः प्रोवाच,—भद्रे! तवेयं वाक् विधुरावस्थां बद्धभावाञ्च मे प्रियां वदन्ती भयं करोति, आश्वासयति च। तदेका

को बहलाओ, अत्यन्त व्याकुलता मत धारण करो"। यह सुनकर उसने उस मित्र से कहा—"मेरे मनको तो अनङ्गमञ्जरी ने हर लिया है, इस लिये वह मन तो मेरे शरीर में है ही नहीं; कैसे उसे बहलाऊँ ? कामदेव के द्वारा मैं मानो बाण का तरकस तथा शून्य-हृदय बना दिया गया हूँ, इस लिये जिस प्रकार उस मन के चुरानेवाली को प्राप्त करूँ, वैसा उपाय करो"। यह उसके द्वारा कहे जाने पर वह मालती निःशङ्क तथा प्रसन्न होकर वहाँ जाकर अपने को प्रकट करके उसको कहने लगी—"हे सुन्दर! अनङ्गमञ्जरी के द्वारा मैं तुम्हारे पास भेजी गयी हूँ। उसी के द्वारा प्रेरित होकर मैं उसका सन्देशा कह रही हूँ; यह कौन सा सभ्य व्यक्ति का धर्म है कि—जबर्दस्ती हृदय में प्रवेश करके मुग्ध भोली लड़की का मन चुरा कर चले गये हो ? आश्चर्य यह है कि तिस पर भी वह सुलोचना इस समय तुझे मन चुरानेवाले को प्राणों के साथ शरीर भी देना चाहती है। वह तो रातदिन हृदय में जलते हुए कामाग्नि के धूएँ के समान गर्म-गर्म निःश्वास छोड़ रही है, बार बार इसके काजर से सने हुए आँसू की बूँदें मुख-कमल के सौरभ के लोभी भौंरों के समान गिर रही हैं, तो यदि तुम चाहो तो दोनों के कल्याण का विषय कहूँ"। यह वचन मालती के द्वारा उस प्रकार से कहे जाने पर कमलाकर ने कहा—"हे भली औरत ! मेरी प्रियतमा को विकल दशावाली तथा अनुरक्त कहनेवाली तुम्हारी यह वाणी भय उत्पन्न करती है तथा आश्वासन भी देती है। तो इस विषय में एक तूँ ही शरण हो, इसलिये

प्राणास्तस्य दत्ताः, तेनैव ता ब्रह्महत्याः कृताः"। इति राज्ञो वचनं निशम्य स वेतालः स्वमेव धाम प्रायात्। राजाऽपि पुनस्तमनुसरन् शिंशपाऽन्तिकमगात्।

विद्या प्रकट करने की कामना से उसके प्राण दिये, उसी ने वे ब्रह्महत्याएँ कीं।" राजा का यह वचन सुनकर वह वेताल फिर अपने निवास-स्थान पर चला गया। राजा भी फिर उसका अनुसरण करते हुए शीशम के समीप गया।



त्वमेवात्र गतिः, तत् यथोपायं कुरुष्व"। इति तेनोक्ते मालती प्रत्यवोचत्,—"अद्य तामनङ्गमञ्जरीं गुप्तं नक्तं स्वभवनोद्यानं प्रापयिष्यामि, त्वं तत्र बाह्यतः तिष्ठेः, ततस्त्वां सुयुक्त्या तत्र प्रवेशयिष्यामि, इत्थं युवयोः समागमो भविता"। इति कथयित्वा तं विप्रपुत्रमानन्द्य मालती कृतार्था गत्वा तामनङ्गमञ्जरीम् अभ्यनन्दयत्।

अथाह्ना सह दिनपतौ सन्ध्यानुरागिणि क्वापि गते वासवाशया स्वानने इन्दुतिलकेन प्रसाधिते, पद्माकरं त्यक्त्वा श्रीरिदानीं मां प्राप्तेति हर्षात् उत्फुल्लवदने विशदे कुमुदाकरे हसति, स कामी कमलाकरः प्रसाधितांगः समुत्सुकः स्वैरं कान्तायास्तस्या गृहोद्यानद्वारि समुपागमत्। मालती च तामनङ्गमञ्जरीं कृच्छ्रात् गमितवासरां युक्त्या तत् गृहोद्यानमानिनाय, आनीय तां चूतशाखिनां तलेषु समुपवेश्य निर्गत्य तत्र तं कमलाकरं प्रावेशयत्। स च प्रविश्य पान्थ इव पत्रौघघनपादपमध्यवर्त्तिनीं छायामिव तामनङ्गमञ्जरीमद्राक्षीत्। यावच्च

जो उपाय होवे वह करो। यह उसके द्वारा कहे जाने पर मालती ने जवाब दिया—"आज रात में उस अनङ्गमञ्जरी को छिपाकर अपने भवन के बगीचे में पहुँचा दूँगी, तुम वहाँ बाहर में रहना, तब तुमको किसी अच्छी युक्ति से वहाँ प्रवेश कराऊँगी, इस प्रकार तुम दोनों का समागम होगा"। यह कहकर उस ब्राह्मण-कुमार को आनन्दित करके सफल बनी हुई उस मालती ने जाकर उस अनङ्गमञ्जरी को भी आनन्दित किया।

इसके बाद दिन के साथ दिनपति सूर्य के सन्ध्या का अनुराग धारण करते हुए कहीं चले जाने पर, पूर्वदिशा के चन्द्रमारूपी तिलक के द्वारा अपना मुख सजा लेने पर, कमल-सरोवर को छोड़कर इस समय शोभा मेरे ही पास आ गयी है। इस हर्ष से खिले हुए स्वच्छ कुमुद सरोवर के हँसते रहने पर वह कामी कमलाकर शरीर सजाकर और उत्कण्ठित होकर धीरे-धीरे उस प्रियतमा के घर के बगीचे के दरवाजे पर आ गया। और मालती बड़ी कठिनाई से दिन बितानेवाली उस अनङ्गमञ्जरी को युक्ति से घर के उस बगीचे में ले आयी। उसको लाकर आम के पेड़ों के नीचे बैठाकर स्वयं निकल कर उसने वहाँ उस कमलाकर को प्रवेश कराया। उस कमलाकर ने पत्तों के समूह से सघन पेड़ के मध्य में रहनेवाली छाया को जैसे एक पथिक देखता है उसी प्रकार पत्तों के समूह से सघन वृक्ष के मध्य में रहनेवाली उस अनङ्गमञ्जरी को देखा। जब तक वह उसके पास जाता

अथ त्रयोविंशकथा

ततः स राजा शिंशपातरुमुपेत्य मौनी दर्शितानेकवैकृतं तं वेतालं स्कन्धे नीत्वा प्रातिष्ठत। वेतालोऽपि स्कन्धे स्थितः तम् अब्रवीत्,—"राजेन्द्र! अकार्य्येऽप्येतस्मिन् ते दुर्वारो ग्रहः, तत्ते श्रमविनोदाय कथामिमां कथयामि, शृणु,—

आसीत् कलिङ्गदेशे शोभावती नाम पुरी, यस्यां दिवीव सुकृतिनः प्रतिवसन्ति स्म। प्रद्युम्न इव ऐश्वर्य्यवीर्य्यातिशयेन विश्रुतः प्रद्युम्नो नाम नृपतिः समूर्जितशासनस्तां शशास। यस्मिंश्च राजनि चापेषु गुणापकर्षः, मुरजेषु कराऽऽहतिः, युगेषु कलिः, प्रज्ञासु च तीक्ष्णता अश्रूयत। तस्याश्च पुनः क्वचित् प्रदेशे यज्ञस्थलाभिधानो बहुद्विजः कश्चिदग्रहारः नृपेण प्रतिष्ठापितः। तत्र कश्चित् वेदपारगो महाधनी अग्निहोत्री पूजितातिथिदेवः यज्ञसोमो नाम ब्राह्मणः समवात्सीत्।

तेइसवीं कथा

इसके बाद वह राजा शीशम के पेड़ के पास पहुँच कर मौन धारण किये हुए माया के अनेक विकार दिखलानेवाले उस वेताल को कन्धे पर उठाकर चले। कन्धे पर स्थित वेताल ने भी राजा को कहा—"राजेन्द्र! इस अनुचित कार्य में भी तुम्हारा दुराग्रह है, अतएव परिश्रम दूर करने के लिये तुमको यह कथा कहता हूँ, सुनो—

कलिङ्ग देश में शोभावती नाम की नगरी थी, स्वर्ग के समान जिस नगरी में केवल पुण्यवान् लोग रहते थे। प्रद्युम्न के समान ऐश्वर्य्य और बल की अधिकता से प्रसिद्ध, बढ़े हुए शासनवाला प्रद्युम्न नाम का राजा उसका शासन करता था। जिस राजा के रहने से धनुश्रों में गुण उतारा जाता था मनुष्यों में गुण की अवनति नहीं होती थी, मृदङ्गों में हाथ का ताड़न होता था प्रजाओं में राजकर का आघात नहीं होता था, युगों में कलियुग हुआ था किन्तु मनुष्यों में कलह नहीं होता था, बुद्धि में प्रखरता थी किन्तु मनुष्यों में कठोरता नहीं सुनायी पड़ती थी। उसी नगरी के किसी भाग में बहुत ब्राह्मणों से भरा हुआ यज्ञस्थल नाम का कोई गाँव राजा के द्वारा बसाया गया था। उस गाँव में कोई वेदों का पारंगत महाधनी, अतिथि और देवताओं की पूजा करनेवाला अग्निहोत्री यज्ञसोम नाम का ब्राह्मण

स तामुपैति, तावत् सा दृष्ट्वैव प्रधाव्य कामाऽऽवेशहृतव्रीडा कण्ठे तं सहसाऽग्रहीत्। "क यासि ? लब्धोऽसि मया मनस्तस्कर !" इत्यालपन्ती तत्क्षणं सा अतिहर्षभरस्तब्धनिःश्वासा पञ्चतामगात्, पपात च महीपृष्ठे वातरुग्णा लतेव, विचित्रं बत कामस्य विषमः क्रमः। तत् अशनिपातमुग्रं दृष्ट्वा स कमलाकरः सद्यः,—"हा ! हा ! किमेतत्।" इत्युक्त्वा मूर्च्छितो निपपात। क्षणेन च लब्धसंज्ञस्तां प्रियामङ्कमारोप्य आलिङ्गन् परिचुम्बन् बहु विलपंश्च तथा दुःखातिभारेण प्रसह्य न्यपीड्यत, यथा तस्यापि तदा हृदयमस्फुटत्। अथ तौ तथा क्षीणौ दृष्ट्वा रजनी ह्रिया भिया च क्षीणेवाभवत्।

अथ प्रातरुद्यानपालेभ्यस्तं वृत्तान्तं ज्ञात्वा तयोर्बन्धुजनः त्रपाऽऽश्चर्यदुःखमोहाऽऽकुलः तत्राऽऽगात्, कर्त्तव्यमूढश्च चिरमवाङ्मुखः समभवच्च। हा ! कष्टं कुयोषितः कुलखलीकारहेतवः। तस्मिश्चावसरे तस्याः पतिः मणिवर्मा अनङ्गमञ्जर्यां सोत्कण्ठः ताम्रलिप्तितः पितृ-

---

है, तब तक उसने देखते ही दौड़कर कामावेग से लज्जाहीन होकर एका-एक उसके गले को पकड़ लिया। "हे मेरे मन के चुरानेवाले ! अब मेरे द्वारा पकड़ लिये गये हो, अब कहाँ जाओगे ?" यह कहती हुई उस समय वह अत्यन्त हर्ष से निर्भर होने के कारण श्वास रुद्ध हो जाने से मर गई, और हवा से उजाड़ी हुई लता के समान भूतल पर गिर गयी। खेद है कि काम का कठोर प्रभाव विचित्र है। वह भयङ्कर वज्रपात देखकर वह कमलाकर उसी समय "हाय ! हाय ! यह क्या हुआ ?" यह कहकर मूर्च्छित होकर गिर गया। कुछ देर में होश में आकर उस प्रियतमा को गोदी में उठाकर आलिङ्गन और चुम्बन करते-करते जोरों से विलाप करते हुए दुःख के अत्यन्त भार से उस प्रकार अत्यन्त पीड़ित हुआ जिससे उसका भी हृदय उसी समय फट गया। इसके बाद उन दोनों को उस प्रकार मरे हुए देखकर रात भी मानो लज्जा और भय के कारण क्षीण हो गयी।

इसके बाद प्रातःकाल उद्यानपालकों से उस समाचार को जानकर उन दोनों के परिवार के लोग लज्जा, आश्चर्य, दुःख और मोह से व्याकुल होकर वहाँ आये, और किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होकर अधोमुख होकर बैठ गये। खेद तथा कष्ट यह है कि दुष्ट स्त्रियाँ खानदान को कर कलंकित का कारण होती हैं। उसी अवसर में उसका पति मणिवर्मा अनङ्गमञ्जरी के विषय में उत्कण्ठित होकर पिता के भवन ताम्रलिप्ति नगर से आया। उसने श्वशुर के

तस्य वार्द्धके अनुरूपायां भार्य्यायाम् एक एव सुतः समुदपद्यत। स च बालः पितुः प्रयत्नात् दिने दिने वर्द्धमानः शुभलक्षणयुतः देवसोम इति पित्रा कृतनामधेयः पित्रोरतिस्नेहपात्रतामगात्।

अथ प्राप्ते षोडशे वर्षे स बालकः विद्याविनयादिभिरावर्जित-समस्तजनः सहसा ज्वरेणाऽऽक्रान्तः पञ्चतामवाप। ततः परासुं तं दृष्ट्वा समाश्लिष्य च "हा हा" इति रुदन् यज्ञसोमः भार्य्यया सहितः स्नेहात् दाहाय न जहौ। "ब्रह्मन्! गन्धर्वनगरस्येव संसारस्य गतिं परावरज्ञोऽपि किं न वेत्सि?। ये हि राजानः अमरम्मन्या अस्मिन् भूलोके व्यलसन्, तेऽपि एकैकशः श्मशानेषु रुदत्प्रेतानुयायिपूर्णेषु चिताधिरूढाः क्रव्यात्कृशानुना दग्धाः, शिवाभिश्च कालेन कवलीकृताः, कैश्चिदपि न रोद्धुं शकिताः, का कथा अन्येषाम्? हे विद्वन्! तदेतं प्रेतमाश्लिष्य किं करोषि? वद"। इत्येवं वृद्धा बन्धवः मिलितास्तं प्राबोधयन्। ततः कथञ्चित् तेन मुक्तं तं सुतं शिविकामारोप्य ते बान्धवाः कोलाहलसमाकुलाः श्मशानं निन्युः।

रहता था। उसके बुढ़ापे में अपने अनुरूप पत्नी के गर्भ से एक ही पुत्र उत्पन्न हुआ। वह बालक पिता के प्रयत्न से दिन-दिन बढ़ता हुआ शुभ-लक्षणों से युक्त, पिता के द्वारा देवसोम यह नाम रक्खा हुआ माता-पिता के अत्यन्त स्नेह का पात्र बन गया।

इसके बाद सोलहवाँ वर्ष होने पर विद्या-विनय आदि गुणों से सभी लोगों का आकर्षण करनेवाला वह बालक एका-एक ज्वर से आक्रान्त होकर मर गया। तब मरे हुए उसको देखकर आलिङ्गन करके हाहाकार करके रोते हुए पत्नी सहित यज्ञसोम ने स्नेह के कारण जलाने के लिये नहीं त्याग किया। "हे ब्राह्मण! अच्छे-बुरे को जानते हुए भी क्या? गन्धर्व नगर के समान (बिखरे बादलों में हाथी ऊँट, आदि के आकार के समान) ससार की गति को नहीं जानते हो? क्योंकि जो राजा लोग अपने को अमर मानते हुए इस भूलोक में विलास कर रहे थे, वे भी एक-एक करके रोते हुए शव के अनुयायियों से भरे हुए श्मशानों में चिता पर चढ़ गये तथा मांस जलानेवाले अग्नि के द्वारा जलाये गये, समय तथा सियारों के द्वारा खा लिये गये, किसी के द्वारा नहीं रोके जा सके, दूसरों की बात ही क्या? हे विद्वान! तो इस शव का आलिङ्गन करके क्या करोगे? बोलो"। इस प्रकार वृद्ध बान्धवों ने मिलकर उन्हें समझाया। तब किसी प्रकार उनसे अलग हुए उस बालक को रथी पर उठाकर रुलाई के कोलाहल से भरे हुए के बान्धव गण श्मशान में ले गये।

गृहात् समाययौ। स श्वाशुरं गृहं प्राप्य तं व्यापारमवेत्य च बाष्पान्धलोचनो ध्यायन् तदेवोद्यानमागत्य भार्य्यां तामन्यसहितामपि गतासुं दृष्ट्वा शोकाग्निज्वलितांगः सद्यः प्राणान् विजहौ।

ततः सर्वस्मिन् जने कोलाहलाऽऽकुले क्रन्दति ज्ञातवृत्तान्ताः सर्वे पौरास्तत्र समाययुः। अथ अनङ्गमञ्जर्य्याः पित्रा पूर्वं प्रतिष्ठापिता सन्निहिता देवी चण्डी निजैः गणैः सकृपः विज्ञप्ताऽभूत्,—"मातः! त्वदाकारप्रतिष्ठापयिताऽयमर्थदत्तः सदैव ते भक्तो वणिक्, तदस्य अस्मिन् दुःखे दयां वितरतु भगवती" इति। एतत् गणेभ्यः श्रुत्वा शरण्या सा शङ्करी,—"शान्तानङ्गास्त्रयोऽपि एते जीवन्तु" इति समादिशत्। अथ सर्वेऽपि सुप्तप्रवुद्धा इव क्षणात् तत्प्रसादात् जीवन्तो गतमन्मथाः समुत्तस्थुः। ततो दृष्ट्वा तद्व्यापारं आनन्दे तत्रत्ये सर्वस्मिन् जने, कमलाकरः लज्जाऽवनतमुखः स्वगृहं प्रायात्। अर्थदत्तोऽपि तां ह्रीतां सुतामनङ्गमञ्जरीं भर्तृसहितामादाय सोत्सवं गृहं प्रविवेश"।

इति कथां कथयित्वा तस्यां रात्रौ पथि स वेतालः तं क्षोणीपति-

घर में पहुंच कर उस परिस्थिति को समझ कर आँसू के कारण अन्धा होकर सोचते हुए उसी वाटिका में आकर उस पत्नी को दूसरे के भी साथ मरी हुई देखकर शोकानल से प्रज्वलित अङ्ग होकर उसी समय प्राणों को त्याग दिया।

तब सभी लोगों के कोलाहल के साथ रोते रहने पर समाचार जानकर सभी पुरवासी वहाँ आ गये। इसके बाद अनङ्गमञ्जरी के पिता के द्वारा पहले ही स्थापित की हुई नजदीक में स्थित दुर्गा देवी अपने दयालु गणों के द्वारा निवेदन की गयीं—"माताजी! तुम्हारी प्रतिमा की स्थापना करनेवाला यह अर्थदत्त बनियाँ सदा तुम्हारा भक्त है, अतः इसके इस दुःख में आप दया करें"। अपने गणों से वह बात सुनकर शरणागतों की रक्षा करनेवाली उस भगवती ने—"काम-पीड़ा शान्त होकर ये तीनों जी जाँय" यह आदेश दिया। इसके बाद उनके प्रभाव से उसी समय वे सभी काम-पीड़ा शान्त होकर सोकर उठे हुए के समान जी कर उठ गये। इसके बाद यह वृत्तान्त देखकर वहाँ के सभी लोगों के आनन्दित हो जाने पर कमलाकर लज्जा से अधोमुख होकर अपने घर गया। अर्थदत्त ने भी पति के सहित लजायी हुई उस अनङ्गमञ्जरी पुत्री को लेकर उत्सव करते हुए अपने घर में प्रवेश किया।"

यह कथा कहकर उस रात में रास्ते में उस वेताल ने उस राजा को

अत्रान्तरे तत्र श्मशाने कोऽपि तापसः पाशुपतव्रती, मठिकायां कृतनिवासः, वयसा तपसा चातिभयसा कृशां तनुं बिभ्राणः, भङ्ग-भीत्येव शिराभिः परिवेष्टितः, विद्युत्पिशङ्गजटः, द्वितीयो महेश्वर इव प्रतिवसति स्म। तस्मिंश्च काले स तापसः तं जनकोलाहलं श्रुत्वा दृप्तोपालम्भबृंहितं भिक्षाफलकमन्तिकवर्त्तिनं शिष्यं जगाद,—"वत्स! कथमयं जनकोलाहलः श्रूयते, गत्वा बहिर्विज्ञाय सत्वरमागच्छ, कुतोऽयमश्रुतपूर्वः तुमुलो रवः?"। इति तेन गुरुणोक्तः स शिष्यस्तं प्रत्युवाच,—"नाहं यामि, त्वं स्वयमेव याहि, मे भिक्षासमयोऽतिक्रामति"। तदाकर्ण्य स गुरुरब्रवीत्,—"धिक् मूर्ख! उदरम्भरे! अह्नः अर्द्धप्रहरे याते का तव भिक्षावेला?"। श्रुत्वैव क्रुद्धः स कुशिष्यस्तं तापसं प्रत्यवदत्,—"धिक् जराजीर्ण! नाहं ते शिष्यः, त्वञ्च मे न गुरुः, अहमन्यत्र यास्यामि, त्वं स्वयम् इदं पात्रं वह" इत्युक्त्वा स क्रुद्धः अग्रे दण्डकुब्जिकां त्यक्त्वा समुत्थाय प्रायात्।

ततः स तापसः विहसन् तस्मात् मठात् निर्गत्य तत्रागात्, यत्र

इसी बीच में उस श्मशान में शङ्कर की आराधना करनेवाला कोई तपस्वी झोपड़ी में आश्रम बनाये हुए, अत्यन्त बढ़ी हुई उम्र तथा तपस्या से दुबला-पतला शरीर धारण किये हुए, मानों टूटने के डर से ही शिराओं से लपेटे हुए, बिजली की तरह पीली जटावाला, द्वितीय शङ्करजी के समान निवास करता था। उस समय में उस तपस्वी ने लोगों के कोलाहल को सुनकर ढीठ गालियों के बोलने में निपुण, भिक्षा की तुमड़ी रखनेवाले समीप में शिष्य को कहा—"बच्चे! क्यों यह जनता का कोलाहल सुनाई पड़ता है, बाहर जाकर समझ कर जल्दी आओ, क्यों यह अश्रुतपूर्व (पहले नहीं सुना हुआ) जोरों से हल्ला होता है"। यह उस गुरु के द्वारा कहे हुए उस शिष्य ने उनको जवाब दिया—"मैं नहीं जाऊँगा, आप स्वयम् ही चले जाइये, मेरे भोजन का समय बीत रहा है"। यह सुनकर उस गुरु ने कहा—"रे मूर्ख! पेटू! तुम्हें धिक्कार होवे, दिन का आधा पहर बीतते ही यह कौन सा तुम्हारे भोजन का समय है?" यह सुनते ही उस नीच शिष्य ने उस तपस्वी को उत्तर दिया—"हे बुढ़ापे से गले हुए! तुम्हें धिक्कार होवे, मैं तुम्हारा शिष्य नहीं हूँ और न तो तुम मेरे गुरु हो, मैं दूसरी जगह जाऊँगा, तुम स्वयम् इस बर्तन को ढोओ" यह कहकर क्रोधित होकर वह शिष्य उनके आगे डण्डा और तुमड़ी रखकर उठकर चला गया।

इसके बाद वह तपस्वी हँसते हुए उस झोपड़ी से निकल कर वहाँ गया

मगदत्,—"राजन्! कस्यैतेषु अनुरागमरणे मोहातिरेकः? जानंश्च न चेत् वदसि, तदा स पूर्वोक्त एव शापः स्मरणीयः"। तदाकर्ण्य राजा तं प्रत्युवाच,—"योगेश्वर! एतेषु मणिवर्मा एवातिमूढः, यो हि भार्य्यामन्यपुरुषाऽऽसक्तमृतां दृष्ट्वैव कोपकाले, प्रत्युत रक्तः शुचा प्राणानमुञ्चत्"। इति निगदितवतस्तस्य नृपतेः स्कन्धात् स वेतालः सहसा स्वं निलयं प्रतस्थे। राजाऽपि भूयस्तथैव कृतप्रयत्नस्तमन्वधावत्।

कहा—"महाराज! प्रेम के कारण इन तीनों मरनेवालों में किस की अधिक मूर्खता है? जानते हुए भी यदि नहीं बोलोगे तो वही पहले का दिया हुआ शाप स्मरण करो"। यह सुनकर राजा ने उसको जबाव दिया—"हे योगेश्वर! इन सबों में मणिवर्मा ही सबसे बड़ा मूर्ख है, जिसने कि पत्नी को अन्यपुरुष में आसक्त होकर मरी हुई देखकर क्रोध करने के समय में भी इसके विरुद्ध अनुरक्त होकर शोक से प्राणों को त्याग दिया"। यह कहनेवाले उस राजा के कन्धे से वह वेताल एका-एक अपने निवास-स्थान पर चला गया। राजा भी फिर उसी प्रकार प्रयत्न करते हुए उसके पीछे गया।

दाहार्थं स मृतो द्विजार्भकः समानीतः। तं जनतया शोच्यमानाग्र-यौवनं दृष्ट्वा जराऽर्दितः स योगी तद्देहं प्रवेष्टुं मतिमकरोत्; ततः एकान्ते गत्वा मुक्तकण्ठं प्ररुद्य च यथोचितैरङ्गहारैर्ननर्त्त। ततः क्षणेन स तपस्वी पुनः यौवनसुखम् अनुबुभूषुः योगात् स्वां जीर्णां तनुं विहाय तद् द्विजपुत्रकलेवरं प्राविशत्। क्षणे च तस्मिन् स द्विजयुवा रचितायां चितायां सहसा लब्धजीवः समुत्तस्थौ। तदव-लोक्य बन्धुवर्गस्य सर्वस्य,—"दिष्ट्याऽयं बालको जीवति जीवति" इति सहर्षनिनादः समुदचरत्।

अथ विप्रपुत्रशरीरान्तःस्थः स योगेश्वरः तान् बन्धूनब्रवीत्,—"लोकान्तरगतस्य मम शर्वेण जीवितं दत्त्वा 'महापाशुपतव्रतं त्वया धार्य्यम्' इति समादिष्टम्। अधुनैव मया एकान्ते गत्वा तद्व्रतं ग्राह्यं, नो चेत् मे जीवितं नास्ति, तद्यूयं गृहं यात, अहमपि यामि" इति सर्वान् तत्रस्थान् सम्बोध्य, दृढनिश्चयः हर्षशोकाऽऽकुलान् तान् स्वगृहं प्रेषयामास; स्वयञ्च गत्वा तत् पूर्वकलेवरं श्वभ्रे क्षिप्त्वा गृहीत-व्रतो युवीभूय अन्यतो ययौ"।

जहाँ जलाने के लिये ब्राह्मण का वह मरा हुआ बालक लाया गया था। जन-समूह के द्वारा शोक किये जाते हुए, नवीन युवावस्थावाले उसको देखकर बुढ़ापे से पीड़ित उस योगी ने उसके शरीर में प्रवेश करने का विचार किया। तब एकान्त में जाकर ऊँचे स्वर से रोने के पश्चात् यथोचित अङ्ग-विक्षेप करते हुए नाचने लगा। इसके बाद थोड़ी ही देर में उस तपस्वी ने फिर युवावस्था के सुख के अनुभव करने की इच्छा से योगबल से अपने जर्जर शरीर को छोड़कर ब्राह्मण के पुत्र के उस शरीर में प्रवेश किया। और उसी समय वह ब्राह्मण-युवक बनायी हुई चिता में एका-एक जीवित होकर उठ बैठा। यह देखकर सम्पूर्ण बान्धव-समूह का "भाग्य से यह बालक जीवित है, जीवित है" यह हर्ष का शब्द उच्चारण होने लगा।

इसके बाद ब्राह्मण के पुत्र के शरीर के अन्दर स्थित होकर उस योगि-राज ने उन बन्धुओं को कहा—"परलोक में जाने पर शङ्कर जी ने मुझे जीवन दान देकर 'महापाशुपतव्रत तुम्हे धारण करना चाहिये' यह आदेश दिया है। इसी समय मुझे एकान्त में जाकर वह व्रत ग्रहण करना है; नहीं तो मेरा जीवन नहीं रहेगा। इसलिये तुम लोग घर जाओ, मैं भी जा रहा हूँ" यह वहाँ उपस्थित सभी लोगों को समझा कर दृढ़ सिद्धान्तवाले उसने हर्ष तथा शोक से भरे हुए उन लोगों को अपने घर भेज दिया। और स्वयं जाकर अपने उस पहले के शरीर को गड्ढे में फेंक कर व्रत धारण किये हुए युवक बनकर कहीं दूसरी जगह चला गया"।

अथ द्वाविंशकथा ।

अथ राजा तमेव शिंशपातरुं गत्वा तञ्च वेतालमादाय स्कन्धे आरोप्य च गन्तव्यभूमिमभिप्रतस्थे। तञ्च प्रस्थितं पथि पुनः वेतालः प्राक्रमत वक्तुं,—"राजन् ! साधु, सुसत्त्वस्त्वं, तदपूर्वामिमामपरां कथां कथयामि, श्रूयताम् ,—

अस्ति कुसुमपुरं नाम नगरम्। तत्राऽऽसीत् धरणीवराहो नाम भूपतिः। तस्य ब्राह्मणभूयिष्ठे राज्ये ब्रह्मस्थलाभिधोऽग्रहारोऽभवत्। तत्र विष्णुस्वामी नाम कोऽपि द्विजः प्रतिवसति स्म, तस्य हविर्भुज इव स्वाहा नाम भार्य्याऽभूत्। तस्यां तस्य चत्वारः सुता जज्ञिरे। ते च कालक्रमेण पितरि स्वर्गते ज्ञातिभिर्हृतसर्वस्वा मिथो मन्त्रयाञ्चक्रुः,—"इह अस्माकं गतिर्नास्ति, वयं व्रजामः" इति मन्त्रयित्वा यज्ञस्थलाभिधे ग्रामे मातामहाऽऽवासं वहुभिर्दिनैरगमन्, तत्र मातामहाभावात् मातुलैः सुसत्कृताः स्वाध्यायतत्परास्तस्थुः।

वाइसवीं कथा—

इसके वाद राजा उसी शीशम के पेड़ के पास जाकर उस वेताल को लेकर कन्धे पर उठाकर अपनी लक्ष्य-भूमि की ओर चले। और रास्ते में चलने हुए उस राजा को फिर वेताल ने कहना प्रारम्भ किया—"महाराज ! तुम सज्जन और बहुत साहसी हो, इसलिये एक अपूर्व दूसरी कथा कहता हूँ, सुनो—

कुसुमपुर नाम का नगर है, वहाँ धरणीवराह नाम का राजा था। उसके अधिकांश ब्राह्मणों से भरे हुए राज्य में ब्रह्मस्थल नाम का ग्राम (गाँव) था। उसमें विष्णुस्वामी नाम का कोई ब्राह्मण निवास करता था। अग्नि के समान उस ब्राह्मण की स्वाहा नाम की पत्नी थी। उसके उस पत्नी से चार पुत्र पैदा हुए। वे लड़के कालक्रम से पिता के स्वर्ग चले जाने पर दायादों के द्वारा सर्वस्व हरण कर लिये जाने पर आपस में मन्त्रणा करने लगे— "यहाँ हमलोगों की कोई गति नहीं है, इसलिये हमलोग कहीं दूसरी जगह चलें" यह मन्त्रणा करके कई दिनों में यज्ञस्थल नाम के गाँव में अपने मातामह के निवास स्थान-पर पहुँचे। वहाँ मातामह के न रहने से मातुलों के द्वारा सत्कार प्राप्त करके पढ़ने-लिखने में संलग्न होकर रहने लगे।

इति कथां समाख्याय वेतालः निशि पथि यान्तं तं त्रिविक्रमसेनं नृपं पुनरब्रवीत्,—"राजन्! ब्रूहि, स योगीन्द्रः परदेहे प्रविशन् कथं वा पूर्वं प्रारुदत्? किमर्थं वा अनृत्यत्? अत्र मे महत् कौतुकं वर्त्तते"। इति वेतालात् श्रुत्वा शापशङ्की राजा मौनं विमुच्य तमवादीत्,—"शृणु वेताल! सिद्धिकारकं बाल्ये पितृभ्यां लालितम् अद्य इदं त्यजामीति दुःखितः दुस्त्यजदैहिकस्नेहात् प्रथमं रुरोद; नवं देहं प्रविश्य अधिकं व्रतं साधयिष्यामि इति यौवनलाभहर्षात् ननर्त्त च"। एतत् तस्य राज्ञः वचनं निशम्य स वेतालः पुनः सहसा तं शिंशपापादपमगमत्। राजाऽपि अविचलितोत्साहः पुनस्तमन्वसरत्।

यह कथा कह कर वेताल ने रात में रास्ते में चलते हुए उस त्रिविक्रमसेन राजा को फिर कहा—"महाराज! कहो, वह योगिराज दूसरे शरीर में प्रवेश करते हुए क्यों पहले रोदन किये तथा क्यों नाचने लगे? इस विषय में मेरा बहुत बड़ा कुतूहल है"। यह वेताल से सुनकर शाप से डरे हुए उस राजा ने मौन त्याग कर उसको कहा—"सुनो वेताल! सिद्धि देनेवाले और बचपन में माता-पिता के द्वारा प्यार किये हुए उस शरीर को आज छोड़ रहा हूँ, इस बात से दुखी होकर मुश्किल से त्याग करने योग्य देह-सम्बन्धी स्नेह से पहले तो उसने रोदन किया था, नवीन शरीर में प्रवेश करके अधिक व्रत का साधन करूँगा, इस विचार से युवावस्था के प्राप्त होने के हर्ष से उसने नृत्य किया था"। उस राजा का यह वचन सुनकर वह वेताल फिर एकाएक उसी शीशम के पेड़ पर चला गया। राजा भी उत्साह से अविचलित होकर फिर उसका अनुसरण किये।

कालक्रमेण ते अकिञ्चनाः भोजनाच्छादनादिषु तेषां मातुलानामवज्ञाभाजनतां जग्मुः। ततः स्वजनजेनावमानेन हतात्मनां तेषां ज्येष्ठः रहसि तानब्रवीत्;—"भ्रातरः! किं क्रियते? सर्वं विधिकृतमवधारयत; पुरुषस्येह कस्यचित् कचित् किमपि कर्त्तुं न शक्यम्। अहं हि उद्वेगेन भ्राम्यन् काननं प्राप्तः अद्य विपन्नस्थितं स्रस्ताङ्गं पुरुषं भुवि अद्राक्षम्, अचिन्तयञ्च तां गतिं स्पृहयन्,—'अयं हि धन्यः, यः दुःखभारं विमुच्य स्थितः' इति सञ्चिन्त्य तत्कालं मरणनिश्चयं कृत्वा वृक्षाग्रलम्बिना पाशेन आत्मानमुदलम्बयम्; यावच्च विसंज्ञस्य मे असवो न निर्यान्ति, तावत् त्रुटितपाशोऽहं महीतले पतितोऽस्मि, लब्धसंज्ञश्च केनापि कृपालुना पुंसा तत्क्षणमागतेन पटमारुतैराश्वास्यमानमपश्यम्। ततः स मामब्रवीत्;—'सखे! कथय, विद्वानपि कं प्रति एवं खिद्यसे? सुकृती सुखमाप्नोति, दुष्कृती दुष्कृतादेव दुःखमाप्नोति, नान्यतः। दुःखात् यदि तवेदृशः समुद्योगः, तत्

समय बीतने के क्रम से वे दरिद्र लड़के भोजन-वस्त्र के विषय में अपने मातुलों (मामाओं) के अपमान के पात्र बन गये। तब अपने सम्बन्धी से उत्पन्न अपमान से दुखी रहनेवाले उनमें से बड़े भाई ने एकान्त में अन्य तीनों को कहा—"भाइयो! क्या किया जाय? यह विधाता का किया हुआ है, यही समझो, इस संसार में कहीं भी किसी मनुष्य का कुछ भी करना साध्य नहीं है। क्योंकि मैं आज व्याकुलता से घूमते हुए जंगल में पहुँचा था; वहाँ पृथ्वी पर मरकर पड़े हुए ढीले अङ्गोंवाले मनुष्य को देखा और उसी परिस्थिति की लालसा करते हुए सोचने लगा—'यह धन्य है, जो दुःख का भार त्याग करके पड़ा हुआ है' यह सोचकर उस समय मरने का निश्चय करके वृक्ष के अग्रभाग से लटके हुए पाश (फाँसी की रस्सी) में अपने को लटका दिया। जब तक बेहोश होने पर मेरे प्राण नहीं निकले थे तब तक रस्सी टूट जाने से जमीन पर गिर गया। जब होश में आया तो उसी समय आये हुए किसी दयालु पुरुष के द्वारा कपड़े की हवा से परिचर्या किये जाते हुए अपने को देखा। तब उसने मुझे कहा—"मित्र! कहो, विद्वान् होकर भी किस विषय में इतना दुखी हो रहे हो? पुण्यवान् सुख प्राप्त करता है, पापी अपने पाप से ही दुःख प्राप्त करता है, दूसरे से नहीं। दुःख से यदि तुम्हारा इस प्रकार का प्रयत्न हुआ है तो पुण्य का आचरण करो, आत्महत्या करने से क्यों नरक

अथ चतुर्विंशकथा ।

ततः स राजा तां तिमिरश्यामां चिताग्निज्वलितेक्षणां घोरां रजनिराक्षसीमगणयन् वीरः तस्मिन् भीषणे श्मशाने तां शिंशपां गत्वा तं वेतालं स्कन्धमारोप्य पूर्ववत् प्रातिष्ठत। वेतालोऽपि गच्छन्तं तं नरदेवमुवाच,—"भो राजन्! अहं गतागतैर्भृशमुद्विग्नः, न पुनस्त्वं, तदेकं मे महाप्रश्नं कथयतः समाकर्णय,—

आसीत् पुरा दक्षिणापथे धर्मो नाम मण्डलेश्वरः साधूनां धुरन्धरः बहुगोत्रजः नरपतिः। तस्य चन्द्रावती नाम मालवदेशभवा भार्य्याऽऽसीत्, तस्यां कन्यैका प्रसूता। तस्याञ्च कन्यायां प्रदेयायां स धर्मनरपतिः राष्ट्रभेदिभिर्दायादैर्मिलितैरुन्मूलितः पलाय्य सुदृशा भार्यया तया च दुहित्रा सह रात्रौ सङ्गृहीतरत्नसञ्चयः स्वराष्ट्रात् निरगात्। मालवे श्वाशुरं गृहं प्रति स्वैरं गच्छन् स तया पत्न्या सुतया च सह विन्ध्याटवीमास-

---

चौबीसवीं कथा

तब वह वीर राजा अन्धकार से काली, चिता की अग्निरूपी प्रज्वलित आँखवाली भयङ्कर रात्रिरूपिणी राक्षसी की परवाह नहीं करते हुए उस भयङ्कर श्मशान में उस शीशम के पास जाकर उस वेताल को कन्धे पर उठाकर पहले की तरह चल दिये। वेताल ने भी जाते हुए उस राजा को कहा—"हे महाराज! मैं तो जाने-आने से अत्यन्त ऊब गया हूँ, और तुम नहीं ऊबे हो, इसलिये मुझ कहनेवाले से एक बहुत बड़ा प्रश्न सुनो—

प्राचीनकाल में दक्षिण देश में सज्जनों में अग्रेसर बहुत परिवारवाले मण्डलेश्वर (बारह राजाओं के शासक) धर्म नाम के राजा थे। उसकी मालव देश में उत्पन्न होनेवाली चन्द्रावती नाम की पत्नी थी। उसके गर्भ से एक पुत्री उत्पन्न हुई। उस कन्या के विवाह योग्य होने पर वह धर्म नामक आपस में मिले हुए राष्ट्रभङ्ग करनेवाले दायादों के द्वारा उखाड़ फेंके हुए (राज्यच्युत बने हुए) रात में रत्नों का संग्रह करके उस सुन्दर आँखवाली पत्नी तथा पुत्री के साथ भाग कर अपने राष्ट्र से निकल गया। मालव देश में श्वशुर के घर के लिए धीरे-धीरे जाते हुए वह उस पत्नी तथा पुत्री के

साद; तस्यां कथञ्चित् श्रान्तया भार्य्यया सुतया च परिखिन्नः निशामनयत्।

अथ प्रातः भगवान् विभावसुः करान् प्रसारयन्,—"मा गाश्चौराटवीमेताम्" इति तं राजानं वारयन्निव पूर्वां दिशमारुरोह। ततो राजा पदातिः त्रसन्त्या सुतया जायया च सह कुशकण्टकैः क्षताङ्घ्रिः भिल्लानां परेषां प्राणसर्वस्वहारिभिः पुम्भिरावृतां धार्मिकजनरहितां कृतान्तनगरीमिव दुर्गां पल्लीमगच्छत्। तत्राऽऽगच्छन्तं वसनाऽऽभरणान्वितं तं दूरात् दृष्ट्वैव वहवो दस्यवः सायुधा मुषितुं प्राधावन्! राजा तानागच्छतो विलोक्य भार्य्यासुते जगाद,—"म्लेच्छा इमे मा युवां स्पृशन्तु, एतत् गहनं वनं विशतम्" इति राज्ञाऽभिहिता राज्ञी तया लावण्यवत्या तनयया सह भयात् वनमध्यं विवेश। वीरः स राजा तु अभिमुखाऽऽयातान् शरवर्षिणस्तान् शवरान् खड्गचर्मधरः वहून् न्यवधीत्। ततः पल्लीपतिनाऽऽज्ञप्ताः सर्वे दस्यवः निपत्य प्रहारक्षतसर्वाङ्गं तमेककं नृपं निजघ्नुः। ततः गृहीताऽऽभरणे दस्युसैन्ये प्रयाते सा राज्ञी वनगुल्मान्तरस्थिता भर्त्तारं निहतं दृष्ट्वा

साथ विन्ध्याचल के जङ्गल में पहुँचा। उस जंगल में थकी हुई पत्नी तथा पुत्री से दुःखी होकर किसी प्रकार उसने रात वितायी।

इसके बाद प्रातःकाल भगवान् सूर्य किरणों को फैलाते हुए "इस चोरों के जंगल में मत जाओ" इस रूप में उस राजा को रोकते हुए के समान पूरब दिशा में चढ़ आये। इसके बाद राजा पैदल ही डरनेवाली पुत्री तथा पत्नी के साथ कुश और काँटों से विक्षत पैरवाले भीलों के तथा इसी प्रकार के अन्य लोगों के प्राण तथा सर्वस्व हरण करनेवाले पुरुषों से भरे हुए धार्मिक लोगों से हीन यमपुरी के समान अगम्य एक जंगली गाँव में प्रवेश किये। वहाँ वस्त्र-आभूषणों से युक्त दूर से ही इस राजा को आते हुए देखकर हथियार लिये हुए बहुत से लुटेरे लूटने के लिये दौड़ पड़े। राजा ने उनको आते हुए देखकर पत्नी और पुत्री को कहा—"ये लोग म्लेच्छ हैं, तुम दोनों को छुएँ न, इसलिये इस सघन वन में घुस जाओ"। राजा के द्वारा ऐसी कही हुई रानी उस लावण्यवती पुत्री के साथ डर से वन के मध्य में घुस गई। ढाल-तलवार लिये हुए उस वीर राजा ने तो बाणों की वर्षा करते हुए सामने आनेवाले वहुतों भीलों को मार डाला। तब उस गाँव के स्वामी के द्वारा आज्ञा पाये हुए सभी लुटेरे आक्रमण करके प्रहार से विक्षत सम्पूर्ण अङ्गवाले अकेले उस राजा को मार दिये। इसके बाद उनका आभरण लेकर लुटेरों की सेना के चले जाने पर वह रानी जंगल की

वर्त्तिताहठकासुकः कूटतापसः निहतः। त्वं मया स्वांशतः विक्रमादित्यः सृष्टः म्लेच्छरूपावतीर्णानामसुराणां शान्तये, उद्दामदुर्वृत्तानां दिसनाय च। अतः सद्वीपपातालां महीं वशे स्थापयित्वा विद्याधराणामधिराजो भविष्यसि; तत्र च चिरं दिव्यान् भोगान् भुक्त्वा, स्वेच्छया च तान् त्यक्त्वा अन्ते ममैव सायुज्यमवाप्स्यसि। एतञ्च अपराजितं नाम खड्गं मत्तो गृहाण, अस्यैव प्रसादात् यत् यदुक्तं, तत् सर्वं ते सेत्स्यति" इत्युक्त्वा तं खड्गरत्नं तस्मै दत्त्वा, वाक्पुष्पैश्च तेनार्चितः शम्भुः देवैः सह तिरोदधे।

अथ कथोपसंहारः।—

अथ सर्वं कार्य्यं समाप्तं निशाञ्च प्रभातां दृष्ट्वा राजा स्वपुरं प्रतिष्ठानं प्रविवेश। तत्र प्रकृतिभिर्विहितोत्सवाभिरभ्यर्च्चितः स्नानदानगिरिशार्च्चनगीतवाद्यादिभिः तत् सर्वं दिनमनयत्। ततः स्वल्पैरेव दिवसैः भगवतः शङ्करस्य प्रसादात् सद्वीपां सपातालां सर्वां महीं

वत्स! तुमने जो हट करके विद्याधर-समूहों के चक्रवर्ती राजा का पद चाहने वाले इस कपट तपस्वी को मारा है यह अच्छा किया है। तुम मेरे द्वारा अपने अंश से म्लेच्छरूप में अवतार लिये हुए असुरों का विनाश करने के लिये और उद्दण्ड दुराचारियों का दमन करने के लिये विक्रमादित्य रूप में सृजन किये गये हो। इस लिये सभी द्वीप तथा पाताल-सहित पृथ्वी को अपने वश में रखकर विद्याधरों का राजा होओगे, और वहाँ बहुतों दिनों तक स्वर्गीय भोगों का भोगकर के अपनी इच्छा से ही उन्हें छोड़कर अन्त में मेरी ही सायुज्य मुक्ति प्राप्त करोगे। और यह अपराजित नाम का खड्ग मुझसे ग्रह करो, इसी के प्रभाव से जो जो मैंने कहा है वह सभी तुमको सिद्ध होंगे" यह कहकर रत्नभूत वह खड्ग उसको देकर वचनरूपी पुष्पों से (स्तुति के वचनों से) उसके द्वारा सम्मानित होकर देवताओं के साथ शंकर जी अन्तर्धान हो गये।

कथा का उपसंहार

इसके बाद सभी कार्य के समाप्त हुए तथा रात को प्रभात बनी हुई देख कर राजा अपने नगर तथा निवास-स्थान में प्रवेश किये। वहाँ उत्सव करने वाली प्रजाओं के द्वारा संमानित होकर स्नान-दान, शिव-पूजन, गीत-वाद्य आदि के द्वारा उसने वह सम्पूर्ण दिन बिताया। इसके बाद उस राजा ने थोड़े ही दिनों में भगवान् शंकर जी के प्रसाद से सभी द्वीप और पाताल सहित निष्कण्टक सम्पूर्ण पृथ्वी को वश में करके भोग किया। इसके बाद

सुतता सह विह्वला पलायमाना अन्यत् दूरं गहनमरण्यं विवेश। तत्र मध्याह्नभानुतापितेषु अध्वगेषु शाखिनां छायासु निषण्णेषु एकदेशे कस्यचित् पद्मसरसस्तीरे अशोकतरुतले सा राजमहिषी चन्द्रावती सुतया लावण्यवत्या नितरां श्रान्तया भयशोकव्याकुलया सह समुपाविशत्। तावत् अभ्यर्णनिवासी कोऽपि महामनुष्यः चण्डसिंहो नाम सपुत्रः अश्वाऽऽरूढः मृगयार्थं तद्वनमभ्यागात्। स सिंहपराक्रमं नाम पुत्रं तयोः राजभार्य्यासुतयोः पादपद्धती दृष्ट्वा प्रोवाच,—"पुत्र! एते सुरेखे सुभगे पादपद्धती अनुसृत्य यदि स्त्रियौ प्राप्नुवः, तदा तयोरेकां यथारुचि स्वीकुरुष्व"। इत्युक्तवन्तं तं पुत्रः सिंहपराक्रमः प्रोवाच,—"तात! यस्याः सूक्ष्मौ पादौ रेखयाऽनया दृश्येते, सा भार्य्या ममैव प्रतिभाति; बृहत्यौ यस्याः पादपद्धती दृश्येते, एषा ज्येष्ठवयास्तव योग्या"। इति सूनोर्वचनमाकर्ण्य स चण्डसिंहस्तं जगाद,—"पुत्र! कैषा कथा तव? जननी तव प्रत्यक्षमेव दिवं गता, तादृशे सुकलत्रे गते अन्यवासना मे कैव?"। तदाकर्ण्य सोऽपि तं पितरमुवाच,—

झाड़ियों में छिपकर पति को मरे हुए देखकर पुत्री के साथ विह्वल होकर भागती हुई दूर में किसी दूसरे घोर वन में प्रवेश कर गई। वहाँ दोपहर के सूर्य से सन्तप्त होकर पथिकों के वृक्षों की छाया में बैठे रहने पर, एक भाग में किसी कमल-सरोवर के तीर में अशोक के वृक्ष के नीचे वह राजरानी चन्द्रावती भय और शोक से व्याकुल अत्यन्त थकी हुई लावण्यवती पुत्री के साथ बैठ गयी। तबतक समीप ही में कहीं निवास करनेवाला चण्डसिंह नाम का कोई बड़ा आदमी पुत्र के साथ घोड़े पर चढ़ा हुआ शिकार खेलने के लिए उसी वन में आया। उसने राजा की पत्नी और पुत्री के पैरों की पंक्ति देखकर सिंहपराक्रम नाम के पुत्र को कहा—"हे पुत्र! इन दोनों शुभ रेखावाली सुन्दर पैरों की पंक्तियों का अनुसरण करके यदि हम दोनों, स्त्रियों को प्राप्त करें तो उन दोनों में से जो पसन्द हो उस एक को स्वीकार करना"। ऐसा कहनेवाले उसको सिंहपराक्रम पुत्र ने कहा—"पिताजी! जिसके इस रेखा से छोटे-छोटे पैर दिखाई देते हैं, वह मेरी ही पत्नी होने योग्य है, जिसकी बड़े-बड़े पैरों की पंक्ति दिखाई पड़ती है, यह बड़ी उम्र की होगी अतः आपके योग्य है"। यह पुत्र का वचन सुनकर उस चण्डसिंह ने उसे कहा—"पुत्र! यह तुम्हारी कैसी बात है? तुम्हारी माता आँखों के सामने ही परलोक चली गयी, उस प्रकार की अच्छी पत्नी के चले जाने पर दूसरी स्त्री के विषय में मेरी कैसी वासना होगी?" यह सुनकर उसने भी उस

निष्कण्टकां वशीकृत्य बुभुजे। अथ महतीं वि
चिरं तत्सुखानि सम्भुज्य भगवत्सायुज्यमन्ते यः

इति वेतालपञ्चविंशतिः समाप्ता

बड़ी विद्याधरों की समृद्धि को प्राप्त करके बहुत वि
भोग करके अन्त में उस राजा ने भगवान शंकर
प्राप्त की।

इति मैथिल भूसुर श्री दामोदर झा साहित्याचार्य
की वेतालपञ्चविंशति की हिन्दी टीक

॥ शुभमस्तु ॥

"तात ! मैवम्, अभार्य्यं हि गृहपतेः गृहं शून्यम्। अन्यच्च, मूलदेवोक्ता कथा त्वया किं न श्रुता ? यत्र घनस्तनजघना मार्गावलोकिनी कान्ता नाऽऽस्ते, कः अजडः तत् अनिगडं गृहसंज्ञकं दुर्गं प्रविशति ? तत् तात ! मम जीवितेन शापितोऽसि, यदि मदभीष्टाया द्वितीयां भार्य्यां त्वं न स्वीकरिष्यसि"। एतत् पुत्रवचः श्रुत्वा स चण्डसिंहः "तथा" इति प्रतिपद्य, ससुतः तां पादपद्धतिमनुसरन् शनैः ययौ। प्राप्य तत् सरःस्थानं तां श्यामां चन्द्रावतीं राज्ञीं रूपलावण्यविभासिनीं ददर्श, उपाययौ च सकौतुकः सह पुत्रेण ताम्। साऽपि तं दृष्ट्वा चौरशङ्किनी वित्रस्ता समुत्तस्थौ। "अलं त्रासेन नौ, एतौ चौरौ न, सौम्याकृती सुवेशाङ्कौ कौचित् आखेटकृते नूनमिहाद्य प्राप्तौ"। इति सुतया बुद्धिमत्याऽभिहिता राज्ञा यावत् दोलायते, तावदश्वावतीर्णश्चण्डसिंहः पुरोवर्त्ती तामुवाच,—"सुन्दरि ! अलं सम्भ्रमेण, आवाम् इह मृगयार्थमागतौ, तत् विश्वस्य निराशङ्के वदतं, के युवां हरनेत्रानलज्वाला-दग्धमन्मथदुःस्थिते रतिप्रीती इव अरण्यमेवमुपागते ? कथं वा इह

पिता को कहा—"पिता जी ! ऐसा मत कहिये, क्योंकि पत्नी के न रहने पर गृहस्वामी का घर शून्य मालूम होता है। दूसरा कारण यह भी है कि मूलदेव की कही हुई बात क्या आपने नहीं सुनी है ? कि जहाँ ऊँचे स्तन और जघनवाली तथा मार्ग-अवलोकन करनेवाली पत्नी नहीं है, मूर्खता से हीन कौन ऐसा विद्वान् होगा जो हथकड़ी-बेड़ी से रहित उस गृहनामक जेल में प्रवेश करेगा ? इस लिये हे पिताजी ! आप मेरे जीवन का शपथ दिये जा रहे हैं कि यदि मेरी चुनी हुई स्त्री से अन्य दूसरी स्त्री को पत्नी के रूप में नहीं स्वीकार करियेगा तो"। पुत्र का यह वचन सुनकर वह चण्डसिंह "वैसा ही करूँगा" यह स्वीकार करके पुत्र के सहित उन पैरों की पंक्तियों का अनुसरण करते हुए क्रमशः गया। उस सरोवर के स्थान पर पहुँच कर रूप के लावण्य से चमकनेवाली सुन्दरी उस चन्द्रावती रानी को उसने देखा और पुत्र के साथ वह कुतूहलवश उसके पास पहुँचा। वह भी उसको देखकर चोर की शङ्का करती हुई भयभीत होकर उठकर खड़ी हो गयी। "हम दोनों को डरना व्यर्थ है, ये दोनों चोर नहीं हैं, अच्छे आकार तथा सुन्दर वेषभूषावाले कोई अवश्य शिकार के लिये आज यहाँ आये हैं" यह बुद्धिमती पुत्री के द्वारा कही हुई रानी जब तक सन्देह में अनिश्चित रहती है तबतक घोड़े से उतर कर चण्डसिंह ने सामने खड़ा होकर कहा—"हे सुन्दरि ! घबड़ाना व्यर्थ है, हम दोनों यहाँ शिकार खेलने के लिये आये हैं, तो विश्वास करके निःशङ्क होकर कहो कि तुम दोनों कौन हो ?

अमानुषे वने प्रविष्टे स्थः ? इदं हि युवयोर्वपुः रत्नप्रासादवासार्हं, किमिति वराङ्गनविचरणयोग्यौ चरणौ कण्टकिनीमिमां भुवमवतारितौ ? चित्रमिदम्, एषा युवयोराननने पतन्ती वातोद्धृता धूलिरावयोर्मुखं हतच्छायं कुरुते; भवत्योरङ्गेऽस्मिन् चण्डांशोरुच्चण्डः किरणः पतन् अस्मान् दहति; तदात्मवृत्तान्तं ब्रूतम्, आवयोर्हृदयं भवत्यौ एतामवस्थां गते दृष्ट्वा भृशं दूयते। अस्मिन् श्वापदावृतेऽरण्ये वां स्थितिं द्रष्टुं न शक्नुवः"। इति चण्डसिंहेनोक्ता राज्ञी निःश्वस्य लज्जाशोकाऽऽकुला शनैः स्वं वृत्तान्तमवर्णयत्। ततश्चण्डसिंहः निःस्वामिकां तां मत्वा, समाश्वास्य च मधुरैर्वाक्यैरनुरञ्जयन् ससुतां स्वीचकार। सपुत्रीं तां सपुत्रः अश्वयोरारोप्य वित्तपपुरीसमृद्धां निजां पुरीं निनाय। साऽपि जन्मान्तरगतेव अवशा अनाथा कृच्छ्रपतिता अङ्गीचकार, किं करोतु तपस्विनी ? ततस्तस्या राज्ञाः सूक्ष्मपादत्वात् चण्डसिंहसुतः सिंहपराक्रमः राज्ञीं चन्द्रावतीं भार्य्यां व्यधात्, तत्सुताञ्च लावण्यवतीं

'शङ्कर जी के नेत्र की अग्नि की ज्वाला से कामदेव के जल जाने से दुखी होकर मानो रति और प्रीति इस प्रकार वन में आई हो ! इस मनुष्यहीन वन में क्यों प्रवेश किये हो ? यह तुम दोनों का शरीर रत्न के महलों में निवास करने योग्य है, सुन्दर आङ्गन में विचरण करने योग्य इन दोनों पैरों को किसलिये इस कटीलो भूमि में उतार लाई हो ? यह आश्चर्य है कि हवा से उड़ी हुई और तुम दोनों के मुख पर गिरती हुई यह धूलि हम दोनों का मुख मलिन करती है। तुम दोनों के इस शरीर पर गिरती हुई सूर्य की प्रचण्ड किरणें हम दोनों को जलाती हैं। इसलिये अपना वृत्तान्त कहो, हम दोनों का हृदय तुम दोनों को इस अवस्था में पहुँची हुई देखकर अत्यन्त दुखी होता है। हिंसक जानवरों से भरे हुए इस वन में तुम दोनों का रहना हम देख नहीं सकते हैं" यह चण्डसिंह के द्वारा कही हुई रानी ने लम्बी साँस लेकर लज्जा और शोक से व्याकुल होकर धीरे-धीरे अपना वृत्तान्त वर्णन किया। तब चण्डसिंह ने उसको स्वामीहीन जानकर, धैर्य देकर मधुर वचनों से उसका अनुरंजन करते हुए पुत्री-सहित उसको स्वीकारकर लिया। पुत्री सहित उसको पुत्रसहित वह घोड़ों पर चढ़ाकर कुबेर-नगरी (अलकापुरी) के समान समृद्धिमती अपनी पुरी में ले गया। दूसरा जन्म प्राप्त किये हुए के समान अवश तथा अनाथ बनी हुई विपत्ति में पड़ी हुई उसने भी स्वीकार कर लिया, बेचारी क्या करे ! इसके बाद चण्डसिंह के पुत्र सिंहपराक्रम ने उस रानी के छोटे पैर होने से रानी चन्द्रावती को पत्नी बनाया, और उसकी पुत्री

निष्कण्टकां वशीकृत्य बुभुजे। अथ महतीं विद्याधरसमृद्धिं सम्प्राप्य चिरं तत्सुखानि सम्भुज्य भगवत्सायुज्यमन्ते ययौ।

इति वेतालपञ्चविंशतिः समाप्ताः।

बड़ी विद्याधरों की समृद्धि को प्राप्त करके बहुत दिनों तक उसके सुखों का भोग करके अन्त में उस राजा ने भगवान शंकर जी की सायुज्य मुक्ति प्राप्त की।

इति मैथिल भूसुर श्री दामोदर झा साहित्याचार्य विरचित सरला नाम की वेतालपञ्चविंशति की हिन्दी टीका समाप्त।

॥ शुभमस्तु ॥



राजकन्यां पादयोर्ह्रस्वात् चण्डसिंहो भार्य्याञ्चकार। पूर्वप्रतिज्ञातं हि सत्यं कोऽतिवर्त्तते ? । एवं पादविपर्य्यासात् तयोः पितापुत्रयोः ते दुहितामातरौ भार्य्ये तदा श्वश्रूस्नुषे जाते। कालेन च तयोः ताभ्यां पतिभ्यां द्वयोरेव पुत्रा दुहितरश्च क्रमात् जज्ञिरे"। इति कथामाख्याय स वेतालः तं नृपं पप्रच्छ,—"राजन्! अनयोर्मातादुहित्रोस्ताभ्यां पुत्रपितृभ्यां ये जन्तवो जाता, ते अन्योऽन्यं के किंसम्बन्धाश्च भवन्ति ? यदि जानन्न ब्रवीषि, तदा पूर्वोक्त एव स शापः स्मरणीयः"। इति वेतालवचः समाकर्ण्य बहु विमृशन् राजा किमपि वक्तुमशक्नुवन् तूष्णीक एव प्रययौ। ततः स वेतालः तं प्रश्नोत्तरदाने असमर्थं दृष्ट्वा हृदि हसन् समचिन्तयत्,—"अयं राजा अस्मिन् महाप्रश्ने उत्तरं दातुं न हि शक्नोति, तेन तूष्णीं व्रजत्येव; न चायं मां वञ्चयितुं शक्तः, शापस्य प्रभावात्। तत् प्रीतोऽस्मि अस्य महासत्त्वस्य सत्त्वातिरेकेण, ततश्च तं दुरात्मानं वञ्चयित्वा उपागतां तत्सिद्धिं भाविकल्याणे अस्मिन् राजनि निवेशयामि"। इत्यालोच्य स वेतालस्तं

राजकुमारी लावण्यवती को पैर बड़े होने के कारण चण्डसिंह ने पत्नी बनाया; पहले की प्रतिज्ञा किये हुए सत्य का कौन उल्लंघन करता है। इस प्रकार पैर की लम्बाई के विपरीत होने से उन दोनों पिता-पुत्र के वे दोनों पुत्री-माता पत्नी बनकर उस समय सास-पतोहू बन गयीं। कुछ दिनों में उन दोनों पुत्री-माताओं के अपने-अपने उन दोनों पतियों से बहुत से पुत्र तथा कन्याएँ उत्पन्न हुईं"। यह कथा कहकर उस वैताल ने उस राजा को पूछा—"महाराज! इन माता-पुत्रियों के पिता के स्वरूप उन पुत्र-पिताओं से जो बच्चे उत्पन्न हुए वे आपस में कौन होंगे ? दोनों का क्या सम्बन्ध होगा ? यदि जानते हुए भी नहीं कहोगे तो पहले का शाप स्मरण करना चाहिये"। यह वेताल का वचन सुनकर बहुत विचारते हुए भी कुछ भी कहने में न समर्थ होकर राजा चुपचाप चलते ही रहे। तब उस वेताल ने प्रश्न के उत्तर देने में उसको असमर्थ देखकर मन ही मन हँसकर सोचने लगा—"यह राजा इस महाप्रश्न में उत्तर नहीं दे सकता है, इसी लिये चुपचाप चल रहा है। और न तो मुझे ठगने में समर्थ है, शाप के प्रभाव से। इसलिये इस महासाहसी के साहस की अधिकता से मैं प्रसन्न हूं। इसलिये आज उस दुर्बुद्धि को ठग कर उसकी उपस्थित हुई सिद्धि को भविष्य कल्याणवाले इस राजा के ऊपर स्थापित करूँ"। यह सोचकर

नृपमवदत्,—“राजन्! कृष्णनिशाघोरेऽस्मिन् श्मशाने गतागतैः क्लिष्टस्त्वं सुखीव दृश्यसे, कोऽपि ते विकल्पो न विद्यते, तदाश्चर्य्येण धैर्य्येण च ते तुष्टोऽस्मि, त्वमिमं शवं नीत्वा इदानीं व्रज, अहमतो निर्गच्छामि, इदञ्च तव हितं यत् वदामि, तत् कुरुष्व। यदर्थं भवता एतत् नृकलेवरं नीयते, कुभिक्षुः सः अद्य अस्मिन् मामाहूय अर्च्चयिष्यति, त्वाञ्च उपहारीचिकीर्षुः ‘भूमौ साष्टाङ्गं प्रणामं कुरु’ इति वक्ष्यति। महाराज! स दुरात्मा तावत् त्वया एवं वक्तव्यः, ‘नाहं तथा प्रणामं जानामि, प्राक् त्वं दर्शय, ततोऽहं तथा करिष्यामि” इति। ततो निपत्य भूमौ यावत् स त्वां प्रणामं दर्शयिष्यति, तावत् त्वमसिना तस्य शिरः छिन्द्याः, ततो विद्याधरैश्वर्य्यसिद्धिर्या तस्य वाञ्छिता, तां त्वमेव प्राप्स्यसि, अन्यथा तु स भिक्षुस्त्वामुपहारीकृत्य स्वेष्टसिद्धिं करिष्यति। एतदर्थं तव एतावान् विलम्बः कृतो मया, तत्ते सिद्धिरस्तु, गच्छेदानीम्” इति उक्त्वा स वेतालः तस्य स्कन्धात् निर्गत्य प्रययौ।

उस बेताल ने उस राजा को कहा—“महाराज! कृष्णपक्ष की रात होने के कारण भयङ्कर इस श्मशान में गमना-गमनों से क्लेशित होने पर भी तुम प्रसन्न दिखायी पड़ते हो, कोई तुम्हारी हिचक नहीं दिखायी पड़ती है। अतः आश्चर्य से तथा तुम्हारे धैर्य से मैं सन्तुष्ट हूँ। अब तुम इस शव को लेकर जाओ, मैं इसमें से निकल जाता हूँ। और यह जो कुछ तुम्हारा हित मैं कहता हूँ, वह करो। जिसके लिये आप यह मनुष्य-शरीर ले जाते हैं, वह दुष्ट सन्यासी आज इस शव में मेरा आह्वान करके मेरी पूजा करेगा, और तुमको उपहार बनाने की इच्छा से—“भूमि पर साष्टांग प्रणाम करो” यह कहेगा। महाराज! उस दुष्ट को तुम ऐसा कहना—“मैं उस प्रकार प्रणाम करना नहीं जानता हूँ, पहले तुम दिखला दो, तब मैं वैसा करूँगा”। तब भूमि पर गिरकर जबतक वह तुमको प्रणाम दिखलावेगा, तब तक तुम तलवार से उस का शिर काट डालना। तब विद्याधरों के ऐश्वर्य की सिद्धि जो उसकी वाञ्छित है उसको तूँ ही प्राप्त कर लोगे, ऐसा नहीं करोगे तो वह संन्यासी तुमको उपहार बनाकर अपनी इष्ट-सिद्धि कर लेगा। इसीलिये मैंने तुम्हारा इतना विलम्ब किया है। अतः तुम्हारी सिद्धि होवे। अब जाओ” यह कहकर वह वेताल उसके कन्धे पर के शव में से निकल कर चला गया।

अथ स नरपतिर्वेतालवचसा तं क्षान्तिशीलं भिक्षुं तथा स्वाहिताय समुद्यान्तं विविच्य तत् नृकलेवरं गृहीत्वा प्रहृष्टः तत् वटतरुतलं प्रतस्थे ।

इसके बाद वह राजा वेताल के वचन से उस शान्तिशील संन्यासी को उस प्रकार अपना अहित करने के लिये उद्यत विचार कर उस मनुष्य-शरीर को लेकर प्रसन्न होकर उस वटवृक्ष के नीचे की ओर चला ।



अथ पञ्चविंशकथा ।

ततः स राजा त्रिविक्रमसेनः शवं स्कन्धे वहन् क्षान्तिशीलस्य श्रमणस्य पार्श्वं प्राप, ददर्श च तं मार्गावलोकिनमेकं कृष्णपक्षरात्र्यां श्मशानतरुमध्यगम्। स राजा असृग्लिप्तस्थले, गौरेण अस्थिचूर्णेन निर्मिते, विन्यस्तपूर्णशोणितकुम्भे, महातैलकृतप्रदीपे, कृतानलहोमे, सम्भृतोचितसम्भारे, कृतेष्टदैवतपूजने मण्डले समुपविष्टं तमुपागात्। भिक्षुश्च तम् आनीतमृतकं नृपं समुत्थाय प्रोवाच,—"राजन्! त्वया अन्यदुष्करो महान् अनुग्रहो मे विहितः, त्वादृशाः क? क च इयं चेष्टा? क च वा ईदृशौ देशकालौ? सत्यमेव त्वां कुलभूभुजां मुख्यमाहुः, एवमात्मानपेक्षेण येन परार्थः साध्यते। एतदेव महतां महत्त्वमुच्यते, यत् प्रतिपन्नादचलनं प्राणानामत्ययेऽपि"। इति ब्रुवन् स भिक्षुः सिद्धार्थमानी तस्य स्कन्धात् तं शवमवतारयामास। ततस्तं

पचीसवीं कथा—

तब वह राजा त्रिविक्रमसेन शव को कन्धे पर ढोता हुआ शान्तिशील संन्यासी के पास पहुँचा। और उसने रास्ता देखते हुए, कृष्ण पक्ष की रात में अकेले श्मशान के पेड़ों के बीच में स्थित उसको देखा। वह राजा शोणित से पूर्ण कलसवाले, मनुष्य की चरवी से जलाये हुए दीपवाले, किये हुए अग्नि में होमवाले, रक्खी हुई उचित सामग्रीवाले, की हुई इष्ट देवता की पूजावाले, श्वेत हड्डियों के चूर्ण से बनाये हुए मण्डल में बैठे हुए उसके पास पहुँचा। और संन्यासी ने उठकर मृतक लाये हुए उस राजा को कहा—"महाराज! तुमने मेरे लिये दूसरों से दुष्कर बहुत बड़ा अनुग्रह किया है। तुम्हारे समान मनुष्य कहाँ? और कहाँ यह कार्य? और कहाँ तो इस प्रकार का स्थान और समय? सत्य ही तुमको लोगों ने ऊँचे वंश के राजाओं में मुख्य कहा है, इस प्रकार अपने जीवन की अपेक्षा न करके जिसके द्वारा पराया कार्य सम्पादन किया जाता है। यही बड़े लोगों की महत्ता कही जाती है कि प्राणों का विनाश होने पर भी स्वीकार किये हुए कार्य से विचलित नहीं होना"। यह कहते हुए उस भिक्षु ने अपना सिद्ध प्रयोजन मानते हुए उसके कन्धे पर से उस शव को उतारा। इसके

स्नापयित्वा बद्धमाल्यं विधाय तस्य मण्डलस्य अन्तः स्थापयामास। ततः भस्मालेपितगात्रः केशयज्ञोपवीती प्रावृतप्रेतवसनः भूत्वा क्षणं ध्याननिभृतं स्थितः। अथ ध्यानबलात् तस्मिन् नृकलेवरे प्रविष्टं तं वेतालं स भिक्षुः क्रमेण पूजयामास। प्रथमं तस्मै कपालेन पात्रेण अर्घ्यं, ततः सुनिर्मलैर्नवदन्तैः पुष्पं, शोणितं सुगन्धिविलेपनं, मानुषनेत्रं धूपं, मांसानि च नैवेद्यानि दत्त्वा पूजनं यथाविधि समाप्य पार्श्वगं राजानं प्रोवाच,—"राजन्। इहास्य मन्त्राधिराजस्य कृताविर्भावस्य अष्टाभिरङ्गैः निपत्य भूतले प्रणामं कुरु, येन अभीष्टसिद्धिं तेऽयं वरप्रदो दास्यति"। श्रुत्वैतत् स्मृतवेतालवचनः स राजा तं भिक्षुमब्रवीत्,—"भगवन्! नाहं तादृशं प्रणामं वेद्मि, तत् पूर्वं भवान् प्रदर्शयतु, ततस्तथाऽहं करिष्ये" इति। ततः स भिक्षुः यावत् तथा प्रणामं दर्शयितुं भुवि पतितः, तावत् स राजा खड्गप्रहारेणास्य शिरः अच्छिनत्, आकर्षचास्य हृत्पद्मं पाटितम्; ततः तत् शिरः तच्च हृत्पद्मं वेतालाय प्रददौ। ततः समन्तात् भूतगणैः हृष्टैः साधुवादे प्रदत्ते स वेतालः

बाद उसे स्नान कराकर माला पहना कर उस मण्डल के बीच में स्थापित किया। तब भस्म से शरीर लेपित करके केशों का यज्ञोपवीत बनाकर मृत मनुष्य का वस्त्र (कफन) ओढ़ कर कुछ देर ध्यान में निश्चल भाव से बैठा रहा। इसके बाद ध्यान के बल से उस मनुष्य-शरीर में प्रवेश किये हुए उस वेताल की उस संन्यासी ने क्रमशः पूजा की। पहले उसको मनुष्य के खप्पड़ के पात्र से अर्ध्य, इसके बाद स्वच्छ नवीन दाँतों से पुष्प, शोणितरूपी सुगन्धित चन्दन, मनुष्य की आँख का धूप तथा नरमांस के नैवेद्य देकर विधानपूर्वक पूजा समाप्त करके उसने पास ही में स्थित राजा को कहा—"महाराज! यहाँ प्रकट हुए इस मन्त्राधिराज का आठो अङ्गों से भूमि पर लेट कर प्रणाम करो, जिससे यह वरदान देनेवाले तुमको अभीष्ट-सिद्धि देंगे"। यह सुनकर वेताल का वचन स्मरण रखनेवाले उस राजा ने उस भिक्षु को कहा—"महाशय! मैं उस प्रकार का प्रणाम करना नहीं जानता हूँ, इसलिये पहले आप करके दिखला दीजिये, तब वैसा ही मैं करूँगा"। तब वह भिक्षु जब तक वैसा प्रणाम दिखलाने के लिये भूमि पर लेटा था तबतक उस राजा ने खड्ग के प्रहार से इसका शिर काट डाला, और इसकी छाती फाड़कर हृदय-कमल को निकाल लिया। तब वह शिर और वह हृदय-कमल वेताल को समर्पण किया। तब चारों तरफ से प्रसन्न हुए प्रेतगणों के द्वारा प्रशंसा किये जाने पर अत्यन्त सन्तुष्ट होकर उस वेताल ने

परितुष्टस्तस्मात् नृकलेवरात् तं नृपमब्रवीत्,—"राजन्! भिक्षोरस्य यत् विद्याधरेन्द्रत्वमीप्सितमासीत्, तत्तावत् भूमिसाम्राज्यभोगान्ते ते भविष्यति"। इत्युक्तवन्तं तं वेतालं स राजा प्रत्यवादीत्,—योगीन्द्र! त्वञ्चेत् प्रसन्नः, तदा को नाम अभीष्टो वरः न सिध्येत्? तथाऽपि अमोघवचनं त्वाम् इदमभ्यर्थये, एतास्ते नानाऽऽख्यानमनोरमाः प्रश्नकथाः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिसमाप्तिगाः भूतले ख्याताः पूजनीयाश्च भवन्तु"। इति तेन राज्ञाऽर्थितो वेतालः प्रत्यभाषत,—"राजन्! एवमस्तु विशेषञ्च वच्मि, शृणु, याश्चतुर्विंशतिः पूर्वाः, या च एषा कामदायिनी, यः अस्याः कथांऽशमात्रमपि सादरः कथयिष्यति वा श्रोष्यति, स सद्यो मुक्तपापो भविष्यति; यत्रैषा कथा कीर्त्यते, तत्र यक्षराक्षसडाकिनीवेतालकुष्माण्डब्रह्मराक्षसादयो न प्रभविष्यन्ति" इत्युक्त्वा स वेतालस्तस्मात् नृकलेवरात् निर्गत्य यथारुचि योगमायया स्वं धाम प्रायात्।

ततः सर्वैर्देवगणैः सह महेश्वरः परितुष्टः तत्राऽऽविरभूत्, प्रणतञ्च तं नृपम् आदिक्षद्,—"साधु वत्स! यत् त्वयाऽयं विद्याधरमहाचक्र-

---

उस मनुष्य-शरीर से ही उस राजा को कहा—"हे महाराज! इस भिक्षु का जो विद्याधरों का राजा होना अभीष्ट था वह भूमि का साम्राज्य भोग करने के पश्चात् तुम्हें मिलेगा"। ऐसा कहनेवाले उस वेताल को उस राजा ने कहा—"हे योगीन्द्र! तुम यदि प्रसन्न हो तो कौन सा अभीष्ट वरदान नहीं सिद्ध होगा? तथापि तुझ अव्यर्थ वचनवाले से यह याचना करता हूँ कि—ये तुम्हारे अनेक उपाख्यानों से मनोहर पचीसवीं पर समाप्त होने वाली चौबीस प्रश्न-कथाएँ, पृथ्वी पर प्रसिद्ध तथा सम्मानित होवें"। यह उस राजा के द्वारा प्रार्थना किये जाने पर वेताल ने उत्तर दिया—"हे महाराज! ऐसा ही होवे, और विशेष भी कहता हूँ, सुनो, जो ये पहले की चौबीस कथाएँ और जो यह अभीष्ट पूर्ण करनेवाली कथा है इनका जो कथा का अंश मात्र भी आदर के साथ कहेगा अथवा सुनेगा वह उसी समय पापों से मुक्त हो जायगा। जहाँ यह कथा कही जायगी, वहाँ यक्ष, राक्षस, डाकिनी, वेताल, कुष्माण्ड, ब्रह्मराक्षस आदि नहीं प्रभाव डालेंगे"। यह कहकर वह वेताल उस मनुष्य-शरीर से इच्छा के अनुसार योगमाया के द्वारा अपने निवास स्थान पर चला गया।

इसके बाद सन्तुष्ट होकर सभी देव गणों के साथ शंकर जी वहाँ प्रकट हुए। और उन्होंने प्रणाम किये हुए उस राजा को आदेश दिया—"हे